चिर-कथा के मोड़

राम देव

विद्या मन्दिर, होशियारपुर

प्रकाशक
सतवन्त राय
अध्यक्ष 'विद्या मन्दिर'
होशियारपुर ।

प्रथम संस्करण
मूल्य दस रुपये

मुद्रक
देवदत्त शास्त्री, विद्या भास्कर
वी० वी० आर० आई० प्रैस,
साधु आश्रम, होशियारपुर ।

ॐ

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

चिर-कथा के मोड़

उन नन्हें क्षणों को, जो अपनी परिधि में
युगों को समेट लेते हैं।

'शामदेव'

लेखक उन सभी कवियों, दार्शनिकों तथा कलाकारों के प्रति नतमस्तक है, जिनकी अनुपम साधनाओं द्वारा विकसित सत्य और परिष्कृत सौन्दर्य का पुनीत स्पर्श पाकर यह रचना अधिक सजग, सशक्त और मंगलमय बन सकी है—

गूँजती घाटियां, दहकते रेगिस्तान

★सन्ध्या

तुमने कहा था, "तुम तो अजन्ता के चित्र सी हो जो अपनी बात अनकहे आत्मा की गहराइयों तक पहुंचा दे, मन में प्रेम और शान्ति के स्रोत बहा दे।" मैंने सुना था कि कलाकार के मन को छूते ही स्वार्थ, त्याग में परिवर्तित हो जाता है, क्रूरता, करुणा में बदल जाती है। मंत्रों के द्रष्टा ऋषि, अजन्ता के चित्रों की रेखाओं और रंगों में अपने दिलों की धड़कनें समो देने वाले चीवरधारी भिक्षु भी तो कलाकार थे। मैं तुम्हें उन्हीं में से एक समझी थी। मैंने चाहा था कि मेरी कहानी सुनकर तुम ऐसा चित्र आंको कि अजन्ता की यशोधरा भी आश्चर्य चकित् सी रह जाए। इसी लोभ में मैंने अपना दिल तुम्हारे सामने उंडेल दिया कि इसी में लेखनी डुबोते रहो, रचते रहो ; रच रच कर स्वार्थ, हिंसा, घृणा और द्वेष की मैल मानव मन से छुड़ाते रहो। तुम कैसे कलाकार निकले ! पूछने का दुस्साहस कर रही हूँ, "आखिर किस नेकी का बदला तुमने मुझे दिया है ? कलाकार क्या इतने कठोर होते हैं ?"

★नीरज

मानव मूल्यों में अत्यन्त द्रुतगति से विघटन हो रहा है। कूटनीति और दम्भ ने, सत्ता और लोलुपता ने अपने तुमुल नाद से मानव आदर्शों की सुमधुर ध्वनि को आच्छादित कर लिया है। मैंने अपना दिल तुम्हारे सामने इसलिए चीर कर रख दिया था कि लेखक के नाते तुम जान सको कि सत्यवादी और कर्मनिष्ठ लोगों से भी इन आदर्शों की विरासत कैसे छिन रही है ? लेखक के कर्तव्य को समझते हुए तुम इन आदर्शों की महानता जन मानस तक पहुंचा दो ताकि इन्हें लूटने वाली शक्तियां, जन

मानस की आस्था के अजेय तेवर देखकर अपने घृणित और जघन्य इरादों को परे फेंक दें। यह तुमने क्या किया ? प्रगति के लिए मानव मन में प्रेरणा फूंकने वाले आदर्शों को ही लोगों की नज़रों में गिरा कर रख दिया ? जी चाहता है कि तुम्हें इस गुरुतर अपराध का कठोर से कठोर दण्ड मिले। परन्तु मुझे अपने आदर्श प्रिय हैं अत: इन दहकते रेगिस्तानों में भटकती क्षमा के अतिरिक्त तुम्हें देने के लिए मेरे पास कुछ भी शेष नहीं है।

★नरेन्द्र

दुनिया में हमेशा रहने वाली सच्चाई कोई नहीं है। जो ऐसा कहते या समझते हैं वे या तो बेवकूफ़ हैं या ढोंगी। हर सिस्टम अपने हितों को महफूज़ रखने के लिए अपनी खास टकसाल में घड़ी सच्चाइयां सारे समाज पर लाद देता है। कुचले और सताए लोग उठते हैं, पुरानी सच्चाइयों की जगह नई सच्चाइयां चालू करते हैं और आवाम पुराने को भूल नए को अपना लेते हैं। जो आदमी हक़ीक़त-पसन्द नहीं हैं वे ऐसी कोरी बातों को सुनकर बिदकते हैं। लेकिन तुम तो तरक्की-पसन्द लेखक होने का दम भरते थे ? मुझे खबर होती कि तुम्हारी तरक्की-पसन्दी की भी हदें हैं तो तुम्हारे सामने अपने दिल के भेद कभी न खोलता। मुझे क्या मालूम था कि तुम मेरी ज़िन्दगी की तलख़ हक़ीक़तों से कुछ सीखने की बजाए, उन्हें ही अपनी घिसी-पिटी कसौटियों पर परखना शुरू कर दोगे ? दोस्त ! मेरी ज़िन्दगी को नापने के लिए तुम्हारे प्रमाप छोटे पड़ेंगे। अगर इस ज़िन्दगी को नापने का शौक था तो नए पैमाने लेकर आते। खैर ! तुम भी क्या याद करोगे, जाओ, दोस्त समझ कर माफ़ किया। इन्किलाबियों की कहानियां लिखनी हैं तो दिल को और मज़बूत करो, निगाह को और वसीह करो।

★रेणुका

तुमने बातों ही बातों में उस दिन शरत् बाबू की बात को दोहराया था, "तुम्हारे कलङ्क की बात पर अविश्वास करके संसार में ठगा जाना भला

है, किन्तु विश्वास करके पाप का भागी होना अच्छा नहीं।" मैं अपने पापों और कष्टों का बोझ ढोते-ढोते हार चली थी। स्वार्थिन ने सोचा इस असह्य बोझ को आपस में बांट लेने का इससे अच्छा सुअवसर फिर कब मिलेगा ? जानती हूँ मैंने तुम्हें कष्ट और पीड़ाओं के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिया है लेकिन यह तुमने क्या किया ? यह भी भूली नहीं हूँ कि तुमने लोगों में कल्याण-कामना से ही बांटा होगा परन्तु यह तो सोचा होता कि लोग तुम्हारी तरह हिसाब-किताब में अपटु नहीं हैं। मैंने जो कुछ तुम्हें सहेज कर रखने के लिए दिया था, उसे ही तुम लुटाते रहे। लोगों को ठगा जाना पसन्द नहीं अतः जानती हूँ कि मेरी कलङ्क-गाथा पर अविश्वास करने की मूर्खता वे कभी नहीं करेंगे। तुम पर क्रोध करने को मन होता है परन्तु वह भी न जाने कहां जा छिपा है ? तुमने शरत् बाबू की एक और बात कही थी, वही मन की घाटियों में गूंज गूंज जाती है, "न जाने तुम कैसी हो ? कटु व्यवहार और अत्याचार के बदले में भी तुम्हें स्नेह और प्रेम लौटाना ही आता है।"

★मैं यानि लेखक

तुम सबने मेरे प्रति असीम स्नेह, अटूट अपनत्व, अडिग विश्वास और अथाह श्रद्धा के कारण मुझे बहुत गलत समझा। न तो मैं मन्त्रों का द्रष्टा हूँ और न ही अजन्ता के अमर चित्रों का चितेरा। तुम जिस प्रगति की ओर संकेत करते रहे उसने भी मुझे अजीब भूल-भुलैया में उलझा दिया अतः प्रगतिशील लेखक उस रूप में न बन सका जो तुम्हें प्रिय था, अभिप्सित था। आदर्शों को सहेज लेने की सामर्थ्य भी मेरी फटी झोली में नहीं थी। न तो लेखकों जैसा विशाल हृदय मेरे पास था और न असीम दृष्टिकोण अतः मैं तुम में से किसी को भी सन्तुष्ट न कर सका। जहां तक मुझे याद है मैंने तुमसे सिर्फ यह वायदा किया था कि मैं तुम्हारी कहानी को अपनी कहानी बना कर लोगों को सुनाऊंगा परन्तु विधि की ऐसी विडम्बना रही कि वह वायदा भी पूरा न हो सका क्योंकि मेरी अपनी

कहानी ही इन गूंजती घाटियों और दहकते रेगिस्तानों में भटक-भटक कर रह गई !

शान्ति की खोज में निकले मानव के हाथों में दहकते गोले देख मुझे यूं लगा कि मुसकाते चांद का मन भय से कांप गया है। चांद के समीप जा कर मनु पुत्र ने कहा था, "हम तुम्हारे वीरानों को अपनी मुस्कानों से, नन्हे शिशुओं की किलकारियों से, प्रेम पगे बोलों से आबाद करने आए हैं।" चांद खुश हुआ था। आज सहमी सी आवाज़ में पूछता है कि जब इन मैगाटन ऐटम और हाइड्रोजन बमों के विस्फोट से बर्फ में आग लग जाएगी, सागरों में ज़हर घुल जाएगा, बादलों से बीमारियां बरसा करेंगी और समीर शरीर को झुलसा करेगी तो नन्हे बच्चे कहां हंस सकेंगे ? गोरियों और सांवलियों के गीत मेरे वीरानों को और भयावना नहीं बना देंगे क्या ? तुम्हें तो गड़े मुर्दे उखाड़ने से ही फुरसत नहीं है, मेरी वीरानियों को आबाद करने की फुरसत तुम्हारे पास कहां होगी ? चांद की यह सहमी सी आवाज़ मेरे मन में गहरी उतरती चली गई है और मुझे अनुभव हुआ है कि तुम्हारी कहानी को भी शायद इसी आवाज़ ने निगल लिया है।

तुम जैसे भी हो, आदर्शवादी दार्शनिकों, यथार्थवादी वैज्ञानिकों, कुशल राजनीतिज्ञों और तत्ववेत्ता कलाविदों से कहीं महान हो। न तुम्हारे हंसने में दम्भ है न रोने में कृत्रिमता। तुम्हीं हो जो अपने पापों और त्रुटियों सहित, गुणों और अवगुणों सहित, पीड़ाओं और व्यथाओं सहित, मुस्कानों और आंसुओं सहित, असामाजिक और कुत्सित मनोभावनाओं सहित, पारस की तरह खरे हो, गंगाजल की तरह पवित्र हो, चांद की तरह उज्वल हो, हिमालय की तरह महान हो, क्यों न तुम्हारी कहानी को बग़ैर रंगारंग के आवरणों में लपेटे और बग़ैर नोक पलक संवारे कह दिया जाए ताकि मरीचिकाओं में भटकते मानव के लिए आदर्श अप्राप्य न रहें, यथार्थ का मलिन रूप निखर आए, गोरियों और सांवलियों के आंसू थम

जाएं, चांद फिर मुसकरा उठे, मानव यात्रा की मंज़िलें कुछ निकट सरक आएं।

जिन स्वजनों, मित्रों, परिचितों और कलापारखियों ने तुम्हारी कहानी को सुना है, न हंस सके हैं, न रो सके हैं। बस पथराई आंखों से टकटकी बांधे मेरी ओर देखते रहे हैं, यह सोच कर उठे हैं कि इस कथा को सुन कर मन को क्यों तड़पाया जाए? फिर वे मन्त्रमुग्ध-से शेष कथा सुनने चले आए हैं क्योंकि तुम्हारे चेहरों में उन्हें अपने चेहरे दिखाई दिए हैं, तुम्हारी घाटियों की गूंजें उनकी घाटियों की गूंजें बन गई हैं, तुम्हारे दिलों में दहकते रेगिस्तान उनके दिलों से जा मिले हैं।

मुझे तुम्हारी कहानी कहने का सुअवसर मिला, परन्तु तुम्हें आदर्शों से सजा कर, विशेष दर्शनों और दृष्टिकोणों से तुम्हारी नोक पलक संवार कर लेखक का पुनीत कर्तव्य न निबाह सका। यदि फिर भी मुझे दहकते रेगिस्तानों में भटकती क्षमा मिली है तो मुझ अकिंचन के अहोभाग्य! इन घाटियों की गूंजों और दहकती भटकती क्षमा ने ही मेरी खाली झोली को भर दिया है, थकन को हर लिया है, मुझे नया विश्वास प्रदान किया है, इससे अधिक मैंने चाहा ही कब है!

होश्यारपुर। रामदेव

१७—११—६१

आज की धरती; कल के साथे

★ सन्ध्या

बहुत बार ऐसा होता है कि हम अपने तीव्र गति से भागते जीवन में नाना लक्ष्यों की खोज में भागते हुए, बहुत-से व्यक्तियों को देखते हैं, बहुत-से स्थानों पर पहुँचते हैं, विभिन्न प्रकार के दृश्यों को निहारते हैं परन्तु देखते हुए भी देख नहीं पाते, पहुँच कर भी पहुँच नहीं पाते। ऐसा प्रतीत होता है कि समुद्र किनारे की बालुका पर बैठ कर हमने जो आड़ी तिरछी रेखाएं खेंच दी थीं, उन्हें समुद्र के हृदय से उठ कर किनारे तक आई लहर, थपकी देने के बहाने मिटा गई हो और फिर बग़ैर पदच [illegible]

फिर अचानक कोई ऐसी घटना घटती है, और घटती है अनचाहे, अनबूझे ही कि हम उन्हीं रेखाओं को खोज लेना चाहते हैं जो उस दिन वैसे ही बैठे-बैठे हमने बालुका पर खेंच दी थीं। वही रेखाएं मानों जीवन का लक्ष्य बन गई हों, उन्हीं में जीवन सिमट आया हो। रेखाएं भले ही न मिलें परन्तु हम देख पाते हैं कि यह दृश्य यहीं तो था परन्तु देखकर भी कहां देखा था! अमुक व्यक्ति मिला तो था परन्तु मिल कर भी कहां मिला था! बालुका तट पर जिन रेखाओं को हमने खेंच दिया था मानों वे मिट कर भी न मिटी हों। अगर मिट भी जाती हैं तो ऐसा कुछ दे जाती हैं कि वह कभी नहीं मिटता, फैलता जाता है और अपने फैलाव में उस सबको समेट लेता है जिसे हम निष्प्रयोजन निरर्थक समझ कर छोड़ आए थे। फिर निरर्थक सार्थक बनने लगता है, निष्प्रयोजन ही महत्त्वपूर्ण हो उठता है।

ये अद्भुत घटनाएँ क्यों घटती हैं? न जाने घटनाएँ तो वही होती हैं परन्तु हमें देख कर, हमें छू कर अद्भुत हो उठती हैं या फिर हम ऐसे हो जाते हैं कि घटनाएँ हमें अद्भुत दिखाई देने लगती हैं! ये सब बातें तो मनोविज्ञान के पण्डितों के सोचने की हैं, मैं तो केवल इतना जानती हूँ कि मेरे जीवन में शायद ऐसी घटना घट गई है। तभी शायद मैं समुद्र तट पर खेंची रेखाओं को खोजने निकल पड़ी हूँ, वे नहीं मिल पातीं परन्तु उनके माध्यम से जो कुछ मिल रहा है, वह भी प्रतीत होता है कि न जाने क्यों अब तक समेट नहीं पाई, इसे तो बहुत पहले समेट लेना चाहिये था। यह सब क्या छोड़ने की वस्तु थी? लोग शायद इसे व्यर्थ का भार समझें परन्तु मुझे तो यही प्रिय है और जो प्रिय है उसे छोड़ना, उसका मोह त्यागना कहां सम्भव है?

सोचा था कि कर्तव्य करने में ही जीवन है। कर्तव्य यानि परिस्थितियों, संस्कारों तथा समाज में रहते हुए सम्पर्क में आने वाले व्यक्तित्वों द्वारा छोड़ गए प्रभावों से प्रेरित होकर, उनकी सुझाई राह पर बढ़ते जाना। अब इस अद्भुत घटना ने मुझे अजीब उलझन में डाल दिया है! पता नहीं ऐसा क्यों होता है, परन्तु होता है अवश्य कि हम अपने पूर्वजों, बड़े बूढ़ों और समाज के अग्रगण्य लोगों की सुझाई राह पर बढ़ते रहते हैं। अचानक एक जगह पर पहुँच कर पता चलता है कि हम उस राह से हटकर एक नई पगडण्डी बनाते हुए आगे निकल आये हैं। उस राह में से ही पगडंडियां निकलती चली जाती हैं और फिर अचानक समाज के कर्णधार अनुभव करते हैं कि एक पगडण्डी ही जन-मार्ग बन गई है। लोग उसी पर दौड़े चले जा रहे हैं, उन्हें रोका नहीं जा सकता अतः उन्हें उस पगडण्डी को ही असली राह स्वीकार कर लेने में कल्याण दिखाई देता है। पगडण्डी जन-पथ बन जाती है, पहली राह पर किसी की दृष्टि नहीं जाती, उसके

चिह्न तक मिट जाते हैं क्योंकि लोगों के कदम उस पर चलने से रुक जाते हैं। यदि इन पगडण्डियों के बनने का क्रम न रहे तो शायद यात्रा में जो एक अवर्णनीय अनिर्वचनीय आनन्द है, वह न रहे, जीवन बहता हुआ भी ठहर जाए, लोग चलते हुए भी रुक जाएं, गीतों के बोल ठहर जाएं, झरनों के संगीत थम जाएं। जो पगडण्डी अचानक बन गई थी मानों उसी में सार्थकता थी, न बनती तो शायद हम नहीं बन पाते।

मेरे दादा ने, मेरे पिता जी को किसी कॉलिज का प्रोफैसर बनाना चाहा था क्योंकि वे स्वयं प्राध्यापक थे, परन्तु मेरे पिता वकील बन गए और फिर दादा ने उन्हें वकील के रूप में स्वीकार कर लिया। मुझे माता-पिता ने जो कुछ बनाना चाहा, वह न बन कर मैं डॉक्टर बन गई हूँ। डॉक्टर का कर्त्तव्य क्या है, डॉक्टर समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, ये बातें तो बहुत देर बाद मेरी समझ में आई हैं। अनुभवों ने उन्हें और अधिक स्पष्ट किया है परन्तु जब मैंने डॉक्टर बनना शुरु किया तब यह सब कुछ ऐसा स्पष्ट नहीं था। आज तक जिसे स्पष्ट समझा है; वही अब पुनः धुंधला-सा रहा है, इसी धुंधलाहट में से कुछ और स्पष्ट सा हो रहा है।

मेरी सखी सुनयना भी डॉक्टर बनना चाहती थी, परन्तु बी.एस.सी. पास करते ही उसके माता-पिता ने उसका विवाह रचा दिया। उसके पति बी. एस. सी. तक की पढ़ाई को भी बहुत बड़ी लानत समझते थे अतः वह पढ़ न सकी। मैं समझती थी कि मुझे वह भूल गई परन्तु बात ऐसी नहीं थी। वह लज्जित थी कि वह मेरी तरह नई पगडण्डी पर नहीं निकल सकी। व्यक्ति जिस पथ पर चलना चाहता है क्यों नहीं चल पाता?

पिछले इतवार सिनेमा हाउस में अचानक स्नेहप्रभा मिल गई। स्नेहप्रभा, सुनयना और मैं तीनों बी. एस. सी. में सबसे अधिक

योग्य लड़कियां गिनी जाती थीं। तीनों में अटूट मित्रता थी। सुनयना की बातें चल निकलीं। स्नेहप्रभा लम्बी सांस छोड़ती हुई बोली—"सन्ध्या! अब बातों के सिवाय रह भी क्या गया है! छोड़ो इन बातों को।" मैंने कहा—"सुनयना कहां रहती है आजकल? पता चला था कि उसके हस्बेंड व्यापार के सिलसिले में इलाहाबाद चले गए थे।" स्नेहप्रभा कुछ देर चुप रही, फिर बोली—'सन्ध्या! अपनी सुनयना थी न! जिसने 'सिमटते अंधेरे' नाटक में अपने साथ लेडी डॉक्टर का रोल किया था, जिसके बारे में कॉलिज भर के लड़के कहानियां घड़ा करते थे और प्रोफेसर धीरन कहा करते थे कि इस लड़की के मुँह से जब देखो फुलझड़ियां छूटती रहती हैं, थी नहीं क्या अपनी सुनयना! थी न! वह अब नहीं रही। पिछले साल टी०बी० से घुल घुलकर सैनीटोरियम में मर गई।"

मेरे मुँह से अचानक निकल पड़ा—"मर गई?" स्नेहप्रभा बोली, "उसने हर पत्र में तुम्हें बहुत याद किया है सन्ध्या! एक पत्र में उसने लिखा था—'सिमटते अंधेरे' की नकली डॉक्टर, असली डॉक्टर सन्ध्या को कैसे पत्र लिखे? मुझे हर पल, हर लमहे सन्ध्या की याद आती है लेकिन जब भी खत लिखने बैठती हूँ तो लिखा नहीं जाता। हाथ रुक जाते हैं।" मुझे सुनयना से शिकायत थी कि वह मुझे पत्र क्यों नहीं लिखती? अब अपने से शिकायत है कि मैंने उसे पत्र क्यों नहीं लिखा? मेरा रूठना ठीक था क्या? कहां ढूँढ़ूँ सुनयना को? मन में आता है एक बार, भले ही कुछ पलों के लिए सुनयना जी उठे तो उसे अपना जी खोल कर दिखाऊं, कहूँ—"देख सुनयना! मैंने तुझे कितने बड़े बड़े पत्र लिखे हैं", लेकिन सुनयना आएगी कहां से?

स्नेहप्रभा बोली—"बहुत दिनों से चाहती थी कि तुमसे मिलूँ लेकिन घर के काम-काज से फुरसत ही नहीं मिलती। बड़ा मुन्ना

बीमार रहता है। उसे और मुन्नी को आया को सौंप बड़ी मुश्किल से घर से आज निकल सकी हूँ। अपने वो भी साथ आ रहे थे लेकिन दफ्तरी कामों का तुम तो जानती ही हो। आज ही बाहर जाना पड़ा। घर पर कभी आना तो तुम्हें अपने उनसे मिलवाऊंगी। बड़े योग्य आदमी हैं। ये जिस दिन आफिस में न हों उस दिन दफ्तर भर का काम रुक जाता है। बड़े साहिब एक दिन घर आए थे। लंच पर बुलाया था। कहने लगे—"दिनेश बाबू आप सचमुच जीनियस हैं। इतनी कम उम्र में इतने तजुर्बाकार लोग मैंने बहुत कम देखे हैं। हमारी उम्र तक पहुँचते-पहुँचते तो आप जनरल मैनेजर बन जाएँगे।" साहिब इनसे पूछे बग़ैर एक कदम भी नहीं चलते। एक दो बार उनके घर इवनिंग टी पर गई हूँ। कहते हैं—"असली मैनेजर तो दिनेश बाबू हैं। हम तो दिखावे के मैनेजर हैं।"

मुझे आज भी याद है। कालिज में उस दिन डिबेट थी। स्नेहप्रभा ने भी हिस्सा लिया था। सब्जेक्ट था "छात्र राजनीति में भाग लें या नहीं?" स्नेहप्रभा उस दिन की डिबेट में फर्स्ट आई थी। प्रिंसिपल ने कहा था कि मिस स्नेहप्रभा ने मेन प्वाइन्ट से हट कर एक भी व्यर्थ वाक्य नहीं बोला है। छात्रों को समझना चाहिए कि उनकी सोच स्पष्ट हो तभी उनके शब्द प्रभावशाली बन सकते हैं।

मैं सोचने लगी मिस स्नेहप्रभा और मिसेज दिनेश में कितना अन्तर है? मिसेज दिनेश में मिस स्नेहप्रभा कहीं भी तो दिखाई नहीं देती! क्या यह स्नेहप्रभा का अपना दोष है अथवा और किसी का? और फिर इसे स्नेहप्रभा दोष समझती ही कहां है? मेन प्वाइन्ट से हट कर बात करने में उसे रत्ती भर भी तो कोशिश नहीं करनी पड़ती।

मैंने कहा—"स्नेह! मैं अवश्य तुम्हारे घर पर आऊँगी लेकिन एक शर्त पर।" स्नेहप्रभा बोली—"सन्ध्या! अब तुम विवाह करवा ही

डालो। तुम में तो सब, वही कालिज की छोकरियों वाली आदतें बनी हुई हैं। अच्छा भई, बताओ क्या शर्त है?"

मैंने कहा—"सुनयना ने जितने भी पत्र तुम्हें लिखे हैं, वे सब मुझे देना। शायद उन्हें पढ़कर ही सुनयना मिल सके!"

स्नेहप्रभा को पुनः सुनयना की बात के टूटे सूत्र का ख्याल हो आया। बोली—"सन्ध्या! सचमुच सुनयना की मुझे बहुत याद आती है। बेचारी को उसके इमोशनलिज़्म ने ही घुन की तरह खा डाला। न जाने क्यों उसने ज़िन्दगी में अन्धेरे को देखना ही सीख लिया था। एक पत्र में लिखा था, "स्नेह! स्टेज पर मैंने कितनी सफलता से अन्धेरे को सिमटते दिखाया था परन्तु हकीकत की बात और है पगली! अन्धेरे सिमट कहां रहे हैं? और फैलते जा रहे हैं, और अधिक गहरे होते जा रहे हैं। देखो, मेरे यथार्थ की हंसी उड़ाते हुए मुझे निराशावादी न कह बैठना! मैं निराशावादी नहीं हूँ परन्तु स्टेज के और जीवन के नाटक में जो अन्तर है उसकी ओर से कैसे आंखें बन्द कर लूँ?"

मैंने पूछा, "तुमने क्या उत्तर दिया था?"

स्नेहप्रभा ने कहा, "मुझे सुनयना के पत्र पढ़ कर यूँ लगता मानो सुनयना की बात मेरी समझ में नहीं आ रही है। वह जहां खड़ी है वहीं से सामने देखने की बजाय उसकी नज़र कहीं बहुत दूर जा अटकी है। तभी उसके मन में घुटन है, निराशा है। मैंने लिखा था, "बेहतर यही है कि हम, परिस्थितियों के अनुसार अपने-आपको एडजस्ट करना सीख लें तभी ज़िन्दगी जीने लायक बन सकती है।"

"उसने क्या लिखा था?" मैंने पूछा। फिर कुछ सोच कर कहा, "अच्छा, छोड़ो। अब तो तुम्हारे घर आ ही रही हूँ। सब पत्र देख डालूंगी।"

स्नेहप्रभा बोली, "सन्ध्या ! अन्तिम पत्र में सुनयना ने तुम्हें बहुत याद किया था। लिखा था—स्नेह ! सन्ध्या से कहना कि वह मुझे हरदम बहुत याद आती है। मैं अपनी बात कहकर उसे दुखी करना नहीं चाहती। तुम्हें भी इसलिए लिख देती हूँ क्योंकि तुमने अपने-आपको एडजस्ट करना सीख लिया है। परन्तु सन्ध्या शायद जीवन भर एडजस्ट करने की विद्या नहीं सीख पाएगी। देखो, स्नेह ! मेरा मन कहता है कि अब मैं बचूंगी नहीं परन्तु इसका मुझे रत्ती भर भी दुःख नहीं है। मैं तो उसी दिन मर गई थी जब बी० एस० सी० के बाद मेरी पढ़ाई रुक गई थी। मेरे पति ने मेरी पढ़ाई पर लानत भेजी थी। मैं तो स्टेज पर ही डॉक्टर बन कर रह गई। सन्ध्या से कहना कि यदि मर कर भी व्यक्ति अपनी स्मृतियां संजो सकता है तो सुनयना मर कर भी सन्ध्या को नहीं भूलेगी। व्यक्ति अपनी मंज़िल को कैसे भूल सकता है ?"

इन्टरवल के बाद मैं अपनी सीट पर बैठी पिक्चर देखती रही परन्तु देखती रही मानो खाली चित्रपट ही। सुनयना ही आंखों के आगे घूमती रही। काश ! मैं जान पाती कि वह बीमार है, एक बार अपनी डॉक्टरी को सार्थक तो कर लेती ! कुछ लोग होते हैं टूट कर गिर भले ही जाएं झुक नहीं पाते। सुनयना भी शायद टूट कर गिर पड़ी है। लेकिन व्यक्ति टूट कर भी बना कैसे रहता है ? वापिस घर लौटते समय सोचती रही, एक मर कर भी मिल गई है, और दूसरी जी कर भी कहीं दूर, बहुत दूर खो गई है। जी बहुत चाहता था कि स्नेह से बचपन की बातें करूँ लेकिन स्नेह तो मिली ही नहीं। मिसेज दिनेश के सामने अपना मन कैसे खोलती ? और मन खोलने पर भी क्या वह मेरी मनःस्थिति को समझ पाती ? विवाह करने की सलाह दे रही थी। यानि मैं भी उसी की तरह एडजस्ट हो जाऊं। आज तक जो

रही हूं, वह न रहूं। कुछ और बन जाऊं जो किसी को पसन्द आए। भले ही उस पसन्द के लिए आज तक की मुझे मिटना पड़े।

स्नेहप्रभा से बातें करके एक सोच बनी थी परन्तु जो सोच आज तक नहीं बदली, वह एक ही घटना से क्यों बदल गई है? कल तक जो कुछ सोचती रही हूं, वह मानो अधूरा था। अब उस अधूरे के साथ और कुछ जुड़ रहा है। ड्यूटी पर आने से पहले पिता जी ने अपने अनुभवों के आधार पर एक बात कही थी, "सन्ध्या बेटा, मैं चाहता था तुम कहीं भी नौकरी न करो, मैंने तुम्हारे लिए इतना इकट्ठा कर दिया है कि जीवन भर के लिए पर्याप्त है। तुम्हें नौकरी करना शोभा नहीं देता।" मेरे ज़िद करने पर बोले, "तुमने आज तक मेरी नहीं सुनी तो आज ही क्यों सुनोगी? ड्यूटी पर जाने से पहले एक बात कान खोल कर सुन लो। दुनिया उतनी सीधी, उतनी सिम्पल नहीं है जैसी किताबों में दिखाई देती है, बहुत कम्प्लीकेटिड है। मैंने वकील की आंखों से दुनिया को जांचा है। ज़रा फूँक-फूँक कर क़दम रखना। लेडी डॉक्टर का काम बहुत बड़ी रिस्पॉन्सिबिलिटी का काम है। ज़माने में मौरेल वैल्यूज़ बड़ी तेज़ी से गिर रही हैं। जज़बात में बह कर कोई ग़लत काम मत कर बैठना। मेरा मतलब तो तुम समझ ही गई होगी।"

पिता जी ने मेरे कल्याण के लिए ही मुझे नसीहत दी थी। मैंने हमेशा ही उसे याद रखा है। सैंकड़ों लोग इस ख्याल से आए हैं कि मैं अपनी योग्यता से उनके कुकर्मों को ढंकने का प्रयत्न करूं। लखपति सेठों के बिगड़े लड़कों ने अपने पाप को छिपाने की बहुत बड़ी क़ीमत देनी चाही है लेकिन पिता जी की नसीहत ने मुझे हमेशा गिरने से बचाया है।

उस दिन भी तो मुझे नसीहत याद थी। फिर यह मुझे क्या हो गया? मैं क्यों उस लड़की की जान बचा आई? सिर्फ उन्होंने एक

बार ही तो कहा था, "डॉक्टर ! हमें इस लड़की की जान अवश्य बचानी चाहिये।" व्यक्ति की आवाज़ में ऐसा क्या होता है जिसे हम टाल नहीं पाते। टालना तो एक ओर, हम उसकी कही बात मान कर कृतकृत्य हो जाना चाहते हैं।

मैंने ऐसा आदमी आज तक नहीं देखा, जो दूसरे का पाप अपने सिर पर बग़ैर किसी हिचकिचाहट के ओट ले। मेरे पूछने पर उन्होंने कहा, "अगर आपने अपनी रिपोर्ट पूरी करनी ही है तो यही समझ लीजिए कि इस लड़की के अच्छे-बुरे सम्बन्ध मुझसे रहे हैं।" मैंने उन की आंखों की ओर देखा तो वहां दया के अनन्त समुद्र के सिवा कुछ भी नहीं था। मुझे लगा मानो मैं इनसे यह बात पूछ कर बहुत छोटी हो गई हूँ। यूँ लगा जैसे पिता जी की नसीहतों से भी परे कुछ है, उसे समझना भले ही सम्भव न हो परन्तु उसके प्रभाव से व्यक्ति प्रभावित हुए बग़ैर रह नहीं सकता।

मुझमें उनकी बात टालने की सामर्थ्य ही नहीं रही। मैंने उस लड़की की प्राण रक्षा की है। लड़की बहुत लज्जित है कि उसने इन्हें धोखे में रखा है। उसके पाप से यह कलंकित हुए हैं। उससे मैंने सब कुछ पूछ डाला है। दोषी तो उसके जीवन से खेल, उसे मंझधार में छोड़ कर भाग गया। यह तो डूबने वाली लड़की का आर्त्तनाद सुनकर उसे मंझधार से खींच लाए हैं। मैंने अपने जीवन में ऐसा सनकी आदमी नहीं देखा। कहने लगे, "अब मैं चिन्ता-मुक्त हुआ हूँ।" चिन्ता इन्हें इस बात की थी कि कहीं लड़की का जीवन समाप्त न हो जाए। लड़की के जीवन को बचा कर इनके माथे पर जो कलंक का टीका लगेगा, समाज में कहीं मुंह दिखाने योग्य नहीं रहेंगे, इसकी इन्हें रत्ती भर भी चिन्ता नहीं।

उसी शाम दवाई लेने आए थे। मैं घर चली आई थी। घर खोजते-खोजते इधर निकल आए। न बैठने का सलीका न बात करने का। बैठते ही यूँ बातें करने लगे जैसे मैं इनकी न जाने कब से परिचित हूँ ? न जाने इनमें क्या है जो व्यक्ति को आकर्षित करता है। और कोई होता तो शायद मैं ऐसा असभ्य व्यवहार कभी भी सहन न कर सकती। कुछ ही मिनटों में मुझे यूँ लगा मानों इनमें कुछ भी ऐसा नहीं है जिसे छिपाने का इन्हें प्रयत्न करना पड़े। साथ ही इन्हें यह भी खबर नहीं रहती कि इनकी बात का दूसरे पर क्या असर होगा ? इन्हें तो कुछ भी पूछते ही खटाखट उत्तर देना आता है। इसकी चिन्ता करने की फ़ुरसत इनके पास नहीं कि सुनने वाले को इनकी बात अच्छी लगेगी या बुरी ?

मेरे चाय पीने का समय था। शिष्टाचार वश पूछना आवश्यक था। वही मैंने किया तो बोले, "क्यों नाहक तकल्लुफ कर रही हैं। आप जैसे लोगों के साथ बैठकर चाय पीना मैंने कहां सीखा है ? हां ! आप चाय पीजिये और मैं आपके पास बैठकर यह सीखने की कोशिश करूँगा कि चाय पीने का सलीका क्या है ?" जी में आया, कहूँ, "आप तशरीफ ले जाइये, चाय पीने का सलीका तो एक ओर आपको तो अभी तक बात करने की तमीज़ भी नहीं है।" जो बात मैं कहना चाहती थी ठीक वही बात इनके मुँह से फूट पड़ी, "चाय पीने के सलीके से पहले शायद मुझे बात करने का तरीका भी सीखना पड़ेगा। लेकिन फिर यह सोच कर सीखने का इरादा तर्क कर देता हूँ कि सिखावट के साथ अगर मिलावट भी आ गई तो वह हानि मैं सहन नहीं कर सकूँगा।" मैं एक मिनट पहले की अपनी सोच पर कुछ झेंप-सी गई।

बात का रुख बदलने के लिए मैंने पूछा—"कहिये, लड़की की तबीयत कैसी है ?"

झट से बोल उठे, 'रेणुका की ! अरे भई, अब मरेगी नहीं। सोच रहा था कि शायद अभाग्यशालिनी है तभी मुझ जैसे दरिद्र के घर जान बचाने के लिए आ फंसी है। अब सोचता हूँ कि आपके हाथ जिसे लग जाएं वह, बदकिस्मत कैसे रह सकता है ?"

मैंने कहा—"शायद आप मेरी झूठी तारीफ कर रहे हैं ?" कहने लगे—"झूठी प्रशंसा करने की मेरी आदत नहीं। जब आप में कोई बुराई देखूंगा तो वह भी इसी प्रकार निस्संकोच रूपेण कह डालूंगा।"

मैंने साहस जुटाते हुए पूछा—"आपको कलंक से भय नहीं लगता ?" उन्हें शायद ऐसे प्रश्न की आशा नहीं थी। कुछ देर सोचते रहे फिर अचानक अत्यन्त गम्भीर आवाज़ में बोले—"कलंक से किसे भय नहीं लगता डॉक्टर! और फिर मुझ जैसे डरपोक को तो और भी अधिक भय लगता है। यह जो कुछ मैंने किया है कलंक से बचने के लिए तो किया ही है। हां ! हर आदमी के सोचने के ढंग अलग-अलग होते हैं। शायद मेरी समझ पर आप सन्देह करें, परन्तु मन की बात ही कहूंगा। डॉक्टर साहिब, व्यक्ति जब व्यक्ति को दुःख में डूबा देख कर उसे उबारने के लिए नहीं लपकता, आंख बचा कर दुःख से कराहते व्यक्ति को छोड़, उसके पास से चुपचाप निकल जाता है और वह भी सिर्फ इस मिथ्या भय से कि लोग उसके बारे में क्या कहेंगे ? तभी व्यक्ति के माथे पर कलंक का सबसे बड़ा टीका लगता है। ऐसा टीका जो लाख जतन करने पर भी उतर नहीं पाता। उसी से बचने का मैंने प्रयत्न किया है।"

—आत्म निन्दा का भय क्या कुछ भी नहीं होता ?—मैंने पूछा।

—आत्म-विश्वास में वह सब सह लेने की शक्ति रहती है। उन्होंने उसी गम्भीर स्वर में उत्तर दिया।

—परन्तु पापी को प्रश्रय देना कहां की बुद्धिमत्ता है ? क्या यह

सब कुछ समाज हित के लिए घातक नहीं होगा ?—उनकी सरलता ने मुझे स्वच्छन्द रूप से अपनी बात कहने योग्य बना दिया। मैं भूल गई कि यह व्यक्ति जीवन में पहली बार मुझे मिला है और वह भी कुछ ही घण्टे पहले।

उन्होंने कहा, "डॉक्टर साहिब, पापी को प्रश्रय देना मूर्खता नहीं है, पाप को प्रश्रय देना मूर्खता है। फिर यह बिना जाने कि पाप कहां है, और पाप क्या है, इस तरह की बात कहना तर्क संगत प्रतीत नहीं होता। आप बीमारी का इलाज करती हैं, न कि रोगी को काट कर परे फेंक देती हैं। आप न जाने क्यों मेरी बात को समझ नहीं पा रही हैं ?"

सचमुच मुझे प्रतीत हुआ कि इनकी बातें मेरी समझ से बहुत परे हैं। हां! इतना मैंने अवश्य अनुमान लगाया कि यह जितने सरल दिखाई देते हैं, इनकी सरलता को समझ पाना उतना ही कठिन है।

मैंने कहा, "तो आपकी राय के मुताबिक सब अपराधियों को क्षमा कर देना चाहिये।"

उन्होंने कहा, "बात आपको ज़रूर कुछ असह्य सी लगेगी, परन्तु सत्य यही है कि हमें अपने पापों ने इतना निर्बल बना दिया होता है कि हमारे अन्दर क्षमा करने की शक्ति रह ही नहीं जाती। हम अपने चारों ओर विचारों की एक ऐसी ओट खड़ी कर लेते हैं जिससे हमारे पाप हमें दिखाई नहीं देते। अदृष्ट होकर भी वे अपना प्रभाव तो छोड़ते ही हैं। जब कोई पाप उस ओट में से झांकने लगता है तो वही हमारे लिए असह्य हो जाता है। हम असह्य को दण्ड देने के लिए, समाप्त करने के लिए लालायित हो उठते हैं। रेणुका का पाप क्योंकि समाज के बनाए विचारों की ओट को लांघ कर झांक उठा है अतः वही आपको अक्षम्य दिखाई देता है।"

सचमुच इनकी बातें सुन कर व्यक्ति तिलमिलाने लगता है। मैं भी तिलमिला उठी। यह समझ नहीं पाई कि इनकी बातों में ऐसा क्या है जो व्यक्ति के मन पर चोट करके भी उसे अपनी ओर आकर्षित करता है।

वे जाने के लिए उठ खड़े हुए। मैंने उठते हुए कहा, "आपकी बातें बड़ी विचित्र हैं। और कुछ इनमें भले ही न हो परन्तु व्यक्ति को सोचने पर विवश करने की शक्ति इनमें अवश्य है।" पुनः मैंने शिष्टाचार वश कहा, 'फिर कभी दर्शन दीजिएगा ?'

इस तरह खुल कर हंसते मैंने किसी सभ्य पुरुष को नहीं देखा। अजीब तरह से हंसते हुए बोले, "तो यूं समझिये कि आपको, मुझे समझने का शौक उठा है। अगर आप मुझे समझने में ही उलझ गईं तो उन बेचारे हास्पीटल में पड़े मरीज़ों का क्या होगा ? बेचारे आपको कोसने के साथ साथ मुझे भी बददुआएं दिया करेंगे।" उनकी बात सुन कर मैं भी अपनी हंसी नहीं रोक सकी। मैंने अनुभव किया कि उस दिन, दीर्घकाल पश्चात् मैं किसी के सामने इतना खुल कर हंस सकी थी।

मैंने हंसते हुए कहा, "अभी तो, वह बेचारी आपको कोस रही होगी जिसके लिए दवाई लेने आप घर से निकले थे।" और मैंने वे मैडीसंस लिख कर उन्हें दे दीं जो कि कैमिस्ट की दुकान से मिल सकती थीं।

कागज़ जेब में रखते हुए बोले, "मैंने कहा था न कि अब उसे आपके हाथ लग गए हैं। अब वह लड़की मरेगी नहीं। हां ! यह ज़रूर सोचता हूँ कि उसकी रक्षा करते करते आपके विचारों में अवश्य उथल पुथल मच गई है। हो सकता है मेरा विचार ग़लत हो परन्तु आपकी बातों से मैंने यही अनुमान लगाया है। परन्तु घबराइये नह

अगर इस उथल पुथल से ही सत्य का अधिक उजला रूप सामने आ जाए तो बुरा नहीं।" कहते कहते वे कमरे से बाहर निकल गए।

उस दिन के बाद वे आज तक इधर नहीं आए। परन्तु जब भी कहीं सुस्ताने के लिए बैठती हूँ, मन उनके बारे में सोचना प्रारम्भ कर देता है।

स्नेहप्रभा के घर जाकर मैं सुनयना के पत्र ले आई थी। पढ़ कर मैंने उन्हें एक ओर रख दिया था। इनसे मिलने के बाद अचानक उन्हीं पत्रों को फिर पढ़ने बैठ जाती हूं। सोचती हूं पढ़ कर भी वे कहां पढ़े थे? उनमें से न जाने कितनी बातें रह गई थीं? सुनयना ने एक पत्र में स्नेहप्रभा को लिखा था, "स्नेह! अपनी सन्ध्या तो अब बहुत बड़ी डॉक्टर हो गई है न? सब बीमारियों के बारे में जानती होगी। उससे कभी मिलो तो पूछना कि यह कैसी बीमारी है कि व्यक्ति भूलना चाहता है परन्तु भूल नहीं पाता। बीता सुख व्यक्ति को गहन दुःख बन कर क्यों जीवन-भर जलाता रहता है? यह भी पूछना कि [illegible] का काम क्यों करने लग जाता है? औषध बन जाता है या औषधि के भ्रम में व्यक्ति अपने आपको छलता रहता है? मैं तो एक बार नाटक में झूठ-मूठ की डॉक्टर बनी थी, मैं कहां जान पाऊंगी ये बातें? परन्तु सन्ध्या तो सचमुच की डॉक्टर बन गई है, वह शायद कुछ बता पाए।"

मुझे यूं लगने लगा है कि सुनयना ने थोड़ी उम्र में ही बहुत बड़ा जीवन जी लिया था। जीने को शायद कुछ शेष नहीं था अतः वह निश्शेष हो गई। अगर सुनयना मिले तो उससे पूछूं, 'सुनयना! मुझसे मन-मुटाव कैसा? तू तो झूठमूठ की डॉक्टर बन कर भी मुझसे बाज़ी ले गई। तू मुझसे जिन प्रश्नों का उत्तर पूछना चाहती थी, मेरी समझ में तो वे प्रश्न भी अभी स्पष्ट नहीं हो पाए हैं। मेरी अच्छी

सुनयना, न जाने तू क्यों इतनी जल्दी मुझसे रूठ कर बहुत दूर चली गई ? मैं और स्नेहप्रभा, तेरी और निमल की हंसी उड़ाया करती थीं। आज तू नहीं है तो अपने मन की बात किससे कहूँ ? मेरे मन में जो प्रश्न पिछले कुछ दिनों से उठ रहे हैं उनका उत्तर देने वाला तेरे सिवा कोई भी तो दिखाई नहीं देता ! स्नेहप्रभा उत्तर क्या देगी, वह तो शायद प्रश्न ही भूल बैठी है !"

● ● ●

★नीरज

'शेष प्रश्न' के 'आशु बाबू' कहते हैं—'······संसार में अपने-पराये का जो व्यवहार चल रहा है, वह कितना अर्थहीन है! दुनिया में अपना-पराया कोई नहीं। यह कोई नहीं जानता कि संसार के इस महासमुद्र के बहाव में पड़ कर कौन, कहां से बहता हुआ पास आ जाता है और कौन बह कर दूर चला जाता है?"

शरत् बाबू की इस बात को मैंने न जाने कितनी बार पढ़ा है। पढ़ पढ़ कर बहुत आनन्द लिया है, बहुत अनुभव किया है। मैंने यही जाना है कि शरत् बाबू ने यह बात यों ही नहीं कही। न जाने कितनी तपस्या के बाद, कितने महान हृदय मन्थन के बाद यह रत्न उनके हाथ लगा होगा? मैं भी इसी रत्न की चमक में खोया रहा हूँ।

न जाने अचानक हमें कौन छू जाता है कि हम सत्य में और कुछ जोड़ देना चाहते हैं। जोड़ पाते हैं या नहीं, इसे देखने की दृष्टि हमारे पास नहीं होती। इसे देख पाने वाले लोग आते हैं अवश्य और यदि उन्हें सत्य का अधिक उजला रूप दिखाई देता है तो वे उसे संजो लेते हैं, उसमें और कुछ जोड़ने के लिए और उसका निर्णय अपने बाद आने वालों पर छोड़ जाते हैं। यदि उन्हें यह प्रतीत होता है कि हमने जो कुछ जोड़ दिया था उससे सत्य का रूप विकृत हो गया है तो उनका सौन्दर्य प्रेमी मन उस विकृत रूप को सहन नहीं कर पाता। हमने जो जोड़ दिया था, वे उसे अलग करके फेंक देते हैं, जो उन्हें रुचता है वे उसके साथ जोड़ते रहते हैं। यही क्रम चलता रहता है, सत्य का रूप निखरता रहता है। लोग शायद इसे ही सत्य में परिवर्तन समझते हैं।

पिछले कुछ दिनों से, जब से मैं डॉक्टर सन्ध्या से मिला हूं शरत् बाबू की बात के साथ मैं मन ही मन इतना और जोड़ने लगा हूँ "और फिर यह कैसी अनोखी बात है कि कोई बह कर दूर चला जाने पर भी पास आ जाता है और कोई पास आने पर भी बहुत दूर चला जाता है।" समझ में नहीं आता कि जो दूर जाकर भी पास आ गया है वह सत्य है अथवा जो पास रह कर भी दूर चला गया है वह सत्य है ?

आज तक के जीवन में न जाने कितने लोग बहते हुए पास आ गए हैं, उनसे मोह हो गया है, यूं लगा है कि अब ये कभी दूर नहीं जाएंगे परन्तु फिर एक ही बहाव में बह कर वे बहुत दूर चले गए हैं। जब भी ऐसा हुआ है तो मन गहन वेदना से छटपटा उठा है। मन ने सोचा है, वे पास ही बने रहते तो ठीक था। क्या इस बहाव को रोकने की शक्ति हम में नहीं थी ? इतने में ही और कोई बहता हुआ पास आ गया है। उसने अपनी दुःख गाथा सुनानी प्रारम्भ की है तो उसी में डूब कर अपने दुःख की बात बिसर गई है। पुनः दुखित होने पर शरत् बाबू की बात ने मुझे सान्त्वना दी है। मैंने समझा है कि बह कर किसी का पास आ जाना और किसी का दूर चले जाना यही जीवन का सत्य है। जब यही सत्य है तो फिर दुःख क्यों हो ? दुःख तो अपनी जगह पर शायद स्थिर है परन्तु उसे पहचानने और परखने का मेरा दृष्टिकोण बदल गया है अतः छटपटाहट कुछ कम हुई है।

परन्तु आज अचानक यह सत्य के साथ जो कुछ और जुड़ गया है उसने मन में गहरी उथल-पुथल मचा दी है। संतोष है तो केवल इतना कि इस समुद्र मन्थन से और भी कुछ हाथ लगेगा। विष या अमृत ? कह नहीं सकता। परन्तु कुछ भी हाथ लगे बुरा नहीं है। अमृत हाथ लगा तो वह मानव तक भी पहुँचेगा क्योंकि पहला अमृत तो देवताओं

में ही बंटते-बंटते समाप्त हो गया था और यदि विष हाथ लगा तब भी ठीक है क्योंकि आज के मानव ने वह महामन्त्र सीख लिया है जिसके स्पर्श मात्र से विष अमृत में परिवर्तित हो जाता है। विष शायद अमृत में परिवर्तित न भी होता हो परन्तु उसे पी कर मुस्कराने की शक्ति मानव में अवश्य आ गई है। यह शक्ति, ज्यों-ज्यों समय बीत रहा है, निरन्तर बढ़ रही है अतः मानव के गिर जाने की शंका निर्मूल है।

बहते बहते एक बार नसीम मेरे पास आई थी। हुआ यों कि मेरी ट्रान्सफर जालन्धर की हो गई थी। गली मुहल्ले का नाम भी मुझे लेना चाहिये परन्तु लूंगा नहीं क्योंकि ऐसा करने से बात व्यक्तिगत बन जाएगी। मैं चाहता हूँ कि यह बात उन सब नसीमों की बन जाए जो किसी भी गली मुहल्ले में, दुनिया के किसी भी कोने में रहती थीं और बहती बहती अपने नीरजों के पास चली आई थीं और फिर ऐसे बहाव आए जिनमें हाथ छूट गए और नसीमें अपने नीरजों से बिछड़ गई या उन्हें बिछड़ने पर विवश कर दिया गया।

कई बोल ऐसे होते हैं जो युग बीत जाने पर भी कानों के पास यूं [illegible]
[illegible]
प्रवाह में बह कर भी वह नहीं पाते, अटल और अजेय बने रहते हैं। यूं लगता है कि क्षण-भर पहले ही नसीम पानी की बाल्टी उठा कर हंसी की फुलझड़ियां छोड़ती हुई चली गई है। उसके बोल अभी तक हवा में गूंज रहे हैं। जो बोल अटल क्षणों में घुलमिल गए हैं वे भला कैसे मर सकते हैं?

नसीम ने कहा था, "माना जनाब कि नलका आपके घर में ही सही, लेकिन इतना भी क्या रुआब कि दूसरों को घण्टों तक परेशान किया जाय। जल्दी से बाल्टी उठाइये वरना हमें उठानी पड़ेगी।

फिर मत कहियेगा कि आपके बर्तन को हमने भिरस्ट कर दिया ?" मैंने कहा, "आपके हाथ लगाए से भ्रष्ट कहां होगा ? बाल्टी उठा कर एक ओर रख दीजिए और पानी भर लीजिए।" नसीम ने आंखें उठा कर मेरी ओर देखा, क्षण-भर में नज़रों ने अतीत के इतिहासों को दोहराया, नसीम ने बाल्टी उठा कर एक ओर रख दी और अपनी बाल्टी नलके के नीचे लगा दी। बाल्टी उठा कर जाने लगी तो बोली, "आज संधिया के मंतर दो बार बोल लीजिएगा, कहीं ऐसा न हो कि हमारे छुए बर्तन का पानी पीकर आपकी आतमा भी भिरस्ट जाए।" बात समाप्त करके एक अजीब सी रुपहली हंसी बखेरती हुई नसीम चली गई।

एक सप्ताह बाद मैंने कहा था, "पानी फिज़ूल ही बह रहा है। खड़ी क्यों हैं ? भर लीजिए न बाल्टी ?" नसीम ने शरारत भरी नज़रों से देखा, फिर अचानक वर्षों के बचपने की शोखी क्षण-भर में जवानी की लाज में छिप गई, झिझकते हुए उसने कहा था, "इतने बुरे लोग आपको परेशान करते हैं तो दरवाज़े पर 'अन्दर आना मना है' का बोर्ड लटका छोड़िये। इतना अहमक कौन होगा जो बोर्ड पढ़ कर भी अन्दर आने की हिमाकत करे ?" मैंने हंसते हुए कहा, "कुछ लोगों को बोर्ड की तरफ देखने की फ़ुरसत ही कहां होती है ? बग़ैर इधर-उधर देखे भीतर बढ़े चले आते हैं।" नसीम ने युगों की पीड़ा अपनी आंखों में समेटते हुए कहा था, "कुछ लोग इतने बेबस क्यों हो जाते हैं कि चाहते हुए भी बोर्ड उतार नहीं पाते ?" नसीम एकदम पलट कर चली गई थी।

मैं शाम को दफ्तर से लौटा तो सीढ़ियां चढ़ते वक्त नसीम के गाने की आवाज़ कानों में पड़ी। नसीम गा रही थी, 'खुशी क्या खेत पर मेरे अगर सौ बार अब्र आवे—समझता हूं कि ढूंढे है अभी से बर्क़

खिरमन को'। हम किसी बात को सुनते हैं, अच्छी लगने पर उसकी प्रशंसा करते हैं, कुछ प्रसन्नता अनुभव करते हैं। फिर वही बात जब किसी के दिल में घुल जाती है, घुल कर हम तक पहुँचती है तो हम प्रसन्नता अनुभव नहीं करते, प्रशंसा नहीं कर पाते, बस उसमें घुल मिल जाते हैं। वह बात हमारी अपनी बन जाती है, हम उसे सहेज लेते हैं ताकि कहीं खो न जाए।

मैंने 'ग़ालिब' का यह शेर कितनी बार सुना था, पढ़ा था, कितनी ही बार आप भी इसे गुनगुना कर आनन्द उठाया था परन्तु नसीम से सुन कर यूं लगा कि शेर में जब कुछ और घुल मिल जाता है तभी उसकी सुन्दरता अमर हो जाती है। फिर उस सौन्दर्य में वेदना से छटपटाते हृदयों को सहलाने की, थपथपाने की असीम शक्ति न जाने कहां से आ जाती है? उसी दिन समझ पाया था कि किसी काव्य-कृति को समझ लेने में और उसमें घुलमिल जाने में महान अन्तर है। जब हम कवि की कृतियों में घुलमिल जाते हैं तभी कवि हृदय के सत्य को समझ पाते हैं। मुझे यूं लगा, नसीम ने 'ग़ालिब' को पढ़ा नहीं है, 'ग़ालिब' को पा लिया है। और ऐसे हृदय जब किसी दूसरे हृदय को छूते हैं तो वह अनायास ही उनकी ओर खिंचा चला आता है।

यह सन्ध्या कैसी लड़की है, जिसने नसीम को पुनः मेरे पास ला खड़ा किया है, मानों समय बहुत पीछे लौट गया है। सन्ध्या की आकृति में, व्यवहार में कुछ भी नसीम जैसा नहीं है, फिर भी उसमें सब कुछ नसीम जैसा क्यों है? सन्ध्या की छोटी छोटी रजनीगन्धा के फूलों की तरह महकती आंखों की अथाह गहराई को देख कर मुझे नसीम की बड़ी बड़ी नील कमल की पंखड़ियों-सी खुली आंखों में तैरती झीलें क्यों दिखाई दे गई हैं? नसीम को तेज़ बहावों ने मुझसे

हमेशा के लिए जुदा कर दिया था। हमने बहुत मज़बूती से एक दूसरे के हाथों को पकड़ना चाहा था परन्तु जेल की सलाखों ने नसीम के हाथ मेरे हाथों से छुड़ा दिए थे। वह बहाव में बहती बहती थक कर डूब गई थी। डूबते वक्त वह मेरा नाम ले ले कर चीखी नहीं थी, उसने सिर्फ यही चाहा था कि वह एक बार मुझे जी भर कर देख ले ताकि उसका विश्वास न डगमगाए। जो नसीम डूब गई थी या जिसके गले में पत्थर बांध कर डुबा दिया गया था वह डॉक्टर सन्ध्या की आंखों में तैरती हुई आज अचानक मेरे पास कैसे चली आई है! मानों कह रही हो "देखो नीरज! मैं डूबी कहां हूं? अभी तक तैर रही हूं। लेकिन इन खौफ़नाक लहरों से जूझती जूझती बहुत थक गई हू। क्या तुम मुझे यूं ही डूबती उतराती देखते रहोगे, हाथ बढ़ा कर पकड़ने नहीं आओगे?" सन्ध्या की आंखों में से झांकती नसीम मानों कह रही है, "तुम कहा करते थे कि मैं तुम्हारे ग़मों को अपनी झोली में समेटने की आदत से मजबूर हूँ। देखो आज तुम्हें फिर ग़मों की कैद से नजात दिलाने आ गई हूँ। दरअसल तुम जिसे ग़म समझते हो वही तो मेरी जनम जनम की जमा की हुई दौलत है। उसे सहेज कर ही तो अमीर बनी हुई हूं।" नसीम कहां से फिर मेरे पास लौट आई है!

मैं उस दिन बीमार था। बुखार में पड़ा न जाने क्या कुछ बड़बड़ा रहा था? मुझे नहीं मालूम किसने अपने हाथों से मेरे माथे को दबाया था? कब मुझे नींद आ गई थी। जब आंखें खुली थीं तो नसीम मेरे पास बैठी थी। मुस्कराई थी तो यूं लगा था जैसे अचानक अनगिनत कलियां चटख़ गई हों। मुस्कराते हुए बोली थी, "तुम मुझे हमेशा ही सताया करोगे क्या? मुसलमान होते हुए भी जनम-जनमान्तर की तुम्हारी बात पर यकीन कर लेने को जी चाहता है। न जाने कितने जनमों से तुम मुझे सताते चले आ रहे हो?" मैंने उसका हाथ दबाते हुए कहा था, "जो सताता है उससे दामन छुड़ा कर भाग क्यों नहीं

जातीं ?" अचानक ठण्डी हवा के झोंके से गुलाब की सुकोमल पत्तियों पर अटकी शबनम की उजली बूंदें ढुलक पड़ीं। हवा के गुज़र जाने पर भी कुछ देर, खिले गुलाब की नन्हीं नाज़ुक पंखड़ियां कांपती रहीं, फिर अचानक नसीम ने मेरे सीने पर अपना सिर यूं रख दिया मानों कहीं दूर रेगिस्तान की तपी दोपहरी में राह चलता मुसाफिर, थकन दूर करने के लिए किसी कांटेदार वृक्ष की छिदरी-सी छाया में ही पल भर के लिए सुस्ताने बैठ जाए। फिर संभल कर बोली, "हम औरतों का दिमाग़ खाली होता है न ? जब हमें कोई सताता है तो हम उसी से मोह करने लगती हैं।" कुछ रुक कर बोली, "जानते हो आज नमाज़ के वक्त मैंने खुदा से दामन फैला कर क्या मांगा है ?"

"क्या ?" मेरे मुंह से अनायास ही निकल गया।

—यही कि तुम्हारी सताने की आदत सदा बनी रहे ताकि तुम हमेशा मेरे पास बने रहो।

मैंने कहा था, "नसीम, ये जो तेज़ आंधी और तूफान उठे हैं, हमें साथ साथ रहने देंगे क्या ? देखती नहीं हो कैसी आग चारों तरफ लग रही है ?" नसीम के मुंह से कुछ देर तक कोई आवाज़ नहीं निकली थी, फिर अजीब-सी मुर्झाई आवाज़ में उसने कहा था, "नीरज ! जब भी दो दिल मिलते हैं ये आंधियां क्यों चलने लगती हैं ? इन आंधियों को रोका नहीं जा सकता क्या ?"

मैंने कहा था, "नसीम ! मैंने अमन कमेटी में अपना नाम लिखा लिया है।" नसीम की आंखों में खुशी के मोती चमक उठे थे, "सच नीरज ! मैं भी कल ही अपने कालिज की अमन कमेटी की मैम्बर बन गई हूं।" बात कहते कहते अचानक उसका मन कांप गया था, "नीरज ! रेगिस्तान की गर्म आंधियों में ये अमन कमेटियां खजूर की नन्हीं-सी छाया बन कर नहीं रह जाएंगी क्या ?"

मेरे पास उसकी बात का कोई उत्तर नहीं था क्योंकि सचमुच आंधी ने भयानक रूप धारण कर लिया था। उसी दिन के अखबार में मैंने पढ़ा था कि खुदा के बन्दों ने रावलपिंडी की गलियों में ईश्वर की बेटियों का नंगा जलूस निकाला है।

सचमुच रेगिस्तान के तेज़ तूफान के आगे खजूरों की नन्हीं छायाएं डर कर सहम गई थीं। मेरे कमरे की तलाशी हुई थी। मेरे कमरे में 'रवीन्द्र' और 'प्रेमचन्द' थे, 'शरत्' और 'बंकिम' थे, 'ग़ालिब', 'इकबाल' और 'जोश' थे, ,पुश्किन' और 'गोर्की' थे। उनके साथ न जाने कहां से एक हैंड ग्रनेड निकल आया था? मैंने तो अपने कमरे में हमेशा 'रवीन्द्र' और 'प्रेमचन्द' को संभाल कर रखा था, 'देवदास' और 'मां' की सूरत मैंने देखी थी लेकिन पोलीस की तहक़ीकात के मुताबिक 'गीतांजलि' और 'मां' की कोख से हैंड ग्रनेड ने जन्म लिया था। क्योंकि मेरे कमरे में हैंड ग्रनेड ने जन्म लिया था इसलिए पोलीस मुझे हथकड़ी लगा कर जेल ले गई थी। जब मुझे पोलीस हथकड़ी पहना कर ले जा रही थी तो मैंने दो तस्वीरें देखी थीं, जिन्हें भूल पाना मेरे लिए असम्भव है। सामने की हवेली से निकलते हुए लाला दीनदयाल जी अजीब ढंग से मुस्कराए थे। पोलीस इन्स्पैक्टर ने मुझे मोटी-सी गाली निकालते हुए कहा था, "लाला दीनदयाल जी, आपके मोहल्ले में ये अमन कमेटियां बन रही हैं या जंग कमेटियां?" लाला जी की मुस्कान देख कर मेरी आंखों में उस बदचलन औरत के नौकर का चेहरा घूम गया था जो अपनी मालकिन के नाजायज़ बच्चे को किसी दूसरे के घर में रख आता है।

दूसरी तस्वीर थी किवाड़ों की ओट से झांकती हुई नसीम की। उसकी आंखें देख कर यूं लगता था जैसे सांझ के समय पश्चिम में डूबते सूरज ने बादलों में आग लगा दी हो। नसीम ने अचानक

किवाड़ों की ओट से निकल कर दोनों हाथ जोड़ दिए थे। गुलाब की पंखड़ियों को लू के तेज़ झोंकों ने झुलस दिया था। झुलसी पंखड़ियां थरथरा रही थीं, मानों कह रही हों, "तुम तो नसीम हो, तुम गर्म लू के झोंके कैसे बन सकते हो?" नसीम को देख कर मेरी आंखों में जौहर की आग में जलती वीर राजपूतनियों का नक्शा घूम गया था। ऊपर तिमंज़ले में से नसीम के अब्बाजान चीख़ रहे थे, 'इस छोकरी को कितनी बार कहा है कि नीचे न उतरा कर। आज इसकी टांगें न तोड़ दीं तो मेरा नाम भी इलाहीबख्श नहीं।'

जेल में रात की खामोशी को तोड़ते हुए बाबा दिलीपसिंह ने कहा था, "घबराओ नहीं नौजवान! आखिरी जीत इन्सानियत की ही होगी।" मैं कुछ बोल नहीं सका था क्योंकि मेरी आंखों में जौहर की आग की लपटें उठ रही थीं।

मुझे चुप देख कर बाबा दिलीपसिंह ने फिर कहा था, "नौजवान! मैं तुम्हारे दिल को समझता हूँ। आज शायद तुम इतने थक गए हो कि आगे बढ़ने की बात सोच भी नहीं सकते लेकिन हक़ीक़त यही है कि थक कर हमेशा के लिए पस्तहिम्मत होकर बैठ जाना इन्सान की आदत नहीं है। इन्सान आगे बढ़े बग़ैर रह ही नहीं सकता यही उसका स्वभाव है।"

बाबा दिलीपसिंह से एक ही सप्ताह में मैं खूब हिल मिल गया था। बाबा गदरी थे। लोगों को मैंने कहते सुना था कि क्रान्तिकारी लोगों में मानवता नहीं होती। किसी का ख़ून कत्ल कर देना उनके लिए मामूली बात होती है। लेकिन बाबा को देख कर यूं लगा कि ये लोग जितने नर्म दिल होते हैं, उतना नर्म दिल होना सहज नहीं। किसी भी कली को मुर्झाते देख इनकी आंखें ख़ून के आंसू रो उठती हैं। ये लोग तो उन ऊंचे पहाड़ों की आसमान को चूमने वाली चोटियां

की तरह हैं, जो दुश्मन के लिए हमेशा सीना तान कर खड़ी रहती हैं लेकिन जिनकी गोद में चमन खिला करते हैं, अनगिनत हज़ारों लाखों रंगों के फूल मुस्कराया करते हैं। जिनकी गोद में बहने वाली नदियों के किनारे खड़े आसमान से बातें करने वाले वृक्षों की छाया में जवान दिल बंसरी की तान पर नाचा करते हैं, किसी सोहनी को कच्चा घड़ा नहीं पकड़ना पड़ता, किसी हीर को अपने रांझे के वियोग में जन्म भर दिल की आग में नहीं जलना पड़ता। मुझे नहीं मालूम कि ऐसे बाबा को क्यों कत्ल के अपराध में गिरफ्तार कर लिया गया था? और फिर इस उम्र में, जबकि इन्सान को चलने में भी तकलीफ होती है, बाबा किसी का कत्ल कर ही कैसे सकते थे?

बाबा से मैंने कत्ल की हक़ीक़त जाननी चाही थी। बाबा अजीब ढंग से मुस्कराते हुए बोले थे, "नौजवान! हमारी फिक्र मत करो। हम तो दरिया के किनारे खड़े पुराने दरख़्त हैं, न जाने कब किस झोंके से चरमरा कर पानी में गिर जाएं! तुम अपनी फिक्र करो क्योंकि तुम पुराने दरख़्त नहीं हो, तुम तो दरिया की मौजें हो। जानते हो जब दरिया की मौजें, दरिया से बिछुड़ कर छोटे मोटे गढ़ों में चली जाती हैं तो क्या होता है? उन गढ़ों के गंदले पानी में सिर्फ मच्छर पैदा हुआ करते हैं, मलेरिया [illegible]
बाबा दिलीपसिंह एक अजीब सी हंसी हंसे थे। उनकी हंसी को सुन कर मुझे यूं लगा था मानों पहाड़ की ऊंची चोटियों से टकरा कर कोई आवाज़ सारी घाटी में गूंज उठी हो। वह आवाज़ किसी एक की न होकर सारी घाटी की आवाज़ बन गई हो।

दोपहर को राउण्ड पर आया वार्डर, बाबू भागसिंह के कत्ल की खबर दे गया था। झूठे धर्म की, झूठी मर्यादा की शराब में मदमस्त आदमी ने बाबू भागसिंह के पेट में छुरा घोंप दिया था। बाबू भागसिंह,

बाबा दिलीपसिंह के साथी थे। बाबू भागसिंह गली-गली मोहल्ले-मोहल्ले में घूम कर लोगों को समझा रहे थे कि इस मज़हब की शराब को मुंह न लगाओ कि किसी मज़हबी जनूनी ने उनके छुरा घोंप दिया। बाबू भागसिंह ने मरते समय कहा था, "मज़हब की शराब बांटने वाले हाथों को रोको, क़त्ल और खून तो यह शराब करवा रही है।"

वार्डर से खबर सुन कर बाबा दिलीपसिंह की आंखों से आंसू नहीं बहे थे। एक अजीब सी बुझी सी अवाज़ में उन्होंने कहा था, "कम्बख्त! भागसिंह! तू इस दौड़ में भी मुझसे बाज़ी ले गया।" फिर अजीब सी नज़रों से मेरी ओर देखते हुए उन्होंने कहा था, "नौजवान! मैं ऐसा खुशकिस्मत कहां कि मेरा खून इस काम आ सके? भागसिंह का खून बह कर जो कुछ धो गया है उसे समझना आसान नहीं है।" कुछ देर रुक कर बोले थे, मानों दम फूल गया हो, "एक साथी और बिछड़ गया! तुम नहीं जानते कि जब हमसफर बिछड़ जाते हैं तो मंज़िलें कितनी बोझिल हो जाती हैं?"

रात के लगभग एक डेढ़ बजे मेरी आंख खुल गई थी। मैंने सपना देखा था। नसीम के हाथ का कच्चा घड़ा टूट गया था, वह एक भंवर में बुरी तरह घिर गई थी। भंवर के पास से एक किश्ती गुज़र रही थी। किश्ती में बैठा एक बदसूरत सा आदमी किश्ती की तरफ़ हाथ फैलाती नसीम को अपने चप्पू से बुरी तरह भंवर में धकेल रहा था। मेरा सारा शरीर बुरी तरह कांप रहा था, सारा शरीर पसीने से भीग गया था। मैंने सुना, पास की खड्डी पर लेटे बाबा दिलीपसिंह नींद में ही बड़बड़ा रहे थे, 'मैंने खून नहीं किया, खून तुम कर रहे हो, नौजवान इन खूनियों को पकड़ लो, जाने न पाएं—भागसिंह घबराना नहीं मैं भी आ रहा हूँ। भागसिंह—भागसिंह—नौजवान छज्जासिंह का क़त्ल मैंने नहीं किया—लम्बरदार के हाथों में

अब भी खून लगा है—अन्तो मरी नहीं, मारी गई है—थानेदार साहिब आप सचाई पर पर्दा डाल रहे हैं—मुझ में किसी का खून करने की ताक़त नहीं है – नौजवान मैंने खून नहीं किया……" मैंने अपनी खड्डी से उठ कर बाबा दिलीपसिंह को झिंझोड़ कर जगा दिया था।

× × ×

यह डॉक्टर संध्या कैसी है ? जिसे देखते ही अतीत के पृष्ठ खुलते जा रहे हैं ! यूं लगता है मानों यह डॉक्टर संध्या नहीं है, नसीम ही आग की लपटों से बाहर निकल आई है, झुलसी हुई, जली हुई। मेरे सामने निकल कर कह रही है, "नीरज ! तुम अपनी नसीम को क्यों नहीं पहचानते ? देखो, मैं वही तो हूँ, तुम्हारी नसीम। आग की लपटों ने मुझे झुलस कर ऐसा बना डाला है।"

कैसे यकीन कर लूं कि नसीम आग में नहीं जली थी ? लाला दीनदयाल जी के दिल का मैल तो आग में जल गया था। वे झूठ नहीं बोल सकते थे, चाहते तो भी बोल नहीं सकते थे क्योंकि जीते जी उनमें से एक दीनदयाल मर गए थे, दूसरे जन्म लेने की कोशिश कर रहे थे। ऐसे समय में ही मेरी लाला दीनदयाल जी से मुलाकात हुई थी। मैंने उन्हें नहीं पहचाना था लेकिन उन्होंने मुझे पहचान लिया था। मुझे देखते ही लाला जी गला फाड़ कर रो पड़े थे, उन्होंने मुझे कस कर अपने सीने से लगा लिया था।

मैं जब जेल से छूट कर आया था तो दुनिया बदल चुकी थी। दीनदयाल जी की बेटी और दामाद लायलपुर में कत्ल कर दिए गए थे। उनकी धर्मपत्नी इसी दुःख में पागल हो गई थी। लाला दीनदयाल मर गए थे, मर कर नए सिरे से जी रहे थे। लाला दीनदयाल जी की कहानी का कोई भी हिस्सा मैं सुन नहीं सका था। उनकी बातें सुन कर

एक तस्वीर सी मेरी आंखों में घूमती रही थी। उस तस्वीर को दिल से निकालना शायद असम्भव है। हां! तीव्र गति से भागते जीवन में वह विसर गई थी, डॉक्टर संध्या को देख कर आज वही फिर आंखों के सामने घूम गई है।

रावलपिंडी का बदला ईश्वर के बन्दों ने खुदा की बेटियां से जालन्धर में लिया था। जलूस को सजाने के लिए उन्हें नीरज की नसीम पसन्द आ गई थी। ईश्वर प्रेमियों के हृदय विशाल थे अतः उन्हें सौंदर्य का ढंका रूप देखना पसंद नहीं था। उन्होंने नसीम के सब कपड़े उतार डाले थे। नंगी औरतों और लड़कियों के जलूस में सबसे आगे नसीम थी। जलूस चलने से पहले जलूस की सलामी उतारी गई थी। पीर इलाहीबख्श के सीने में सात गोलियां मार कर इस पुनीत कर्तव्य को पूरा किया गया था। नंगे जलूस में मां और बेटी साथ साथ चल रही थीं। नसीम की ओर देख कर नसीम की अम्मी बेहोश होकर गिर पड़ी थीं। परमात्मा के पुत्र ने वाहेगुरु के बेटे से कहा था, "सरदार जी! ऐस नूं ज़रा परेड दे कायदे कानून सिखाण दी ज़रूरत है।" वाहेगुरु के बेटे ने अपना नेज़ा अम्मी के कलेजे में घुसाते हुए कहा था, "इन्नी फुरसत साडे कोल नहीं, सानूं जलूस दी रौणक वेखण देओ।"

जलूस के प्रधान ने आग की लपटों के पास पहुंच कर जलूस को रुक जाने का आदेश दिया था। प्रधान ने नसीम से सवाल पूछा था, "तुम अपना धर्म बदलने के लिए तैयार हो या नहीं?" नसीम ने अजीब सी वेदना में डूबी और विश्वास भरी आवाज़ में कहा था, "एक चीथड़ा उतार कर दूसरा चीथड़ा पहनने की मेरी आदत नहीं है।" एक नौजवान ने शराब की बदबू अपने मुंह से छोड़ते हुए कहा था, "तुसीं कानूं खेच्चल करदे हो, असां हुणे इ ऐस दा धर्म बदल दिन्ने

हां ।" नसीम के जिस्म पर बीसियों आदमी भूखे भेड़ियों की तरह टूट पड़े थे । पंजाब की उस पवित्र धरती पर; जहां वेदों की रचना हुई थी, वारिसशाह ने लोगों के मनों को निर्मल करने के लिए हीर के दर्द को अमर किया था, बुल्लेशाह ने अपनी काफ़ियों से और नानक ने अपनी वाणी से हवा में अमन और शान्ति की खुशबूएं बिखेरी थीं; नसीम का धर्म बदलने के लिए यह नया तरीका ईजाद किया गया था और धर्म बदलने के बाद नसीम को और जलूस की एक एक औरत को आग की लपटों में फेंक दिया गया था । कुछ औरतों ने चीखते चिल्लाते हुए आग से बाहर निकलने की कोशिश की थी लेकिन धर्म पालकों के भालों ने उन्हें मकई के भुट्टों की तरह भून दिया था । नसीम ने आखिरी दम तक उफ् तक नहीं की थी, बस उसकी आंखें आखिर तक दूर, कहीं बहुत दूर किसी को खोजती रही थीं ।

यह बात मेरी अपनी देखी नहीं है । यह तो लाला दीनदयाल जी से आंखों देखे हाल को सुन कर, मेरे दिमाग़ में तस्वीर उभर आई थी । लाला जी की अपनी बेटी और दामाद लायलपुर में कत्ल हो गए थे लेकिन कत्ल होकर उन्होंने लाला जी से झूठ बोलने की ताकत छीन ली थी । लाला जी के मुंह से सिर्फ सच्ची बातें निकलती थीं इसलिए आदमी को न चाहते हुए भी उन बातों पर विश्वास करना पड़ता था ।

लाला जी के घर में मैं महीना भर बीमार पड़ा रहा था । मैं बेहोशी में जब नसीम का नाम ले ले कर बड़बड़ाता था तो लाला जी की आंखों से सावन भादों की झड़ियां बरसने लगती थीं । एक दिन सेहत कुछ ठीक थी, लाला जी ने कहा था, "नीरज बाबू ! आपको मैंने ही जेल भिजवाया था, मैं आपकी नसीम को लौटा नहीं सकता, मैंने उसे आपसे छीना है तभी शायद कुदरत ने मेरी बेटी मुझसे

छीन कर मुझे ठीक सज़ा दी है।" मैं जब उनके घर से चला था तो लाला जी बहुत देर तक मुझे सीने से लगा कर रोते रहे थे। उन्होंने चलते वक्त कहा था, "मेरे सिर्फ एक बेटी थी। मैंने उसी के लिए यह सब कुछ जोड़ा था। भगवान बड़ा दयालु है। उसने बेटी छीन कर मुझे बेटा दे दिया है। जब कभी किसी चीज़ की ज़रूरत हो, मुझसे बग़ैर पूछे इस घर में से उठा लेना।" मैंने कहा था, "लाला जी! मेरी दौलत तो सिर्फ वे चन्द किताबें थीं जिन्हें मैंने अपनी जान से बढ़ कर बचाया था। उन्हें ढूंढने ही यहां तक चला आया था। नसीम होती तो उन्हें संभाल कर रखती क्योंकि उसे मेरी किताबों से मुझसे भी कहीं अधिक मुहब्बत थी।" इससे अधिक मैं नहीं बोल पाया था।

मैंने समझा था कि अब नसीम मेरी ज़िन्दगी में कभी भी लौट कर नहीं आएगी लेकिन यह डॉक्टर संध्या बन कर क्यों लौट आई है? उस दिन आंखों में आंसू भर कर जब डॉक्टर संध्या ने कहा था, "मुझे क्षमा कीजिएगा, मैं न जाने आपसे क्या क्या कह गई हूँ?" तो मुझे यूं लगा था मानों नसीम ने कहा हो, "नीरज! जब तुम्हारा दिल दुखता है तो मुझसे रहा नहीं जाता। मैं चाहती हूं, मेरी सब मुसर्रतें तुम्हारी झोली में जा गिरें और तुम्हारे सब ग़म मैं अपने दामन में समेट लूं।" मैंने अचानक ही कह दिया था, "डॉक्टर साहिब! जो कुछ आप मुझे कह गई थीं वह और किसी से न कह पातीं। जिस अधिकार से आपने वे बातें कह दी थीं उसे अपने पास ही सुरक्षित रखिये, वह फेंकने की चीज़ नहीं है।" पहले दिन से ही डॉक्टर संध्या से मिल कर यूं लगता है मानों यह मेरी युगों युगों से परिचित है। कहीं छिप गई थी, अब पुनः मुझे व्यथित देख कर लौट आई है। इससे बात करते समय यूं अनुभव होता है कि व्यक्ति कहीं एकान्त में अपने आप से बातें कर रहा हो! और यह भी तो

पहले दिन से ही मेरे साथ यूं घुलमिल गई है जैसे मैं न जाने इसका कितने सुदीर्घ काल से परिचित हूं! बातें यूं करती है जैसे कोई छोटी सी लड़की अपने ज्ञान की परिधि में सारे विश्व को समेट लेना चाहती हो।

डॉक्टर संध्या सरल होते हुए भी कितनी जटिल है? यूं लगता है जैसे अवनीन्द्रनाथ टाकुर की किसी महान कलाकृति को समझ न सकने के कारण किसी अनाड़ी ने अपने हाथों से उस अनुपम कृति पर टेढ़ी मेढ़ी रेखाएं खींच दी हों। जब भी बात करती है यूं लगता है मानों किसी पहाड़ के घने जंगलों में भटका व्यक्ति, कहीं बहुत दूर से किसी को पुकार रहा हो। उस दिन अजीब सी बातें करती रही। कह रही थी, "कुछ लोग बहुत बड़े जादूगर होते हैं। न जाने क्या जादू कर देते हैं कि उनके सामने दिल की बात ही कहनी पड़ती है। आपने यह सब कहां से सीखा है?" मैंने कहा, "डॉक्टर साहब! जब भी कोई दिल किसी दिल में घुलमिल कर एक हो जाता है तो किसी जादू की आवश्यकता नहीं रहती। व्यक्ति अपने आप से अपना दिल कैसे छिपा सकता है?"

कुछ देर तक मेरी बात का कोई भी उत्तर न दे पाई। कुछ सोच कर बोली, "कई बार मुझे यूं महसूस होता है कि व्यक्ति स्वयं भी समझ नहीं पाता कि सत्य क्या है और असत्य क्या है? आप ने जब से पाप और कलंक की अटपटी सी व्याख्या की है मेरा मन बुरी तरह उलझ गया है। मुझे प्रतीत होता है कि मैं अपने आप को ही समझ नहीं पा रही हूं। जो आज तक समझा था, जिसे आज तक सत्य माना था वही मानों निमिष मात्र में कहीं खो गया है।"

मैंने उत्तर दिया, "डॉक्टर साहिब, खो जाना ही अन्त नहीं है। व्यक्ति का स्वभाव है कि वह खो कर पुनः प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील है [illegible] । रूप को प्राप्त करता

है। यही स्वभाव व्यक्ति को निरन्तर सत्य के अनन्त विकास की ओर प्रेरित करता रहता है अतः मानव प्रगति भी अनन्त है। किसी मील के पत्थर पर पहुँच कर जो व्यक्ति उसे अंतिम छोर समझ लेते हैं, कुछ खो जाने पर उन्हीं की आस्था डगमगा जाती है। वे समझ नहीं पाते कि कुछ खो जाना ही नया प्राप्त करने का प्रेरणा स्रोत है।"

डॉक्टर संध्या की आवाज़ सुन कर यूं लगा मानों कोई व्यक्ति मीलों दूर से बोल रहा हो, "खो गया है अतः उसकी बात समझ में आती है। कुछ नया प्राप्त होगा, इस पर विश्वास नहीं जमता। मुझे कभी कभी भय लगने लगता है कि मैं किसी बहुत तेज़ बहाव में बह जाऊंगी, मुझे कोई भी सहारा नहीं मिल सकेगा। मैं डूब जाऊंगी।"

मुझे यूं लगा मानों नसीम आग की लपटों से निकल आई है लेकिन आग की लपलपाती ज्वालाओं ने उसके मन और मस्तिष्क को निराशा, भय और भ्रान्ति से बुरी तरह ग्रस लिया है। नसीम कह रही है, "नीरज! इन लपलपाती ज्वालाओं का कहीं अंत नहीं है। इनसे बच कर मैं एक बार तुम तक पहुँच गई हूं लेकिन ये आग की लपटें मुझे घेरने के लिए लगातार फैलती जा रही हैं। इन आग की लपटों से बचना बहुत मुश्किल है। देखो, मैं एक बार फिर इन लपटों में घिरती जा रही हूं। मैं जल जाऊंगी, मैं बच नहीं सकूंगी। क्या तुम भी मुझे बचा नहीं पाओगे?"

डॉक्टर ने मुझे देख कर अचानक ही पूछ लिया, "मेरी बात पर शायद आपको विश्वास नहीं हो रहा है। खैर! आपकी इच्छा।" एक क्षण रुक कर दीर्घ निश्वास छोड़ती हुई बोली, "कॉलिज की खेलों में एक खेल थी 'बाधा-दौड़'। मैंने उसमें कभी भाग नहीं लिया। मेरी सहेली सुनयना उसमें हमेशा फर्स्ट आया करती थी। उस दौड़ में कभी एक टांग से दौड़ना पड़ता, कभी कोहनियों के बल घिसट कर

चलना होता। कहीं ऊंची दीवार को फांदना होता—कहीं रस्सी को फलांगना होता। पुड़िया में बंधे चावल गिनने पड़ते, कहीं बोझ उठा कर दौड़ना होता, तो कहीं भरे पानी की थाली लेकर चलना होता और भी नाना प्रकार की बाधाओं को पार करके दौड़ने वाला लक्ष्य तक पहुँच पाता। कॉलिज में उस बाधा-दौड़ से सदैव बचती रही परन्तु अब देखती हूँ कि जीवन में प्रत्येक को वही दौड़ दौड़नी पड़ती है। इस जीवन की बाधा-दौड़ में, सुनयना जैसी फर्स्ट आने वाली लड़की भी हार गई तो मैं किस गिनती में हूँ? कॉलिज की बाधा दौड़ में भाग लेना या न लेना अपनी इच्छा पर था परन्तु इस जीवन की बाधा दौड़ में इच्छा अनिच्छा का प्रश्न ही नहीं उठता। मुझे तो यूं लगता है कि मैं तो कहीं बीच में ही थक कर गिर पड़ूंगी या फिर पुड़िया में बंधे चावल के दानों को गिनते गिनते ही जीवन की अंतिम घड़ी समाप्त हो जाएगी।"

मुझे बाबा दिलीपसिंह की बात अचानक याद हो आई। मैंने कहा, "डॉक्टर साहिब! थक कर बैठ जाना व्यक्ति का स्वभाव नहीं है। इन्सान आगे बढ़े बग़ैर रह ही नहीं सकता, यही उसका स्वभाव है।"

डॉक्टर ने कहा, "आपकी बात को यूं कहना ज़्यादा ठीक होगा कि लक्ष्य तक पहुंच जाने की प्रबल आकांक्षा से प्रेरित हम सदैव भागते रहते हैं। लक्ष्य तक पहुँच पाएंगे या नहीं, इसका लेखा जोखा करने का अवकाश हमारे पास नहीं रहता अतः मन को अपूर्व संतोष की भ्रांति में ही अनुपम सुख मिलता रहता है। रेणुका क्या जानती थी कि उसे सुख ढूंढते ढूंढते असहनीय दुःख मिलेगा? वह तो सुख की मृगतृष्णा में ही भटकती रही!"

मैंने उत्तर दिया, "डॉक्टर साहिब! पक्के घड़े उठा कर उनकी

जगह कच्चे घड़े रखने का खेल जिन लोगों को पसन्द है, उनके शौक अभी मरे नहीं हैं। आप जिसे मृगतृष्णा कहती हैं, वही शायद मानव की परीक्षा है। सोहनी जानती थी कि उसका महीवाल उसके लिए कच्चा घड़ा नहीं रख सकता। कच्चा घड़ा रखने वाले सोचते हैं कि सोहनी को मर कर भी अगर महीवाल मिले तो उनका खेल अधूरा रह जाता है इसलिए उन्होंने खेल के ज़्यादा सधे हुए तरीके निकाले हैं। वे अब खुद अपने हाथों से कच्चा घड़ा नहीं रखते, महीवाल के हाथों से रखवाते हैं। महीवाल बेचारे को तो सारी दुनिया अपनी तरह साफदिल नज़र आती है, उसे तो हर आवाज़ सोहनी की आवाज़ सुनाई देती है, वह सोहनी की आवाज़ पर अविश्वास कैसे करे? महीवाल जब कच्चे घड़े को पक्का समझ कर सोहनी के हाथ में दे देता है तो खेल खेलने वालों के कहकहों से आसमान गूंजने लगता है क्योंकि ये उनके खेल का क्लाइमैक्स होता है। वे जानते हैं कि अब सोहनी मर कर भी महीवाल से नहीं मिल सकेगी, वे हमेशा सोहनी और महीवाल को छटपटाते देख सकेंगे। डॉक्टर साहिब! महीवाल बेचारे को क्या खबर कि उसके हाथ में चालाक खिलाड़ियों ने कच्चा घड़ा दे दिया है? अगर वह कच्चे घड़े की बात जान जाए तो अपने लहू से मिट्टी को गूंथ डाले, दिल की आग से कच्चे घड़े को पक्का बना दे। लेकिन……।"

डॉक्टर सन्ध्या ने मेरी बात को बीच में ही काट दिया। यूं बोली मानों अगर देर हो गई तो उसकी बात कहीं खो जाएगी, "नीरज बाबू! आप सोहनी के विश्वास को नहीं जानते! मैं भी शायद नहीं जानती लेकिन जो जानती थी उसके ख़तों को मैंने पढ़ा ज़रूर है। सोहनी का विश्वास तो कच्चे घड़ों पर तैर कर ही पनपना जानता है और फिर जिस घड़े को महीवाल के हाथ छू जाएं चाहे वह कच्चा ही क्यों न हो, सोहनी सौ पक्के घड़ों को उस कच्चे घड़े के लिए छोड़ने में पल भर

की भी देर नहीं करेगी। खेल खेलने वाले कितना ही चाहें वे सोहनी के विश्वास को नहीं छीन सकेंगे, और जब तक यह विश्वास है सोहनी को महीवाल से कोई भी अलग नहीं कर सकेगा।"

सन्ध्या ने पहली बार मुझे नाम लेकर सम्बोधित किया था। ऐसा शायद उससे अचानक ही हो गया था। वह अपने मन की बात को व्यावहारिक नियमों के पर्दे से ढंकना भूल गई थी। मैंने कहा, "आपने जिसके खतों को पढ़ा है उसने अपने जीवन में प्रेम को संजो लिया है। जिस जीवन में प्रेम समा जाता है वहां असत्य नहीं ठहर पाता। उन खतों में सत्य के अतिरिक्त और कुछ समा ही नहीं सकता। तभी मैंने कहा था कि जिसे आप मृगतृष्णा कहती हैं, वही शायद मानव की परीक्षा है। जब तक मानव की आस्था उसके साथ है परीक्षा में असफल होने की शंका निराधार है। आप रेणुका के पास केवल डॉक्टर और मरीज़ के रिश्ते से ही आती रहीं। यदि कभी उससे इस रिश्ते को भूल आत्मीय की तरह मिल पातीं तो शायद मृगतृष्णा के असली स्वरूप को आप समझ पातीं।"

डॉक्टर सन्ध्या हैरान होकर पूछ बैठी, 'रेणुका चली गई क्या?' —'हां' मैंने कहा।

डाक्टर ने पूछा, 'लेकिन कहां गई होगी?'

मैंने कहा, 'यह दुनिया बहुत फैली हुई है और रेणुका उनमें से नहीं है जो जीवन की बाधा-दौड़ में थक कर बैठ जाते हैं। उसकी, अन्तिम श्वास तक इस बाधा दौड़ में भाग लेने की प्रबल इच्छा है।' सन्ध्या का बचपना मानों लौट आया हो। मचलती हुई सी बोली—एक बात अगर सच सच बताएं तो पूछूं?

—आपको अभी तक जादू की शिक्षा नहीं मिली क्या?

—आप क्या मन में भी मुझे 'डॉक्टर साहिब' कह कर ही परेशान किया करते हैं ?

— इसमें परेशान होने की क्या बात है ?

—मेरा नाम इतना बुरा तो नहीं है कि लिया ही न जा सके ।

— भई, बड़े आदमियों का नाम, छोटे आदमी कैसे ले सकते हैं ?' मैंने हंसी हंसी में ही कह दिया ।

सन्ध्या कुछ पल चुप रही । फिर कुछ बुझे से स्वर में बोली, 'बड़ी, हूं तो नहीं लेकिन अगर आप यही बहाना बना कर इस बुरे नाम को ज़ुबान पर लाने से बचना चाहते हैं तो आपको कैसे रोका जा सकता है ?'

मैंने कहा—अच्छा डॉक्टर सन्ध्या कहा करूं ?

सन्ध्या मेरी आंखों में दूर तक देखती हुई बोली, "जो मन में है वही कहा कीजिए । दूसरों को सत्य का उपदेश देकर स्वयं असत्य को ओढ़े रहना आप जैसे विद्वानों को शोभा नहीं देता ।"

मैंने कहा—तुम्हारे जैसा डॉक्टर मुझे झूठ बोलने ही कहां देगा ?

सन्ध्या मेरी बात को सुनकर कुछ भी बोल नहीं सकी, दूर देखती हुई किसी गहरी चिन्ता में डूब गई ।

कभी कभी न जाने ऐसा क्यों होता है, परन्तु होता है अवश्य कि हम कोई बात कह कर विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्ति के मन में देखना चाहते हैं परन्तु हमारे वही शब्द भिन्न अर्थ लेकर सुनने वाले के मन तक पहुंचते हैं और जैसा हमने चाहा था सर्वथा उससे विपरीत प्रतिक्रिया व्यक्ति के मन में होती है । यदि शब्दों के अर्थ वही रहते हैं तब भी शायद उन अर्थों का प्रभाव बदल जाता है । मैंने सन्ध्या के मन की ऐसी ही प्रतिक्रिया को बहुधा देखा है ।

हम व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की बात करते हैं। संध्या को देख कर मुझे यूं अनुभव होता है कि शायद हम सब स्वतन्त्रता की अधूरी परिभाषाएं लिए ही. अपने सीमित ज्ञान के कारण उसी की प्राप्ति में खो गए हैं। उस [illegible]

सन्ध्या बात करते करते एकदम यूं रुक जाती है मानों किसी पैशाचिक चेहरे की आग्नेय आंखों को देख कर सहम गई हो। उसके बोल गले में अटक कर रह जाते हैं मानों किसी निर्दयी ने उसका गला दबा दिया हो। शब्द उसके मुंह तक आते आते खो जाते हैं मानों मुंह तक आते आते उन्हें बीच में ही किसी ने झपट लिया हो या फिर किसी लक्ष्मण-रेखा को देख उसके पैर बढ़ते बढ़ते ठिठक गए हों। सन्ध्या ने कितनी ही बार अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व की, स्वतन्त्र चिन्तन की बात मेरे सम्मुख कही है। आर्थिक रूप से वह आत्म निर्भर है, जो करना चाहे अपनी इच्छानुरूप कर सकती है, परन्तु उसके चाहने पर भी कौन रोक लगा देता है, यही, वह समझ नहीं पाती। मुझे यूं प्रतीत होता है कि उसने जिस परिभाषा को सत्य मान लिया है, उसके रहते, समझने का विचार आ ही नहीं सकता।

सोचने का अन्त नहीं है। सन्ध्या को देख कर मेरे मन में प्रश्न उठता है, "व्यक्ति ने अभी स्वतन्त्रता के सुलझे रूप को देखा ही कहां है ? और जब तक स्वरूप ही नहीं समझा तो वह उसे प्राप्त करने की बात ही कैसे सोच सकता है ?" नसीम की और मेरी अपनी विवशताएं थीं। हम घंटों बैठ कर स्वतन्त्रता की बात किया करते थे। हमने, स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद मानव प्रगति की रूप रेखाओं के बारे में घण्टों बहस की थी। हमारे अपने सपने थे। हमें उन देशों की स्वतन्त्रता पर आपत्ति थी जहां व्यक्ति का व्यक्तित्व समाज के विधि विधानों में पूर्णतया लुप्त हो जाता है। हमने ऐसी स्वतन्त्रता के सपने देखे थे जहां व्यक्ति का पूर्ण व्यक्तित्व बना रह सके। उसकी चिन्तन शक्ति पर

कोई प्रतिवन्ध न हो। वह समाज की इकाई हो तो अवश्य, परन्तु स्वतन्त्र इकाई। वह शतरंज का मोहरा बन कर न रह जाए जिसे दूसरे की इच्छा पर कभी एक घर और कभी ढाई घर चलना पड़े। व्यक्ति को निर्जीव साधन बना कर कोई उससे अपनी शह और मात की बाज़ी न खेले।

आज वही नसीम जब सन्ध्या बन कर मेरे पास लौट आई है तो मैं सोचता हूं कि क्या हमने नन्हे मुन्हे बच्चों की तरह परी-देशों की कल्पनाएं की थीं। सन्ध्या को देख कर यूं लगता है मानों अभी मंज़िलें बहुत दूर हैं, बहुत तीव्र गति से बढ़ने की आवश्यकता है। और सन्ध्या का मन शायद इस लम्बी राह को देख कर घबरा उठता है। परतन्त्रता की मैल की मोटी परतें हम पर जम गई थीं, अभी हम उस सारी मैल को कहां छुड़ा पाए हैं? इस स्वतंत्रता के वातावरण में व्यक्ति बोलते बोलते झिझक क्यों जाता है? उसके बोलों पर भी उस का अधिकार क्यों नहीं रहता? संतोष है तो यही कि संध्या के माध्यम से मैंने एक और सत्य को पा लिया है, सत्य के रूप के साथ कुछ और जोड़ दिया है।

नसीम ने एक दिन मेरे हाथ को अपने दोनों हाथों में भींचते हुए कहा था, "विदेशियों की ग़ुलामी की ज़ंजीरें हम तोड़ फेंकें, इक़्तसादी तौर पर आज़ाद हो जाएं, ये मज़हब की झूटी दीवारें न रहें, फिर हमें भला कौन अलग कर सकता है?" मैंने नसीम की आंखों में झांकते हुए कहा था, "और हम कितने खुशकिस्मत हैं कि इसी सपने को पूरा करने में लगे हुए हैं। इस दौर के लोगों ने कितना सुनहला सपना देखा है? आज तक लोगों ने ऐसे सपने कहां देखे थे!"

आज नसीम नहीं रही लेकिन सन्ध्या को देख कर यूं लगता है कि नसीम का सपना कुछ पूरा हो चुका है, शेष पूरा हो रहा है। मैं और

सन्ध्या विदेशियों की परतन्त्रता से मुक्त हैं, आर्थिक क्षेत्र में आत्म-निर्भर हैं, साम्प्रदायिकता की दीवारें हमारे बीच में नहीं हैं फिर भी सन्ध्या के चेहरे पर भय, अवसाद, शंका, अविश्वास, निराशा और अनास्था की गहरी छाप क्यों है ? मुझे तो यूं लगता है कि नसीम का सपना अधूरा था। जब तक व्यक्ति के चेहरे पर भय, अवसाद, शंका, अविश्वास, निराशा और अनास्था की छाप है मुझे उसकी स्वतन्त्रता में सन्देह है। शायद सन्ध्या यही सब कुछ देख कर हिम्मत हार बैठी है, उसे डर है कि वह कहीं मंझधार में ही डूब जाएगी। अचानक मन में ख्याल आता है कि अगर आज नसीम होती तो क्या वह भी सन्ध्या जैसी ही होती ?

नसीम ने मेरे हाथ को दोनों हाथों में भींच लिया था, परन्तु सन्ध्या ने जिन शब्दों को मेरे मुंह से सुनना चाहा था उन्हें ही सुन कर वह चौंक उठी है मानों उसने भूल से दहकते अंगारों को मुट्ठी में भींच लिया हो।

अपनी सहेली के विश्वास की बात कह रही थी। जब तब उसी के पत्रों की बात कहा करती है, मानों पत्र ही इसके पथ निर्देशन के लिए महामन्त्र बन गए हैं। कई बार मन में आता है कि सन्ध्या से उसकी सहेली के सब पत्र मांग कर पढ़ डालूं। फिर सोचता हूं कि उन पत्रों ने जिसे गढ़ा है, वही तो है यह सन्ध्या। सन्ध्या के अतिरिक्त उन पत्रों में और अधिक हो ही क्या सकता है ?

सन्ध्या को आश्चर्य है कि रेणुका मृगतृष्णा में भटक कर भी अपने विश्वास को संजोए हुए है ! उसे आशा थी कि रेणुका मृगतृष्णा की चरम परिणति देख कर टूट जाएगी, बिखर जाएगी। उसे आश्चर्य हुआ कि रेणुका थक कर गिरी नहीं, उसने तो कल्पना की थी कि इस व्यथा के बाद रेणुका का प्रेत मात्र रह जाएगा। लोग उस प्रेत को ही

भ्रम वश रेणुका समझा करेंगे, परन्तु रेणुका तो आग में से भी हंसती खेलती निकल आई है। मान लिया कि व्यक्ति आग में से भी निकल सकता है परन्तु निकल कर मुस्करा भी सकता है यही सन्ध्या को आश्चर्य चकित किए है!

रेणुका घर से चली तो मैंने उससे पूछा था, "जो कुछ भी हुआ है, क्या बता सकती हो कि उसकी तुम्हारे मन पर क्या प्रतिक्रिया है?"

रेणुका ने मेरी ओर बग़ैर देखे ही कहा था, "शायद मेरा उत्तर वही न हो जिसे आप सुनना चाहते हैं फिर भी मुझे विश्वास है कि सत्य कैसा भी हो वही आपको प्रिय लगेगा।" पुनः कुछ देर रुक कर उसने कहा था, "इस आग में तप कर मैंने कुछ खोया नहीं है, केवल प्राप्त किया है?"

आश्चर्य चकित होकर मैंने पूछा था, "कलंक और आत्मग्लानि के अतिरिक्त और कुछ भी क्या?"

रेणुका ने संयत स्वर में कहा था, "कलंक और आत्मग्लानि को सत्य से भय लगता है। मुझे कलंक और आत्मग्लानि मिले तो भी मुझे भय नहीं है, क्योंकि वह तो होगा समाज के अपने मलिन रूप का मात्र प्रतिबिम्ब।"

—और वह प्रतिबिम्ब तुम्हारे लिए कुछ भी नहीं?—मैंने आश्चर्य चकित हो पूछा।

—शायद बहुत कुछ हो। इस कलंक गाथा को सुन कर लोग शायद मुझे त्याज्य समझें। जीवन भी बोझिल हो सकता है परन्तु यही सब कुछ नहीं है। इसी विषाक्त वातावरण में जी पाना मेरे लिए असम्भव नहीं है क्योंकि मैंने किसी से विश्वासघात नहीं किया है, ईमानदारी को नहीं छोड़ा है। ईमानदारी के अतिरिक्त और किसी सम्बल की मुझे आवश्यकता भी नहीं है।

मैंने कहा था, "रेणुका, मैं तुम्हारी ईमानदारी में सन्देह नहीं करता परन्तु बहाव में बह कर यदि व्यक्ति समाज के नियमों को भंग करने लगे तो सामाजिक व्यवस्था नहीं ठहर पाएगी और जब सामाजिक व्यवस्था टूट जाए तो व्यक्ति की अपनी प्रगति भी रुक जाती है।"

रेणुका ने कहा था, "टूटने में ही निर्माण के बीज छिपे रहते हैं नीरज बाबू! जो लोग वह नहीं देख पाते उन्हीं को टूटने की चिन्ता रहती है। जो कुछ आज बना दिखाई देता है इसके पीछे भी विध्वंस का लम्बा चौड़ा इतिहास छिपा पड़ा है। परन्तु निर्माण देख कर विध्वंस की बात भूल जाना, यही शायद मानव स्वभाव है।"

रेणुका के उत्तर को सुन कर मैं कुछ पल मौन रहा था। मौन रह कर मैंने अपने आप से प्रश्न किया था, "रेणुका से ऐसे प्रश्न करना कहां तक उचित है?" पुनः मेरे भीतर से किसी ने मुझे पूछने के लिए बाध्य किया था। मैंने कहा था, "तुम शायद विक्षिप्त अवस्था में प्रत्येक तथ्य को ग़लत दृष्टिकोण से परख रही हो। तुमने अपनी बात की पुष्टि में सिद्धान्त का प्रश्रय लिया है अतः उसी परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तब भी मानना पड़ेगा कि हर विध्वंस, निर्माण की सृष्टि नहीं करता। अपने को ठीक प्रमाणित करने के लिए तुम शायद सिद्धान्त को गलत रूप में ग्रहण कर रही हो।"

रेणुका ने उसी संयत स्वर में कहा था, "आप मुझे विक्षिप्त समझ रहे हैं क्योंकि मैं वह नहीं सोच पाती जो आपके मन की बात है। परन्तु मैंने तो विषाक्त वातावरण में ही जीवन भर चलने की बात कही है, विक्षिप्तावस्था में वह कैसे हो सकेगा? दूसरे को अपने ढंग से सोचते न देख, उसे विक्षिप्त कह देना, व्यक्ति की बहुत बड़ी कमज़ोरी है, एक भारी बीमारी है। समाज में यही बीमारी बहुत भीतर तक घर कर गई है अतः समाज का अंग होने के नाते आप भी उन

कीटाणुओं से अछूते नहीं हैं। बीमार पर क्रोध न कर, उससे सहानुभूति करने की शिक्षा तो मैंने इन कुछ दिनों में आपके जीवन से ही ग्रहण की है अतः मुझे आपसे कोई भी शिकायत नहीं है।"

मैंने कहा, "आप शायद बात का रुख पलट कर मेरे प्रश्न का उत्तर देने से बचना चाहती हैं। आपको विवश नहीं करूंगा, आपकी इच्छा न हो तो भले ही उत्तर न दें। आपका मौन अथवा बात को पलटना ही मेरी बात की पुष्टि के लिए पर्याप्त है।"

रेणुका बुझी सी मुस्कराहट होंटों पर लाती हुई बोली, "मैंने तो केवल अपनी स्थिति स्पष्ट करने के लिए ही यह बात कही है। आप भी कैसी बात करते हैं? आपकी बात का उत्तर देने का मोह त्याग सकूं इतनी त्यागमयी मैं नहीं हूं। और फिर आज के बाद आपको उत्तर देना भी चाहूंगी तो आप मुझे कहां मिलेंगे?" रेणुका कुछ पल चुप रही, फिर आवाज़ संभालती हुई बोली, "आपकी बात स्वीकार करने में मुझे आपत्ति नहीं है। मैं मानती हूं कि प्रत्येक विध्वंस निर्माण की सृष्टि नहीं करता परन्तु प्रत्येक विध्वंस, विध्वंस ही कहां होता है? पक्षी चोंच में तिनका तिनका बीन कर अपने नीड़ की सृष्टि करते हैं, फिर आंधी का प्रबल झोंका उन तिनकों को हवा में बिखेर देता है, बेचारे पुनः तिनका तिनका बीनने चल पड़ते हैं क्योंकि अपने नीड़ की सृष्टि करते समय उन्होंने विध्वंस की बात सोची ही कहां होती है? नीरज बाबू! आप जैसा अनुभवी व्यक्ति आंधी के उत्पात को पक्षियों की विध्वंस लीला कैसे कह सकेगा? और लोग ऐसा कहते हैं तो उनके अज्ञान की बात सोच कर मन में उनके प्रति क्षमा का भाव उत्पन्न होता है परन्तु आप जैसे सुयोग्य व्यक्ति भी जब वही बात कहते हैं तो मन को बहुत दुःख होता है।" कुछ रुक कर एक गहरी श्वास छोड़ते हुए रेणुका ने कहा था, "जिसे घर कहते हैं,

वह हम लोग पाकिस्तान छोड़ आए। फिर भी मुझे घर के आंगन में लगा छोटा सा खट्टी का पेड़ आज तक नहीं भूलता। रंग बिरंगी चिड़िया के जोड़े ने उस पर घोंसला बना कर अंडे दिए थे। मैं हर रोज़ प्रतीक्षा किया करती कि अंडों में से नन्हें नन्हें चिड़िया के बच्चे निकलेंगे। एक दिन देखा तो आंधी से गिर कर अंडे टूट गए थे। मैं उस दिन बहुत उदास रही थी। आज वही बात स्मृति में घूम जाती है तो मैं उदास नहीं होती। सोचती हूं, उस चिड़िया ने हिम्मत नहीं हारी, तो क्या मैं उससे भी गई बीती हूं? हां! एक बात अवश्य सोचती हूं कि अंडे फूट जाने पर वह चिड़िया का जोड़ा प्रसन्न नहीं हुआ होगा। प्रसन्न होता तो वे दोनों पक्षी अजीब सी दर्द भरी आवाज़ में दिन भर क्यों रोते रहते?"

विदा होते समय रेणुका की आंखों में आंसू छलछला आए थे। भर्राई सी आवाज़ में बोली थी, "नीरज बाबू! बहुत जी चाहता है कि आपको बड़े भैय्या कह कर पुकारूं। बड़ा भाई कैसा होता है मैं अभागी नहीं जान पाई। आज अनुभव करती हूं कि अगर मेरा बड़ा भाई होता तो शायद आपके जैसा ही होता। वह शायद कुल मर्यादा के भय से मुझे घर से निकाल भी देता परन्तु आपने तो मुझ कलंकिनी को प्रश्रय दिया है। लेकिन मेरा कलंक आपको न छू जाए, इसी भय से आपको भाई कह कर नहीं पुकार सकूंगी।" कुछ संयत होकर बोली थी, "परिस्थितियों ने मुझे बहुत भावुक बना दिया है। जहां भी रहूंगी आप मुझे बहुत याद आया करेंगे। मैं जानती हूं, आपका क्रोध केवल उन पर है जो मुझे कलंकिनी बना कर छोड़ गए हैं परन्तु कभी अपने अनुभव से उनके निर्दोष होने की बात आप जान सकें तो उन्हें अवश्य क्षमा कर दीजिएगा। न जाने ज़िन्दगी में आपसे फिर कभी मुलाकात हो या न हो लेकिन यह अवश्य याद रखिएगा कि आपकी यह कलंकिनी बहिन जहां भी रहेगी आपको भूल नहीं सकेगी।"

कुछ लोग ऐसे होते हैं कि चले जाने के बाद भी जा नहीं पाते। मैं और सन्ध्या जब कभी मिलते हैं रेणुका की बात न जाने कहां से हमारी बातों में आ जुड़ती है। हम उसी को लेकर घण्टों विचार विनिमय करते रहते हैं। जिसके स्पर्श मात्र से असत्य की मैल धुल जाती है, उसको कलंकिनी कैसे मान लूं? रेणुका की बातों के स्पर्श मात्र से सन्ध्या कितनी उजली होती जा रही है! लोगों के लिए कितनी सहानुभूति इसमें सिमट आई है! यदि रेणुका कलंकिनी है तो उसमें लोगों के मनों को स्वच्छ करने की यह अनोखी सामर्थ्य कहां से आ गई है?

सन्ध्या ने अपनी सखी की दुःख गाथा मुझे सुनाई है। सुनयना जिस दुःख में टूट कर गिर पड़ी थी, रेणुका उससे कहीं अधिक दुःख में से और अधिक सशक्त होकर उभरी है। सुनयना को दुःख ने घुन की तरह खा लिया था, उसे टी०बी० हो गया था। रेणुका ने दुःख को पचा लिया है, टी०बी० उसकी छाया से कोसों दूर भागता है। सन्ध्या आश्चर्य में डूब गई है कि व्यक्ति के आगे दुःख इतना बेबस भी हो सकता है? उसने आज तक सुनयना की पहुंच तक ही सत्य की सीमा मानी थी आज उससे बड़ा सत्य देख कर उसकी आंखों में विस्मय भर गया है।

विस्मय व्यक्ति के मन में आगे बढ़ने की प्रेरणा उत्पन्न करता है। वह जान लेना चाहता है कि इस विस्मय की सीमा रेखा कहां तक चली गई है? परन्तु वही विस्मय व्यक्ति को निरुत्साही भी करता है। अनन्त सीमा को देख उसका मन कांप जाता है। वह मान बैठता है कि वह सीमा रेखा के छोर तक कभी भी नहीं पहुंच सकेगा। सन्ध्या भी जीवन के ऐसे ही दोराहे पर आकर रुक गई है। सोच नहीं पाती, सीमा रेखा का अंत देखने निकल पड़े या जहां तक पहुंची है, वहीं रुक कर जीवन बिता दे? डॉक्टरी पढ़ा उसका मस्तिष्क सोचता है—विज्ञान की सीमाएं अनन्त तक फैल गई हैं तो क्या इसी से वैज्ञानिक

अनुसंधान कर्ता अपने अनुसंधानों को स्थगित कर दें ? अगर सब यही सोचते तो आज नील गगन में चमकता चन्द्रमा व्यक्ति को मुस्करा कर बुलाते बुलाते थक नहीं जाता क्या ? आज जब व्यक्ति चन्द्रमा से हाथ मिलाने को है तो चांद कैसी मीठी हंसी हंस रहा है !—सुनयना के सत्य से स्पर्शित संध्या का मन सोचता है— चांद तक पहुंच कर भी मानव यदि स्वार्थी और लोभी बना रहा, निष्ठुर और नीरस बना रहा तो कहीं चांद की मुस्कराहट भी गहरी विषाद रेखा में न बदल जाए ? आगे चलते रहना कहां तक ठीक है ? क्यों न यहीं बैठ कर जीवन काट दिया जाए ?

ऐसे ही समय में न जाने यह रेणुका कहां से बहती बहती पास आ गई है। यह कह कर आगे बह गई है, "गति ही जीवन है। निष्ठुरता और स्वार्थ तब तक है, मानव ने जब तक पूर्ण सत्य के दर्शन नहीं किए हैं। सत्य तो सुन्दर है, शिव है उसमें कटुता और निष्ठुरता कहां ! गति रुक गई तो जीवन कहां रहेगा ? यदि जीवन न रहा तो इस कठोरता को कौन दूर करेगा ?" संध्या यह सुन कर गहरी सोच में खो गई है।

रेणुका बह कर दूर चली गई है, लेकिन दूर कहां जा पाई है ? नसीम और संध्या में से कौन दूर है, कौन पास, समझ नहीं पाता। संध्या पास आकर भी पास कहां आई है ? यूं प्रतीत होता है कि बन्द किले की, किसी ऊंची खिड़की से पर्दा हटा कर संध्या कहीं दूर देख रही थी कि अचानक मैं उसकी दृष्टि के दायरे में आ गया हूं। अनायास ही मेरी दृष्टि भी उधर उठ गई है। मैं उसे देख रहा हूं और साथ ही उस गहरी और चौड़ी खाई को जो मेरे पास से होती हुई उस किले के सुदृढ़ द्वार तक चली गई है जिसमें बहुत तेज़ और नोकीले लोहे के कील जड़े हुए हैं। हम दोनों टकटकी बांधे न जाने कितनी देर से एक दूसरे को देखे जा रहे हैं।

इस खाई में, नसीम कहां से बहती बहती पास आ गई है। पास आकर कह रही है, "नीरज! मुझसे यह सब सहा नहीं जाता। मैं तुम्हारे लिए पुल का काम दे सकूं तो इसे मेरी खुशकिस्मती समझो। लेकिन बंद दरवाज़े तक पहुंच कर भी क्या होगा? उन नोकीले कीलों से तुम्हारा जिस्म छलनी हो गया तो मैं कहां बर्दाश्त कर सकूंगी?"

ऐसी स्थिति में ही मैंने शरत् बाबू की बात के साथ इतना और जोड़ दिया है, "समझ में नहीं आता कि जो दूर जाकर भी पास आ गया है, वह सत्य है; अथवा जो पास रह कर भी दूर चला गया है, वह सत्य है?" क्या हमारे पास ऐसे मानदण्ड हैं जो इस दूरी और निकटता का सही सही लेखा जोखा प्रस्तुत कर सकें?

ऐसी मनः स्थिति में रेणुका अचानक ही बहती बहती पास आ जाती है। कहती है, "गति ही जीवन है। जीवन ही ठहर जाएगा तो सत्य की प्राप्ति कैसे हो सकेगी?" और ये बाबा दिलीपसिंह, जिनके बारे में मैं यह भी नहीं जानता कि कहां हैं, कैसे हैं? हैं भी या नहीं? जेल से जीते जी लौट भी सके थे या नहीं? कहां से बहते बहते आज पास आ गए हैं। उनके बोल कानों में यूं गूंज रहे हैं जैसे पल भर पहले उन्होंने कहा हो, "इन्सान आगे बढ़े बग़ैर रह ही नहीं सकता यही उसका स्वभाव है।"

मैं और सन्ध्या, रुक कर भी कहां रुक सके हैं? न चाहते हुए भी जीवन की लम्बी सड़क पर भागते चले जा रहे हैं। दम भर रुक कर कभी-कभी सोच लेते हैं, फिर भागने लगते हैं। क्या जाने भागते भागते ही जीवन निश्शेष हो जाए! यह भी कौन जाने कि कहां तक यह राह एक ही चली गई है और कहां जाकर अलग अलग दिशाओं में फैल गई है? मैंने कब सोचा था कि संध्या मेरे जीवन में आएगी? यह भी क्या पता कि जब चाहूंगा कि जीवन में से लौट कर न जाए तो ऐसा हो भी सकेगा या नहीं?

● ● ●

★नरेन्द्र

मुझे यूं प्रतीत होता है कि मैं चलते चलते दुनिया के अंतिम छोर पर पहुंच गया हूं। एक भी कदम आगे बढ़ाने की हिम्मत मुझमें नहीं है। इस विशाल दुनिया में मेरा दम घुट रहा है। एक क्षण पहले मैं जो कुछ था, धरती का सबसे सुखी प्राणी, अब सबसे अभागा बन गया हूं।

आज मैं समझ पाया हूं कि एक मित्र जब जीवन में से निकल जाता है तो जीवन कितना सूना हो जाता है! आज तक मैंने कभी जाना ही नहीं था कि मेरा कोई मित्र है? नीरज को देख कर भी मैंने नहीं देखा, मानों मुझसे अलग उसका अस्तित्व ही न हो। अब लगता है कि मैं कहीं ढेर होकर गिर पड़ूंगा क्योंकि जिसके सहारे मैं जीवन की कांटों भरी राह को, हंसते खेलते पार कर आया वही सहारा मुझसे छिन गया है।

जीवन में सभी कुछ तो है। वही चिर परिचित लोग हैं, वही सगे संबंधी हैं। रेणुका, जिसे मैंने समझा था कि मुझसे अब बात तक नहीं करेगी, वह भी अपनी है। मेरे चारों ओर उसी तरह से लोग हंस रहे हैं, गा रहे हैं, सभी कुछ तो है लेकिन नीरज के न होने से यह सब, कुछ भी नहीं रहा। यह सब चहल पहल, हंसी खुशी सुन कर मुझे ऐसा आभास हो रहा है कि मैं किसी असीम मरुस्थल के तपते टीलों में भटक गया हूं। कहीं बहुत दूर से, किसी काफ़िले के ऊंटों के गले में बंधी घंटियों की आवाज़ें मुझे सुनाई दे रही हैं। मैं पूरे ज़ोर से चिल्लाना चाहता हूं, "काफ़िले वालो! मुझे भी साथ ले लो। मैं भटक गया हूं।" लेकिन सूखे गले से आवाज़ भी नहीं निकल पाती। मैं कभी उस

काफ़िले तक नहीं पहुंच पाऊंगा ! धीरे धीरे ये घंटियों की आवाज़ें दूर, बहुत दूर निकल जाएंगी और मैं यहीं कहीं किसी टीले के पास थक कर गिर पड़ूंगा। फिर कभी नहीं उठ सकूंगा ! मरुस्थल की तेज़ आंधियां आएंगी और मेरे निर्जीव शरीर के ऊपर कोई टीला बनाती हुई आगे निकल जाएंगी !

यह मुझे क्या हो गया है ? मैं ऐसी बातें क्यों सोचने लगा हूं ? समझ लूं जैसे और लोग जीवन में मिलते हैं, चलते चलते राह में नीरज भी मिल गया था। अब अलग राह पर बढ़ गया है तो मुझे दुःख क्यों हो ? जितनी देर जीवन में साथ रहा ठीक है, मैं किसी को बांध कर कैसे रख सकता हूं ?

लेकिन ऐसा कहां हो पाएगा ! कितना विवश हो गया हूं मैं ! आज नीरज के न रहने से मैं वास्तविकता को समझ सका हूं। जीवन में मैं कभी जम नहीं सका। जमा ही नहीं तो रमता कैसे ? पिता का सुख मैंने नहीं जाना। मां और बड़े भाई ने समझा था कि शादी होने पर मेरा जीवन जम जाएगा परन्तु पिता की मृत्यु के बाद उन ईंटों को कल्लर खा गया था जिनके सहारे मां और भाई ने महल खड़ा करने की बात सोची थी। शादी के बाद हम सब ने मिल कर स्नेह, प्रेम, ममता, त्याग, सहानुभूति और शुभकामना की ईंटों को बहुत जमाना चाहा लेकिन कल्लर लगी ईंटें भला कैसे एक दूसरे पर जमतीं ? मैं घबरा कर भाग खड़ा हुआ, ज़माने की तेज़ आंधी मुझे जिधर उड़ाती रही मैं उड़ता रहा। लोगों ने समझा कि मैं बहुत तीव्र गति से लक्ष्य की ओर भाग रहा हूं। बहुत से मेरे पीछे हो लिए। मैं भी शायद बहुतों के पीछे अनजाने ही दौड़ रहा था। किसी के पास इतना अवकाश नहीं था कि रुक कर लक्ष्य की बात सोचे क्योंकि सभी कल्लर लगी ईंटों के महल बनाते बनाते विक्षिप्त होकर दौड़ पड़े थे

और सब को आंधी की लहर अपने साथ उड़ाए लिए जा रही थी। हां! मेरे अंदर बैठा कोई निरन्तर कहता रहता, 'नरेन्द्र! बस भागता चल, कहीं न कहीं मंज़िल अवश्य मिलेगी। कल्लर लगी ईंटों के जर्जर मकान की छत के नीचे दबने से भागते रहना कहीं बेहतर है।'

इसी तरह भागते भागते एक दिन मिल गया नीरज। वह भी कल्लर लगी ईंटों के मकान से निकला था लेकिन विक्षिप्त हो कर भाग नहीं रहा था। बस मज़बूत कदमों से लगातार किसी ओर बढ़े जा रहा था। मैं साहस करके पूछ ही बैठा, 'आप किधर चले जा रहे हैं?' उसने धीमी परन्तु विश्वास भरी आवाज़ में उत्तर दिया, 'जहां स्नेह, प्रेम और त्याग को कटुता, शंका और स्वार्थ का कल्लर नहीं लगता।' मैंने ऐसी बात पहले किसी के मुंह से नहीं सुनी थी। मैं अचानक पूछ बैठा, 'मैं भी आपके साथ चलूं?' नीरज ने उसी धुन में कहा, 'मेरे साथ रह कर शायद आप भागते हुए आदमियों से पिछड़ जाएंगे। यह भी हो सकता है कि कहीं पर भी न पहुंच सकने का ग़म आपको ज़िंदगी भर सताता रहे।'

मैं दौड़ नहीं सका, नीरज के साथ ही हो लिया। लोगों ने समझा मैं थक कर पिछड़ गया हूं। मुझसे आगे दौड़ने वालों ने पीछे पलट कर जब देखा कि मैं नहीं हूं तो उन्होंने समझा कि मैं शायद भटक गया हूं। और मैंने नीरज के साथ चल कर जाना कि एक ऐसी भी ज़िंदगी है जहां हर कदम मंज़िल होती है, जहां हर दुःख भरे गीत के पीछे आत्म विश्वास लहराता रहता है, जहां हर आंसुओं भरी कहानी में आशा के फूल छिपे रहते हैं। इस सफ़र में आदमी को अपने हर कदम पर विश्वास होता है, वह जहां भी गिरता है, मील के पत्थर की तरह अटल बना रहता है।

उसी नीरज ने मुझे आज दुत्कार दिया है। उसने कहा है कि मैं

उसके साथ चलने लायक नहीं हूं। मैं कहना चाहता हूं, "नीरज, मैं चला कहां हूं ? तुम्हारी उंगली थामे ही तो यहां तक आ पहुंचा हूं। आज मुझे परे धकेल दोगे तो मैं एक कदम भी तो नहीं बढ़ सकूंगा।"

नीरज और मैं, एक दिन, नीरज की लिखी एक कहानी पर बहस कर रहे थे। नीरज ने लिखा था, "कुछ व्यक्ति जीवन में आते हैं तो हम उन्हें जाने के लिए कह नहीं पाते क्योंकि उनके आने से एकदम हवा के रुख अनुकूल हो जाते हैं। हमारी पाली नौका तीव्र गति से अनन्त, अगाध जलराशि पर दौड़ने लगती है। परन्तु जब ऐसे व्यक्ति जीवन से चले जाते हैं तो हम चाहते हैं कि वे जीवन में न आते वही अच्छा होता। क्योंकि जब वे जाते हैं तो हमारी नौका को बहुत गहरे भंवर में उलझा जाते हैं और उस भंवर में हमारी नौका फिरकी की तरह घूमती रहती है।"

मैंने कहा था, "तुम शायद ज़रूरत से ज़्यादा अपनी प्रशंसा के पुल बांधने में विश्वास रखते हो ?"

नीरज फक्कड़ हंसी हंसता हुआ बोला था, "नरेन ! अभी तो मैं तुम्हारी ज़िन्दगी में आया हूं इसलिए जाने वाली बात पर तुम कैसे यकीन कर सकते हो ? अगर कभी चला गया तो हक़ीक़त तुम्हारी समझ में आएगी।" हंसते हंसते नीरज अपने स्वभाव के अनुसार एक दम गंभीर हो गया था और उसने बात को आगे बढ़ाया था, "नरेन, मैंने ज़िन्दगी में से किसी के चले जाने के बाद की हालत को भी देखा है। मैंने जीवन में जिस सत्य को अनुभव किया है उसी की बात कहानी में कही है। मुझे संतोष है तो यही कि मैंने उधार मांगी हुई सचाई से व्यापार करना नहीं सीखा है।"

नीरज जब मेरे जीवन से निकल गया है तो मैं समझ पा रहा हूं कि नीरज ने कितनी बड़ी बात कहानी में कही थी ? जिसे मैं उस दिन

साधारण सा कहानी का अंश समझ रहा था उसमें कितनी गहरी वेदना थी !

नीरज ने बिछुड़ते समय मुझसे कहा है, "नरेन्द्र ! मुझे इस बात में रत्ती भर भी आपत्ति नहीं है कि तुम्हारे सम्बन्ध रेणुका के साथ क्यों रहे हैं ? यदि तुमने स्वतन्त्र रूप में यही जीवन पथ चुना है तो मुझे इसमें आपत्ति क्यों हो ? वह बात अलग है कि मैं तुम्हारे स्वतन्त्र चिन्तन को स्वतन्त्रता का लंगड़ा रूप समझता हूं। कुछ लोग इसी लंगड़े रूप को, नशे में बहका स्वतन्त्र चिन्तन भी समझ सकते हैं। खैर ! छोड़ो इस बात को। मुझे तो आपत्ति इस बात में है कि तुमने मुझे धोखे में रखा है। मुझसे विश्वासघात किया है। तुमने मुझे ग़ैर समझा है तभी तुमने मुझे रेणुका के साथ अपने सम्बन्ध की बात नहीं बताई। मैं कितने बड़े अंधेरे में था जो हमेशा तुम्हें अपना समझता रहा ! नरेन्द्र, मैंने जीवन में विश्वासघाती का साथ कभी पसन्द नहीं किया चाहे वह कितना ही परम मित्र क्यों न हो ? मैं विश्वासघात को दुनिया में सबसे बड़ा पाप समझता हूं और इसके लिए मेरे मन में रत्ती भर भी क्षमा नहीं है। मैं यही चाहता हूं कि तुम अभी इसी क्षण मेरी ज़िन्दगी से निकल जाओ। जीवन में फिर कभी मुझे मिलने का प्रयत्न न करना। कभी ऐसा विचार मन में उठे तो याद रखना कि नीरज के जीवन में विश्वासघाती के लिए कोई जगह नहीं है।"

दुःख का इतना तीव्र अनुभव मैंने जीवन में कभी नहीं किया जितना आज कर रहा हूं। मुझे तो यूं लगता है कि किसी अंधेरी रात में लुटेरों ने मेरा सब कुछ लूट कर मुझे कंगाल बना दिया है। मैं कैसे नीरज को अपना दिल चीर कर दिखाऊं कि मैं विश्वासघाती नहीं हूं। मुझे विश्वासघाती कह कर तुमने मुझे दुनिया की सबसे बड़ी

गाली दी है। और कोई होता तो मैं इतना सुनते ही उसका गला दबोच लेता लेकिन नीरज का गला कैसे पकड़ूं ? नीरज का गला दबा कर मैं जीते जी मर जाऊंगा। मैं दुनिया के सब दुःख सहन कर सकता हूं परन्तु न जाने नीरज में ऐसा क्या है कि उसे दुःखी देखते ही मुझे अपनी दुनिया लुटती नज़र आती है।

मुझे क्या पता था कि नीरज को दुःख न देने का मेरा प्रयास उसकी दृष्टि में 'विश्वासघात' बन जाएगा। मैंने तो यही चाहा था कि मेरी और रेणुका की यह कलंक गाथा, सदैव नीरज से छुपी रहे ताकि नीरज असीम दुःख की वेदना से बच सके। मैंने स्वप्न में भी कब सोचा था कि रेणुका की और मेरी कलंक भरी कहानी से नीरज के घर में ही पर्दा उठेगा ? अगर मुझे यह पता रहता तो मैं क्यों रेणुका को नीरज के घर तक खेंच कर लाता ? मैंने ही तो रेणुका को नीरज के घर तक पहुंचा कर अपने मित्र के घर में आग लगाई है। सचमुच मैं विश्वासघाती हूं। मैंने विश्वासघात किया है मुझे दुनिया का कठोर से कठोर दण्ड मिलना चाहिये।

उधर रेणुका की बात भी तो मेरी समझ में नहीं आती। उसने मुझसे विदा लेते समय आंसू भरी आंखों से कहा है, "नरेन ! मैंने या तुमने जो कुछ भी किया है, वह पाप नहीं है, पाप तो इसे बनाया गया है। मैं जानती हूं कि नीरज बाबू की बातों से तुम्हारे मन को बहुत धक्का लगा है परन्तु मैं तुम्हारे मित्र को तुम से कहीं अधिक अच्छी तरह जान गई हूं। नीरज बाबू महान हैं। समुद्र में कितने ही बड़े बड़े तूफान उठते रहें समुद्र अपने किनारों को नहीं छोड़ता। तुमने नीरज बाबू के क्रोध को देखा है, क्षमा को नहीं देखा। क्षमा के दर्शन तो मुझ अभागिन को हुए हैं, तुम उस क्षमा को कैसे पहचान सकते हो ? उस क्षमा में धुल कर मैं कितनी पवित्र हो गई हूं, उसे

मेरा मन ही जानता है, दुनिया उसे नहीं देख सकती, तुम भी शायद उसे अभी नहीं समझ सकते।"

रेणुका ने मुझे बताया है कि मेरे कलंक के भार को नीरज ने अपने कंधों पर ओट लिया है। नीरज ने तो अंत समय तक भी यह बात मुझसे नहीं कही। यदि मैं नीरज को पहले से ही अपने और रेणुका के सम्बन्ध की बात बता देता तो वह मुझे अवश्य क्षमा कर देता। परन्तु मेरे मुंह में न जाने क्यों ताला लगा रहा? सचमुच मैं पापी हूं। मैंने शायद यही सोचा था कि नीरज को बता कर मैं उसकी नज़रों से गिर जाऊंगा और उसकी नज़रों में एक बार गिरा आदमी फिर नहीं उठ सकता। नीरज को मैंने दुःख से बचाने की बात नहीं सोची मैंने तो स्वार्थ की बात सोची है। नीरज को दुःख से बचाने की बात तो मन को झूठा संतोष देने का प्रयत्न है, आत्म छलना है। मैं कितना बड़ा पापी हूं! नीरज ने अच्छा किया जो मुझ जैसे पापी को ठुकरा दिया।

रेणुका कहती है कि जो कुछ हम ने किया है, वह पाप नहीं है, पाप तो इसे बनाया गया है। मेरे परिचित, मेरे अनुयायी मुझे बहुत अनुभवी और परिपक्व व्यक्ति समझते हैं। क्या वे ही समझते हैं? मैं भी तो अपने को यही समझता रहा हूं। नीरज ने कहा है कि मैं जिसे स्वतन्त्र चिन्तन समझता हूं वह चिन्तन का लंगड़ा रूप है। इन बातों को सोचते सोचते मेरा मस्तिष्क फटने लगा है। सब कुछ एक दूसरे में गडमड हो गया है। मुझे तो यूं लगता है कि मैं किसी की बात भी नहीं समझ सकता, अपनी बात भी नहीं समझ सकता। आवश्यकता भी क्या है इन उलझी गुत्थियों को सुलझाने की? निश्चेष्ट होकर पड़ा रहूं, बवंडर में तिनके की तरह उड़ता रहूं, इसी में शायद सुख की प्राप्ति हो सके!

ओह ! आज तक मैंने इससे अधिक किया ही क्या है ? हां ! इसी निश्चेष्ट रूप में उड़ते रहने को नाना प्रकार के सिद्धान्तों के सुनहले आवरणों में लपेट कर अपने आप को छला है। लोग मुझे बहुत बड़ा नाटककार, महान कवि समझते हैं परन्तु मैंने इस निरर्थक और विवश उड़ते रहने के अतिरिक्त अपने नाटकों में, अपने गीतों में दरसाया ही क्या है ? इसी विवशता तथा निरर्थकता को मैंने शब्दों के बहुरंगी रंगों में डुबो कर लोगों को मुग्ध किया है, उनसे प्रशंसा प्राप्त की है। परन्तु अन्तश्चेतन ने तो सचाई को सदैव समझा है, रह रह कर मेरी हंसी उड़ाई है। मैं शायद अपने अन्तर्मन के सामने सदैव झूठा रहा हूं। क्योंकि लोगों को मेरा यही रूप पसन्द आ गया है अतः मुझे भी अपने इसी रूप से मोह हो गया है। दुनिया मुझे त्यागी समझती है परन्तु मुझ सा लोभी कौन होगा ? प्रशंसा के लोभ में वही कहा करता हूं जो लोगों के कानों को भला लगे, लोगों की आंखों को प्रिय हो। नीरज कहता है, 'नरेन ! लोगों की वाहवाही ही कला को परखने की एकमात्र कसौटी नहीं है क्योंकि लोगों ने अभी पूर्ण सत्य के दर्शन ही कहां किए हैं ? उनकी वाहवाही के लोभ में फंस कर मन के सत्य को न कहना उतना ही बड़ा आडम्बर है जितना 'कला, कला के लिए' का आडम्बर। यदि कलाकार लोगों की प्रशंसा और करतलध्वनियों के लोभ में फंस कर अपने अनुभूत सत्य को प्रकट नहीं करेगा तो उसमें और विदूषक में अन्तर ही क्या रह जाएगा ? हमें यह लोभ क्यों हो कि हम जितनी जल्दी हो सके अपनी कला की वाहवाही वसूल कर लें ? जो ऐसा चाहते हैं, करते हैं उनकी समझ से मेरा मेल नहीं बैठ पाता।'

नीरज की इस बात को मैंने अक्सर मज़ाक में उड़ा दिया है। उसे खब्ती और सिरफिरा कह कर बात को टाल दिया है लेकिन मेरा

अन्तर्मन शायद उसकी बात को कभी भी झुठला नहीं सका। नीरज जो कुछ कहता है, मेरे मन में कहीं गहरा पैठ जाता है। उसने मेरे चिन्तन को लंगड़ा कहा है, इसमें रत्ती भर भी तो झूठ नहीं है। यदि ऐसा न होता तो मेरी शुभाकांक्षा, विश्वासघात में क्यों परिवर्तित होती? यदि मेरा चिन्तन स्वस्थ और सशक्त होता तो किसकी हिम्मत थी कि जो पाप नहीं था, उसे पाप बना देता?

नीरज से मैंने एक दिन हंसी हंसी में पूछा था, "यदि किसी की पत्नी पापाचरण में प्रवृत्त हो तो उसे क्या करना चाहिये?"

नीरज ने हंसते हंसते कहा था, "पूरी, केस हिस्ट्री पता हो तो वकील कुछ राय भी दे सके। पहेलियां बूझना वकीलों का पेशा नहीं है।"

मैंने बात टालते हुए कहा, "अपने नाटक में मैं ऐसा ही एक पात्र चुन बैठा हूं। समझ में नहीं आता कि ऐसे पात्र को कैसे आगे बढ़ाया जाए?"

नीरज ने उसी तरह हंसते हुए उत्तर दिया, "तुम्हारे जैसा नाटककार ईंट का जवाब पत्थर से दे। पत्नी जब पापाचरण में प्रवृत्त है तो फिर पति महोदय सदाचारी रह ही कैसे सकते हैं? पात्र को इस दिशा में मोड़ने से प्रशंसा की अतुलराशि अनायास ही मिल सकेगी। लोग कहेंगे कलाकार का आउटलुक कितना रियलिस्टिक् है। रियलिस्ट का सम्मानित पद प्राप्त करके आपके कलाकार का सिर गर्व से ऊंचा हो जाएगा।"

मैंने कहा, "आपकी नेक राय क्या है?"

नीरज ने कहा, "मुझ जैसा खब्ती नेक राय दे ही कैसे सकता है?" मेरे मन में नीरज का विचार जानने की उत्सुकता जाग उठी थी।

मैंने कहा, "नेक न सही, आप अपनी फटीचर राय की बात ही कहिये ?"

नीरज कुछ पल सोचता रहा, फिर गम्भीर स्वर में बोला, "पति को चाहिये कि वह पत्नी को क्षमा कर दे। इसमें और किसी को लाभ हो या न हो पति का अपना लाभ अवश्य है। केवल क्षमा में ही ऐसी शक्ति निहित है जो पत्नी के अनाचार को धो सकेगी। हां! पात्र की यह दुर्दशा देख कर लोग आपको फटीचर कलाकार के नाम से ही याद करेंगे, रियलिस्ट के सम्मानित पद से आप अलंकृत नहीं हो सकेंगे।"

नीरज की बात आज समझ में आई है। समझ में आई है तो उसके सदुपयोग का सुअवसर अतीत में कहीं खो गया है। यदि मैं ईंट का जवाब पत्थर से न देता तो शायद मनोरमा वैसी न होती जैसी बन गई। उसके, पाप पंक में फंस जाने का उत्तरदायित्व मुझ पर है। मैंने उसे कभी क्षमा नहीं किया। प्रतिशोध की अग्नि ने मुझे ही झुलस डाला। यदि रेणुका ने कहीं से आकर मुझे उस आग से बाहर न निकाल लिया होता तो मैं आज से बहुत देर पहले जल कर राख हो चुका होता। रेणुका ने ही मुझे समझाया कि मनोरमा पर क्रोध करना व्यर्थ है क्योंकि वह पापी नहीं है, पाप उस पर लादा गया है।

सचमुच मनोरमा को पाप पंक में धकेलने में मेरा भी हाथ है। मैंने ही कब उसकी इच्छाओं की ओर ध्यान दिया है। मैंने सदा ही उसे अपनी सम्पत्ति समझा है। यह समझा है कि मेरी सम्पत्ति पर मेरा पूर्ण अधिकार है। अनपढ़ और गंवार कह कर उसकी हंसी उड़ाई है। कभी उसे सहानुभूति के दो शब्द नहीं कहे। जब उसके लिए दो समय का भोजन जुटाने में मुझे प्रयत्नशील होना चाहिये था मैं अपने लिए प्रशंसा के सिक्के बटोरने में तल्लीन रहा हूं। प्रशंसा मुझे मिली है

परन्तु मनोरमा को तो भूखे रहना पड़ा है। जब उसने अपनी सहनशीलता के लिए मेरे मुख से सहानुभूति के दो बोल सुनने चाहे हैं, मैंने उसके कानों में विष की बूंदें उंडेली हैं। ऐसे में मनोरमा को अगर किसी और से स्नेह मिला है, प्यार मिला है, वह उसकी ओर झुक गई है तो इसमें उसका क्या दोष ?

मैं इधर अपने नाटकों में उलझा रहा हूं परन्तु घर की थोड़ी सी ज़मीन को तो मेरे भाई ने संवारा है। अपने खुरदरे हाथों से उसने ज़मीन को नया रूप दिया है। सर्दी, गर्मी सह कर घर भर के लिए दो जून रोटी जुटाई है। मैंने तो महीनों तक घर की ओर आंख उठा कर भी नहीं देखा कि कौन मरता है, कौन जीता है ? ऐसे में यदि मनोरमा ने मुझे छोड़, मेरे भाई को अपना लिया तो क्या बुरा किया उसने ?

लेकिन मैं क्या झूठी प्रशंसा बटोरने में ही लगा रहा हूं ? मैंने तो जन संघर्ष में अपना जीवन झोंक दिया है। मैंने उन लोगों की प्रशंसा में गीत लिखे हैं जो ज़माने की शक्ल संवार रहे हैं। जब कभी जन आन्दोलनों में मेरी आवश्यकता हुई है, मैं बहादुर सिपाही की तरह उनमें कूद पड़ा हूं। कितनी बार जेल गया हूं, कितनी बार लाठियां खाई हैं, कितनी बार अधपेट खाकर सो गया हूं ? कितनी बार पैसों के अभाव में बीसियों मील मैंने पैदल सफर किया है ? क्या केवल प्रशंसा के लिए ? मेरे गीतों को सुन कर मुर्दा लोगों ने नई करवट ली है। मेरे नाटकों को देख कर लोगों के मनों से कायरता भागी है। वे नया उत्साह लेकर अन्याय से, अत्याचार से टकराने के लिए सिर पर कफ़न बांध कर लड़ाई के मैदान में आगे बढ़े हैं, दिलेरी और जवांमर्दी से लड़े हैं। क्या यह सब कुछ मैंने प्रशंसा के लोभ में किया है ? और इस सारे त्याग और बलिदान के बदले में मुझे मिला क्या है ? यही न,

कि मेरे सगे भाई ने मुझे ठुकरा दिया, मेरी पत्नी मुझे धोखा दे गई, मेरे घर पर मेरे भाई ने अधिकार कर लिया ? मनोरमा ने मेरे बलिदानों का मूल्य मुझसे धोखा करके चुकाया है और ऐसी पत्नी को क्षमा करना मूर्खता है, कायरता है, अहमकपन है। मैंने ठीक किया जो मनोरमा की परवाह न करके, उसके दिल को जला कर उससे बदला लिया !

सचमुच मैं अहमक हूं। मैंने सोचा था कि मैं जो आग लगा रहा हूं, इसमें मनोरमा जल मरेगी। मैंने कब सोचा था कि इस आग की लपटें मुझे जला डालेंगी! मेरा सब कुछ इस आग में जल कर स्वाह हो जाएगा! जिसने भी मुझे छू लिया, वही इस आग में जल गया! सचमुच मैं पापी हूं, रेणुका को मैंने ही आग की लपटों में फेंका है। रेणुका का हृदय विशाल है इसीलिए जल कर भी उसने मुझे सान्त्वना देने का प्रयास किया है। रेणुका ने मुझे बहलाने के लिए झूठ कहा है कि पाप मैंने किया नहीं है अपितु पाप इसे बना दिया गया है। रेणुका की बात में मेरे प्रति दया भले ही हो परन्तु उसकी बात सरासर झूठ है। मैं पापी हूं। मुझ पर पाप लादा नहीं गया, मैंने खुद पाप को गले लगाया है। मैंने सबको धोखा दिया है, रेणुका को धोखा दिया है। मैं त्याग और बलिदान की ओट लेकर सदैव अपने उत्तरदायित्व से बचने का प्रयत्न करता रहा हूं।

मुझे किसी डॉक्टर के पास जाना चाहिये। मैं शायद पागल हो गया हूं, तभी ये बहकी बहकी बातें सोच रहा हूं। हा! हा! हा! दुनिया मुझे रियलिस्ट समझती है। हर वह आदमी जो आंखों देखी बात कह दे दुनिया उसे बहुत बड़ा यथार्थवादी समझती है। लेकिन हम सब की आंखों में किसी ने धूल झोंक दी है, हमें सब कुछ धुंधला और अस्पष्ट नज़र आता है। इस धुंधले और अस्पष्ट को यथार्थ मान लेना सरासर बेवकूफ़ी है।

रेणुका को अगर साफ दिखाई नहीं दिया तो इसमें मेरा क्या दोष ? मैंने तो सब कुछ साफ साफ कह दिया था। मैंने उससे यह भी नहीं छिपाया कि मेरी एक चरित्रहीन पत्नी है। मैंने तो उसे यह भी बता दिया था कि मैं खुद चरित्रहीन हूं। फिर भी अगर उसने मुझे चाहा है, मुझे अपनाया है, मुझ से प्यार किया है तो इसमें मेरा क्या दोष ?

रेणुका ने अगर समझा था कि मैं उससे विवाह कर लूंगा तो यह उसकी मूर्खता थी। मैं अपने ऊपर कलंक का बोझ क्यों लेता ? लोग क्या कहते ? रेणुका ने कितनी ही बार विवाह की इच्छा प्रकट की लेकिन मैं क्या मूर्ख था जो यह सब स्वीकार कर लेता ? लोग कहते, ये सब कलाकार लुच्चे लफंगे होते हैं। जनता की नज़रों में मेरा मूल्य फूटी कौड़ी भी नहीं रहता। रेणुका चाहती थी कि मैं बाढ़ के पानी में टूटे छप्पर की तरह बहता रहूं और अन्त में उसी गंदले पानी में गल सड़ कर तिनका तिनका हो कर बिखर जाऊं। लेकिन मैंने अनुभवों से काम लिया। क्या बुरा किया अगर मैंने टूटे छप्पर की तरह बाढ़ के बहाव में बहना पसन्द नहीं किया !

रेणुका चाहती थी कि मैं उससे विवाह कर लूं यानि दुनिया जिसे पाप समझती है उसे पुण्य कहने का प्रमाणपत्र ले लूं। मेरी समझ में नहीं आता कि जो विवाह से पहले पाप है वह विवाह के बाद पुण्य कैसे बन जाता है ? यदि यह पाप है तो मानव समाज ने अपने पाप को सहनीय बनाने के लिए, आत्मतुष्टि अथवा आत्म-प्रवंचना के लिए यह तरीका अपनाया है। और यदि यह पुण्य है अथवा व्यक्ति की नैसर्गिक प्रवृत्ति है तो समाज ने अपने वर्तमान हितों की रक्षा के लिए इस पाप या पुण्य को मनचाहे सांचे में ढाल लिया है।

मेरी समझ में प्रश्न पाप या पुण्य का नहीं है। प्रश्न तो समाज

की स्वार्थ रक्षा का है। जिसमें समाज के स्वार्थों की रक्षा हो वह पुण्य और जिससे इन स्वार्थों पर चोट पहुंचे वे पाप। परन्तु ये स्वार्थ भी तो बदलते रहते हैं और इनके बदलने के साथ ही साथ पाप, पुण्य बन जाता है और पुण्य, पाप। मनोरमा मुझे व्यर्थ ही पापी समझती रही है। परन्तु इसमें उसका क्या दोष? मैं इतना समझदार होकर भी क्या उसे दुराचारिणी नहीं कहता रहा हूं? ऐसा क्यों है?

मुझे यूं लगता है कि हम सब अपनी पहली पीढ़ी से एक विशेष दृष्टि ग्रहण करते हैं। इस दृष्टि में शताब्दियों की उथल पुथल का, सहस्राब्दियों के पाप पुण्य का इतिहास घुला मिला रहता है। यह दृष्टि निरन्तर विकसित या परिवर्तित होती रहती है, इसे हम समझ कर भी समझना नहीं चाहते। देख कर भी अनदेखा कर देना चाहते हैं। अपने स्वार्थ के लिए कहते हैं कि जो अब है, वही चिरन्तन है। जब इस क्षण क्षण बदलते स्वार्थ की चिरन्तनता का भेद खुलता है, वर्तमान स्वार्थ संकट में पड़ते हैं तो हम पाप की दुहाई देना प्रारम्भ कर देते हैं। मनोरमा जिस राह पर चल रही थी उससे मेरे स्वार्थों को खतरा था अतः मैंने चिल्ला चिल्ला कर कहा यह पाप है, यह पाप है। क्योंकि इस जगह पहुंच कर मेरा और समाज का स्वार्थ एक बन गया था अतः लोगों ने भी मेरी आवाज़ में आवाज़ मिला कर कहा मनोरमा पापिन है, कलंकिनी है। मैं कहता हूं कि मैं और ये सब लोग धूर्त हैं, पाखण्डी हैं, प्रपंची हैं। हमारे मन में कुछ और है; हम कहते कुछ और हैं?

× × ×

और यह नीरज जो अपने आप को न जाने क्या समझता है, न जाने किस महानता की बात करता है, यह भी धूर्त है, पाखण्डी है, बगला भगत है। परिस्थितियों ने इसे विवाह का सुअवसर नहीं दिया,

प्रेम करने का अवसर इसे नहीं मिला तो अपनी निराशा को महानता के रंग बिरंगे काग़ज़ों में लपेट कर दर्शन छांटता रहता है। मैं कहता हूं कि इसका विवाह हो गया होता, इसकी पत्नी दुराचारिणी हो जाती तो यह उसकी हत्या करने में भी न हिचकता! मुझे क्षमा का उपदेश दे रहा था! इसके घर में आग लगती तो पूछता कि बेटा, अब बांसुरी बजाने की तुम्हें क्यों नहीं सूझती? बेईमान, पाखण्डी कहीं का! मुझे विश्वासघाती समझता है! यह नीरज ज़माने भर का छंटा विश्वासघाती है। यह अपने आप से विश्वासघात कर रहा है, ऐसा आदमी दूसरे से नेकी कर ही नहीं सकता। अपने कमीनेपन को छिपाने के लिए इसने मुझे विश्वासघाती कहा है।

नीरज! अरे कमीने! ओ पाखण्डी! तू मुझे विश्वासघाती कहता है? तू नहीं जानता हम कौन हैं? ओ नीरज! तू हमारे जितना महान होकर ही हमें समझ सकता है। हम सम्राट् नीरो के ख़ानदान के लोग हैं। सम्राट् नीरो का नाम हमारे नाम से रोशन है। अपने घर को जलते देख बांसुरी बजाना हमने सीखा है। है कोई माई का लाल जो हमारे साहस को, हमारी हिम्मत को ललकार सके? लोगों मेरे साथ नारा लगाओ सम्राट् नीरो का वाहिद जांनशीन सम्राट् नरेन्द्र कुमार, ज़िंदाबाद।

यह मेरी मेज़ पर क्या पड़ा है? शराब की बोतल! लेकिन मैंने तो शराब पीना छोड़ दिया है, फिर यह मेरी मेज़ पर कहां से चलती हुई आ पहुंची है? इसमें से आधी बोतल कौन गटक गया है? नीरज कमीना, चुपके से आकर पी गया होगा। मुफ्त की शराब तो काज़ी भी नहीं छोड़ता! लेकिन यह शराब नहीं है, यह तो सोमरस है। इसे तो देवता ही पी सकते हैं, नीरज जैसे कायर और कमीने लोग नहीं पी सकते। हां, इस सोमरस को मैंने ही पिया है, नीरज इसे हाथ

लगाएगा तो मैं उसका गला घोंट दूंगा। सोमरस पीना देवताओं का धर्म है, मुझे इस धार्मिक काम से कोई नहीं रोक सकता। मैंने ही रेणुका को अबार्शन की सलाह दी थी। नीरज कौन होता है मुझे कुछ कहने वाला? स्वतन्त्र चिन्तन लिए फिरता है? मैं कहता हूं इसके दिमाग़ में सिवाय कूड़े कर्कट के कुछ नहीं है। यह तो यही सलाह देता कि रेणुका से विवाह कर लो। मनोरमा यदि तुम्हारे साथ नहीं रहना चाहती तो तुम क्यों उसे बांध कर रखना चाहते हो? मित्र के भेस में यह मेरा शत्रु है। अच्छा किया मैंने इसे कुछ भी नहीं बताया। मैं अपना भेद दुश्मन को कैसे बता सकता था? कमीना कहीं का! मुझे पापी और विश्वासघाती कहता है!

अरे भले मानस! मैंने कौनसा पाप किया है? सोमरस पी कर मेरा मस्तिष्क इस समय बिल्कुल ठीक हो गया है। मैं तो केवल धर्म की बात ही सोच सकता हूं। मैंने तो अपने देवी देवताओं के पथ को ही चुना है, मैं पापी कैसे हो सकता हूं? नीरज गधा है जो मुझे पापी समझता है। मैं पूछता हूं कुन्ती ने क्या किया था? उसने भी तो कर्ण को सन्दूक में बन्द करके बहा दिया था। ये चन्द्र देवता और इन्द्र देवता क्या करते रहे? ये दीर्घतमा और विश्वामित्र क्या करते रहे? मैं उन्हीं का वंशज हूं—उन्हीं की राह पर चल रहा हूं। लेकिन नीरज गधा है, वह इन बातों को बिल्कुल नहीं समझ सकता।

रेणुका मुझसे शादी करके मुझे दलदल में फंसाना चाहती थी। मैं नहीं फंसा तो क्या बुरा किया मैंने? वह तो नर्स ही नालायक निकल गई वर्ना नीरज के फरिश्तों को भी इस बात की ख़बर न होती। मुझे क्या पता था कि इन्कम्लीट अबार्शन हुआ है? मैं तो यही समझ कर कि रेणुका अच्छी भली है, उसे नीरज के घर तक ले आया था। कह दिया था कि रेणुका छुट्टियां बिताने आई है। नीरज जैसे

बेवकूफ आदमी को क्या खबर हो सकती थी ? वह तो नर्स की नालायकी ने ही बेड़ा ग़र्क कर दिया वर्ना········· ।

यह मैं क्या बक रहा हूं ? अगर कोई सुन लेगा तो चौराहे में भण्डा फूट जाएगा । देखो तो सही कमरे के दरवाज़े खुले छोड़ कर क्या शानदार लैक्चर कर रहा हूं ? अच्छा हुआ कि सिवाय कमरे की दीवारों के और कोई श्रोता नहीं है । यह सोमरस की बोतल सुन ले तो कोई हर्ज़ नहीं है । इसे अपनी बात कहने का और मेरी बात सुनने का सौ फी सदी खालिस हक हासिल है । मुझे और किसी श्रोता की आवश्यकता नहीं है, लोग क्यों अन्दर घुसते चले आ रहे हैं ? मैं दरवाज़ा बन्द कर दूंगा । किसी गधे को अन्दर आने की इजाज़त नहीं है ।

मैंने रेणुका से मुहब्बत की है । हम जैसा चाहें करें ? नीरज कौन होता है बीच में बोलने वाला ? मैंने और रेणुका ने अगर विवाह नहीं किया तो क्या गुनाह किया ? अगर हमारा बच्चा ज़िंदा रह जाता तो सब उसे हरामी कहते, नाजायज़ कहते । दुनिया भर की घृणा वह अपने साथ लेकर आता । मैंने बच्चे को कब मारना चाहा है ? कौन अपने बच्चे को मारना चाहता है ? इस गर्भपात की सारी जिम्मेदारी लोगों के कंधों पर है जो अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए सच्चाई को तोड़ मरोड़ कर देखने के अभ्यस्त हैं ।

कमीने कहीं के ! मुझे डराना चाहते हैं । पाखण्डियो ! तुम हो ही क्या चीज़, मैं तो तुम्हारे पूर्वजों तक को जानता हूं । मैं नाटककार हूं, कवि हूं मैंने इतिहास को पढ़ा है, मैं अपने पक्ष में ऐसे प्रमाण दे सकता हूं कि तुम बगलें झांकने लगो ।

मुझे बताओ कि यह जो नाना प्रकार की विवाह पद्धतियां तुम्हारे पूर्वजों ने रची थीं, वह पाप को ढंकने का सुनहला आवरण नहीं

तो क्या था ? आसुरी विवाह, पैशाच विवाह, गन्धर्व विवाह और न जाने क्या क्या विवाह, वह सब क्या था ? क्योंकि तुम्हारे पूर्वजों को जनसंख्या बढ़ाने की धुन थी अतः सब जायज़ नाजायज़ सन्तानें, गूधज, कानीन, सहोध, पौनर्भव, जारज और न जाने किन किन नामों से अलंकृत कर दी जाती थीं। यह सब पौराणिक ढकोसले हैं—चलो मान लिया। लेकिन ये देवदासियां तो अभी कल की ही बात हैं। महायुद्ध के बाद फ्रांस की लाखों विधवाओं का तुमने क्या इलाज ढूंढ़ा ? इन बाज़ारों की रोशनी में गेहूं और चने की तरह तुम किस चीज़ का व्यापार किया करते हो ? चलो मैं पापी ही सही लेकिन तुम ही कौन से नेक हो ?

मैंने रेणुका से विवाह कर लिया होता तो तुम सब मेरे मुंह पर थूक देते। मैं पूछता हूं सैंकड़ों औरतों को अपने महलों में गाय बकरियों की तरह बन्द करके रखने वाले राजाओं और नवाबों के कदमों की धूल तुम माथे पर क्यों मलते रहे हो ? क्यों नहीं तुमने उनसे कहा कि यह पाप है ? क्योंकि उनके पास शक्ति थी, बल था, धन था और इनके आगे कुत्ते की तरह दुम हिलाने का सबक हमने अपने पुरखाओं से सीखा है। मेरी पत्नी को तुम्हारी इसी शक्ति ने और धन ने दुराचारिणी बनाया है। अपनी दुराचारिणी पत्नी को छोड़ कर अगर मैंने रेणुका को अपना बना लिया है तो क्या गुनाह किया है ?

मैं अपनी सफाई में तथ्यों के अम्बार खड़े कर सकता हूं लेकिन मैं कुछ भी नहीं कहूंगा। तुम जैसे लोगों के आगे अपनी सफाई देना सफाई का अपमान करना है। मैं तुम्हें इस योग्य नहीं समझता कि तुम मेरे मुकदमे को सुन सको। तुम सब पक्षपात से काम लेते हो, तुम्हारे जन्म लेने से पहले तुम्हारी आंखों पर काले शीशे चढ़ा दिए गए हैं।

मुझे कोई नहीं रोक सकता। मैं आज देवताओं के पद चिन्हों पर चल रहा हूं। अरे! यह सोमरस की बोतल भी धोखा दे गई! ज़माने की हवा खाकर यह भी मनोरमा की तरह दुराचारिणी बन गई है, नीरज की तरह पाखण्डी बन गई है, रेणुका की तरह चालाक बन गई है। मैंने जब मनोरमा, नीरज और रेणुका को छोड़ दिया, तोड़ दिया तो इसे भी तोड़ दूंगा। ऐन मौके पर आकर दग़ा दे गई है।

लो! एक ही झटके में टूट कर बिखर गई! इसी तरह मैं नीरज, मनोरमा, रेणुका, सबको तोड़ कर चूर चूर कर दूंगा। वे भी इस सोमरस की बोतल की तरह टुकड़े टुकड़े होकर बिखर जाएंगे। मेरी उंगलियों से यह कैसा ख़ून बह रहा है? चलो, अच्छा है, बह जाने दो इसे। इस ख़ून में न जाने कितनी सदियों के पापों की मैल भरी पड़ी है।

× × ×

कितना अहमक हूं मैं! रात बूट पहने ही बिस्तर पर पड़ा रहा। लिहाफ लेने की सुध भी नहीं रही। अरे! यह हाथ में दर्द सा क्यों हो रहा है? ये कांच के टुकड़े भी फर्श पर बिखरे पड़े हैं। तो रात मैंने फिर शराब पी थी! अच्छा हुआ सब दरवाज़े बन्द थे। कोई देख लेता तो मुझे कितना अपमानित होना पड़ता? मुझे ये कांच के टुकड़े समेट देने चाहियें। आज से मैं कसम खाता हूं कि शराब को हाथ भी नहीं लगाऊंगा। सिर बहुत भारी हो रहा है। अच्छा रहे किसी डॉक्टर से चल कर कोई दवाई ले लूं। लेकिन अब ज़िन्दगी में जीने जैसा रह ही क्या गया है? कल सुबह से तिनके की तरह उड़ रहा हूं। रेणुका भी न जाने किधर चली गई? बता कर भी तो नहीं गई। नीरज के पास कैसे जाऊं? रेणुका कहती थी, 'तुमने नीरज बाबू की क्षमा के दर्शन नहीं किये।' चल कर उससे क्षमा मांग लूं। मनोरमा से एक बार मिल कर कहना चाहता हूं, 'मनोरमा! तुम निष्पाप हो,

मैंने तुम्हें क्षमा कर दिया है।' अच्छा पहले उठ कर नहा धो लूं तभी ठीक ढंग से कुछ सोच सकूंगा।

× × ×

पैर, खींच कर नीरज के घर तक ले आए थे लेकिन द्वार के बाहर से ही लौट आया हूं। भीतर बैठा कोई कहने लगा, "नरेन्द्र तुम उस घर में जाने योग्य नहीं हो। विश्वासघाती को कोई अधिकार नहीं कि मित्र के घर में प्रवेश करे। विश्वासघात का डायनामाइट लगा कर तुमने उस पुल को चूर चूर कर डाला है जो तुमसे होता हुआ नीरज के दिल तक चला गया था। अब कहां खाई में डूबने जा रहे हो?"

खाई में डूब गया होता यही उचित था। परन्तु मुझ जैसे कायर, पाखण्डी और भीरू में इतना साहस कहां? रेणुका ने मुझसे प्रेम किया है, प्रेम चाहा है परन्तु इसी कायरता के कारण मैंने उसे सदैव प्रेम का उत्तर छल से, कपट से, मलिन वासना से दिया है। मेरे स्वार्थ ने मुझे अंधा बना दिया था। विश्वासघाती तो मैं उस समय ही बन गया था जब रेणुका के प्रेम को मैंने कपट से छला था। उसी दिन मैंने अपने आप से विश्वासघात किया था जब मन को यह कह कर धोका दिया था कि मैं सच्चे सिक्कों से प्रेम का व्यापार कर रहा हूं। रेणुका उन गिलट के नकली सिक्कों की चमक में भले ही खोई रही हो परन्तु मैं तो उनके नकलीपन को पहचानता था! मैंने जान बूझ कर अपने आप से विश्वासघात किया है। मैं कैसे नीरज के सामने जाने की हिम्मत करूं?

रेणुका ने कहा है कि नीरज की क्षमा के दर्शन मुझे नहीं हुए हैं, जिस दिन हो सके उस दिन मेरा विश्वासघात उस क्षमा के स्पर्श मात्र से धुल जाएगा। मुझे तो यूं प्रतीत होता है कि रेणुका ने भ्रमवश ऐसा कहा है। नीरज में क्षमा कहां? जहां तक मैं उसे समझ पाया हूं

या जैसा अब समझ सका हूं उसके जीवन में मन की जगह पर भी मस्तिष्क ने अपना अधिकार जमा लिया है। नीरज पाषाण-हृदय है। उसने अपने हृदय पर सिद्धान्तों की इतनी भारी भारी शिलाएं रख ली हैं, जिनके नीचे उसका हृदय बुरी तरह पिस गया है, कुचला गया है। वह अपने मस्तिष्क को लेकर ही इस बुरी तरह उलझ गया है कि उसे दिल के पिस जाने का रत्ती भर भी होश नहीं है।

क्षमा करना तो मन का धर्म है! मस्तिष्क, मन की मर्यादा को कैसे निभा सकेगा? मैं समझता हूं कि रेणुका ने जिसे नीरज की क्षमा समझा है, वह रेणुका के अपने विशाल हृदय में नीरज के मस्तिष्क का प्रतिबिम्ब मात्र है। कुछ लोग होते हैं जिन्हें जीवन के प्रथम दिन से लेकर अंतिम श्वास तक कष्ट और व्यथा के अतिरिक्त और किसी वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को जीने के लिए किसी न किसी सम्बल की आवश्यकता होती है अतः ऐसे व्यक्ति अपनी अनन्त पीड़ाओं और व्यथाओं में से ही कुछ को चुन कर उन्हीं को सुख और प्रसन्नता मान लेते हैं। उसी सम्बल के सहारे जीवन जिए जाते हैं। विशेष व्यथाओं और वेदनाओं को सुख और प्रसन्नता मान लेने की प्रक्रिया उनके अनचाहे, अनबूझे ही उनके मन में होती रहती है अतः जीवन की दौड़धूप में, खरे खोटे को पहचानने का अवकाश उनके पास नहीं रहता। उनकी आस्था के स्पर्श मात्र से शायद खोटा भी खरा बन जाता है?

रेणुका की इसी आस्था के स्पर्श से नीरज का क्रोध भी क्षमा में ढल गया है। इसी आस्था के बल पर रेणुका ने एक दिन कहा था, "नरेन! तुम्हें कुल मर्यादा और समाज के विधि विधानों के भय से सत्य को ठुकराना और असत्य को गले लगाए रखना शोभा नहीं देता। मनोरमा की तो तुम आड़ ले रहे हो। सत्य यही है कि तुम

आज तक जीवन जीने के लिए आस्था संजो ही नहीं पाए। मनोरमा तुम्हारे जीवित रहते, तुम्हारे भाई के घर बैठ जाए इससे शायद तुम्हारी झूठी शान को धक्का लगता है। तुम लोग अपने को भौतिकवादी और यथार्थवादी कह कर न जाने किन किन सिद्धान्तों की डींगें मारा करते हो परन्तु जब तक तुम्हारे मन पर असत्य का पहरा है तुम्हारे ये सिद्धान्त आकर्षक भले ही हों परन्तु लंगड़े हैं। असत्य के स्पर्श से शापित ये सिद्धान्त तुम्हारे गले का पत्थर बन कर तुम्हें ही ले डूबेंगे। तुम डूबोगे तो मुझे भी दुःख होगा क्योंकि हम औरतों को झूठ के बाटों से सत्य का सौदा करना नहीं आता। नरेन! लोग तिरिया चरित्र की बात कहा करते हैं परन्तु हम औरतें ये सब चरित्र कहां जानती हैं? तुम लोग झूठ की रक्षा के लिए हमें इन तिरिया चरित्रों से सजा संवार देते हो और क्योंकि हम तुम्हारा दुःख देख नहीं सकतीं अतः तुम्हें सुखी देखने के लिए इन चरित्रों को सिर झुका कर अपना मान लेती हैं।"

रेणुका ने उस दिन मेरे सामने विवाह का प्रस्ताव रखा था। उसे आशा थी कि मुझ जैसा यथार्थवादी उसके प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लेगा। मुझे झिझकते देख उसकी आंखें छलछला आई थीं। मैंने कहा था, "रेणु! हमें हर प्रकार से, हर दृष्टि से, कोई भी कदम उठाने से पहले विचार कर लेना चाहिये।"

रेणुका ने बुझे मन से कहा था, "कदम उठाने से पहले की स्थिति अब कहां है? जो लोग कदम उठा कर भी कहते हैं कि वे एक जगह पर स्थिर हैं, उनके लिए दम्भी शब्द ही उपयुक्त है। परन्तु वह तो लोगों के सोचने न सोचने की बात है, मुझे उससे क्या? मैं तो अपने को अत्यन्त सौभाग्यशालिनी समझती हूं क्योंकि मेरे कारण तुम्हें गहन चिन्तन की आदत पड़ रही है।"

मैं क्रोध को छिपाने का प्रयत्न करते हुए बोला, "मुझे दम्भी कहते तुम्हें शर्म आनी चाहिये। मैंने पहले दिन से ही अपने विवाहित होने की बात तुमसे नहीं छिपाई। तुम्हीं ने अपने स्वार्थ के लिए, अपनी वासना के लिए मुझे इस कीचड़ में फंसाया है?"

रेणुका अपनी आवाज़ को संभालती हुई बोली, "तुम्हारी बात को झुठलाने की शक्ति मुझ में नहीं है नरेन! तुम्हीं ने शायद यह भी कहा था कि मनोरमा तुम्हारे भाई की हो गई है। तुम्हें उससे घृणा है। वह कभी भी तुम्हारे जीवन में लौट कर नहीं आ सकती। तुम चाहते थे कि उस रिक्त स्थान को कोई भर दे। तुम्हारे जीवन में जो विष भर गया है, उसे पी कर तुम्हारी हृदय ज्वाला को शान्त कर दे।"

पुनः कुछ रुक कर बोली, "लेकिन हम तो तुम लोगों की अचल सम्पत्ति हैं न? तुम लोग चाहे कितने ही महान सिद्धान्तों की बात करो लेकिन तुम्हारी रगों में न जाने कितनी सहस्राब्दियों का ख़ून बह रहा है। तुम्हारी सम्पत्ति पर कोई दूसरा अधिकार कर ले, चाहे वह तुम्हारा भाई ही क्यों न हो, तुम इस लूट को कैसे सहन कर सकते हो? तुम्हारी सम्पत्ति पर तुम्हारा ही अधिकार रहना चाहिये, यही न्याय है। और जहां तक दिल की ज्वाला को शान्त करने का प्रश्न है, उस अधिकार से तुम्हें कौन रोक सकता है? ख़ैर! लाख लाख शुक्र है ख़ुदा का कि उसने समय रहते तुम्हें सोचने समझने की शक्ति प्रदान कर दी। यदि तुमने भूल से, अमृत पात्र के धोखे में विष पात्र उठा लिया है तो यह कहां की बुद्धिमत्ता है कि तुम जीवन पर्यन्त उसी विष पात्र को होंठों से लगाए रखो। प्रत्येक यथार्थवादी को पूर्ण अधिकार है कि वह यथार्थ से आंखें न मूंदे और फिर अब तो तुम्हारा चिन्तन दिन प्रति दिन स्पष्ट होता जा रहा है?"

मैंने आवेश में आकर रेणुका के गाल पर चांटा लगा दिया था।

मैं चीख पड़ा था, "इन बातों में किसी और को उलझाना। तुम्हें अपने स्वार्थ को इन सिद्धान्तों के पर्दे में लपेटते हुए शर्म आनी चाहिये?"

रेणुका डबडबाई आंखों से मेरी ओर देखती रही थी। पुनः अपने आंचल से आंसू पोंछती हुई बोली थी, "नरेन! मुझे तुमसे कोई शिकायत नहीं है। भला तुमसे मुझे शिकायत हो भी कैसे सकती है? अगर तुमने मेरी बातों से यही अनुमान लगाया है तो शायद मेरे कहने में कहीं गलती रह गई हो। खैर! यह स्पष्ट कर दूं कि अपने सुख के लिए किसी के जीवन को विषमय करूं, इतनी स्वार्थी मैं नहीं बनी हूं। तुमने बहुत अच्छा किया जो विष पात्र की वास्तविकता को समझते हुए यथा समय उसे उठा कर परे फेंक दिया।"

उसी रेणुका ने नीरज के क्रोध को क्षमा समझ लिया है। कठोरता में मृदुलता ढूंढने की उसकी आदत बन गई है तभी वह नीरज के असली रूप को नहीं समझ सकी। परन्तु मैं तो उसकी तरह भावुक नहीं हूं, नीरज को वह कैसे समझ लूं जो वह कभी नहीं बन सकता। उसमें क्षमा होती तो क्या वह मुझे विश्वासघाती कह कर दुत्कार देता? अपने परम मित्र का ऐसा अपमान करता? अच्छा किया मैंने, उसके द्वार तक जा कर लौट आया। रेणुका की तरह भावुकता में बह कर फिर उससे मिलने चला था, उसी पाषाण हृदय को, अहंकार और दम्भ की खान को! मस्तिष्क ने ठीक अवसर पर चौकन्ना कर दिया। अगर कहीं नीरज के सामने क्षमा की आशा लिए जा खड़ा होता, तो वहां से अनन्त क्रोध, असीम घृणा, सिद्धान्तों में लिपटा अगाध कटु व्यवहार और शिष्टाचार के उजले कपड़े से ढंका, विषपात्र ही हाथ लगता। अच्छा किया मैंने, नीरज के द्वार से लौट आया।

लेकिन अब जाऊं कहां? इस असीम आकाश के नीचे मेरा दम

घुट रहा है। यह आकाश नहीं है, दुनिया के क्रूर हाथों ने मुझे ज़हरीला बिच्छू समझते हुए मेरे ऊपर तसला उलट दिया है। मैं इसी तसले के नीचे घुट घुट कर मर जाऊंगा। मैं बिच्छू कहां हूं? हर तरफ से विषैले बिच्छू मुझे डंक मार रहे हैं। मनोरमा, हीरा ही सही लेकिन मुकुट पर जड़ने जैसा नहीं रहा, टूट कर खण्ड खण्ड हो गया है, उसे फेंक देना ही उचित है, उसे कहीं आवेश में चाट बैठा तो मृत्यु निश्चित है। और यह सोमेन्द्र, मेरा भाई बना फिरता है। इसका भी हशर बाली जैसा ही होगा। ज़रूर कोई न्यायी अपने तीर से इसका कलेजा बींधेगा? और कौन बींधेगा? मुझे ही इसका कलेजा बींध देना चाहिये! इसे क्या अधिकार है कि मेरी तारा को अपने महल में, महल में न सही टूटे खंडहर में रखे? लेकिन मैं कायर हूं, डरपोक हूं, मुझ में इतनी हिम्मत कहां कि एक चमचमाता छुरा इस सोमेन्द्र के सीने में भोंक सकूं।

सचमुच रेणुका ज़हरीली नागिन है। इसने मेरे सारे जीवन को विषमय बना दिया है। जाते समय कैसी मीठी मीठी बातें कर रही थी! अगर मेरी होती तो क्या जाते समय अपना पता ठिकाना बता कर न जाती? ये सब औरतें तिरिया चरित्र में निपुण होती हैं। 'देवो न जानाति कुतो मनुष्यः?' अच्छा हुआ नागिन चली गई। लेकिन जा कर भी कहां गई है? लगातार मुझे डंसे जा रही है। ऐसा डंक मार कर गई है कि यह ज़हर लगातार मेरे शरीर में, मेरे जीवन में फैलता जा रहा है।

यह रेणुका कह रही थी, 'नरेन! लेडी डॉक्टर तुम्हें बदमाश और लफंगा न जाने क्या क्या कहती रहती है? मैंने उसे कह दिया है कि वह आपके लिए ऐसे शब्द न कहा करे।' नागिन कहीं की! इस रेणुका ने भी तो वही ज़हर में बुझे तीर, अपनी मीठी वाणी में डुबो डुबो कर मेरे सीने में पिरोए हैं।

और यह लेडी डॉक्टर, जिसके सद्व्यवहार की बात रेणुका किया करती है, मैं ऐसी सैंकड़ों लेडी डॉक्टरों को जानता हूं ? रेणुका एक नम्बर की मूर्ख है। ये नीरज और लेडी डॉक्टर, सब उसकी आंखों में धूल झोंक सकते हैं लेकिन मैं तो मूर्ख नहीं हूं। यह लेडी डॉक्टर मुझे लफंगा कहती है। ये कमीनियां कौनसी शरीफज़ादियां होती हैं ? ये सब, ज़माने भर की छंटी हुई होती हैं। आए दिन तो इन शरीफ़ज़ादियों के किस्से कहानियां अखबारों में छपा करते हैं। इनके चरित्र की गौरवगाथा का कहीं ओर छोर नहीं मिलता। यह लेडी डॉक्टर मुझे लफंगा कहे ? कहीं मेरे सामने ऐसी बात कहती और मेरे हाथ में भरा पिस्तौल होता तो सब गोलियां इसके सीने के पार उतार देता। ये कालिख पुते दिल, दुनियां से जितनी जल्दी मिट जाएं उतना ही भला ! कहने को डाक्टरी करती हैं, शरीफ बनी फिरती हैं, लोक सेवा करती हैं लेकिन इनकी काली करतूतों से समाज में अनाचार निरन्तर बढ़ रहा है। शरीफ़ज़ादी की बच्ची !

यह नीरज भी मुझे लगातार विषैले तीरों से बींधता रहा है। मेरा बस चले तो मैं इन सबको एक पंक्ति में खड़ा करके एक ही गोली इन सबके सीने के पार उतार दूं।

मैं न जाने कब से इस म्युनिसिपल पार्क की बेंच पर बैठा हूं ? अरे ! आकाश में, मेरे दिल के घावों की तरह तारे सुलग रहे हैं। मैं कहीं नहीं जाऊंगा। इसी जगह लेट कर इन तारों से अपने दिल की बात करूंगा। पेट में दर्द क्यों हो रहा है ? पिछले दो दिनों से शराब की एक बोतल के सिवाय मैंने पेट में कुछ भी नहीं झोंका है। किसी पास वाले होटल पर जाकर खाना खा लूं ? ओह ! जेब में कुल आठ आने हैं। हरामज़ादे प्रकाशक ने पिछले एक साल से एक भी पैसा नहीं दिया है। इन प्रकाशकों के भी गोली मार देनी चाहिये। इस

लेखकों और कवियों के पेट काट कर विशाल हृदयता का प्रमाण देते हैं, गधे कहीं के ! मैं खाना नहीं खाऊंगा, इस दुनिया ने मेरे सारे खाने में ज़हर मिला दिया है। मैं सब कमीनों की चालाकियों को जानता हूं। ये मुझे क्या समझते हैं ? मैं इन सब को मार कर मरूंगा। मैं महान नाटककार हूं, कालीदास, शेक्सपीयर और बर्नार्ड शॉ का वंशज हूं। एक दिन दुनिया को मेरे कदमों में झुकना पड़ेगा। ये लोग मुझे बदमाश समझते हैं। नील गगन पर चमकते सितारो ! ये दुनिया के लोग मेरी महानता को नहीं जान सकते ! कमीने हैं ये लोग, जो मुझ से अमृत लेकर, मेरे अधरों से विष पात्र लगाते हैं ! इन्हें क्या खबर कि यह हिम्मत केवल हम कलाकारों में है कि हम विष पीकर मुस्कराते हैं। हम ज़माने भर का विष पीकर, उसे अमृत बना कर लोगों को लौटाते हैं। इनकी ये हिम्मत कि मुझ जैसे कलाकार को लफंगा कहें ?

मैं आज इन आठ आनों से, एक बढ़िया सिगार खरीद कर पीऊंगा। अगर कोई मुझे सिगार पीते देख कर हंसेगा तो मैं उसकी रत्ती भर परवाह नहीं करूंगा। सितारों से बात शुरु करने से पहले सिगार पीना लाज़िमी है। मैं कहीं नहीं जाऊंगा। मैं अपने कमरे में भी नहीं जा सकता। उस कमरे में पहुंचते ही उसका कण कण मुझे बिच्छुओं की तरह डंक मारने लगता है। शराब बहुत विश्वासपात्र साथी है लेकिन आज तो मेरे विश्वसनीय मित्र को भी ठेकेदार ने अपनी क़ैद में बन्द कर लिया है। मैं इन आठ आनों से सिर्फ़ एक बढ़िया सिगार खरीद कर पी सकता हूं, अपनी प्रियतमा को ठेकेदार की क़ैद से नहीं छुड़ा सकता। ये सब लोग कमीने हैं, अहसान फरामोश हैं, अगर ये हमारी महानता के उपासक हैं, कला के उपासक हैं तो इनका कर्तव्य है कि जगह जगह पर हमारे लिए सोमरस के प्याऊ बैठाएं। मैं आज से कसम खाता हूं कि इन कमीनों के लिए आज के

बाद कभी भी नाटक नहीं रचूंगा, गीत नहीं लिखूंगा। दुनिया वाले मेरे गीतों के बोल सुनने के लिए तड़पते रहेंगे लेकिन मैं अपने होठों को सी लूंगा। किसी को अधिकार नहीं कि मैले दिल से मेरे पवित्र गीतों को सुन सके। नीरज अपने आप में बड़ा लेखक बना फिरता है लेकिन उसे क्या खबर कि गीतकार लेखक से कहीं महान है। गीतकार चाहे तो सारी दुनिया को ठोकर मार सकता है। नीरज को ठुकरा सकता है। मैं आज से सिगार पीकर सितारों से अपने दिल की बात किया करूंगा, इन्हें ही अपने गीत सुनाया करूंगा। मुझे डंक मारने वाले बिच्छू मेरे गीत सुनने लायक नहीं हैं। ये कमीने मेरे गीत कभी भी सुन नहीं सकेंगे।

● ● ●

★ रेणुका

उस दिन मिसेज़ कपूर पूछने लगीं, 'रेणु ! क्या बात है तुम कुछ खोई खोई सी दिखाई देती हो ? किसी प्रकार के कष्ट में न रहना। किसी प्रकार की भी आवश्यकता हो तो मुझे निस्संकोच कह डालना।' मैंने कह दिया, 'नहीं, मिसेज़ कपूर, मैं तो बिल्कुल ठीक हूं। आपके रहते भला मुझे क्या कष्ट हो सकता है ? इस शहर के वातावरण में अभी घुलमिल नहीं पाई हूं तभी शायद आपको ग़लतफ़हमी हो जाती है।' मिसेज़ कपूर बोलीं, 'फ़ुरसत निकाल कर कभी मेरे घर चली आया करो। घर पर अकेली पड़ी पड़ी क्या करती रहती हो ?' फिर बोलीं, 'हां ! मैं तो पूछना ही भूल गई। कहीं मकान का प्रबन्ध हो गया कि नहीं ?' मैंने कहा, 'यहीं अपने निकट के सम्बन्धी हैं, उन्हीं के पास ठहरी हुई हूं।' मिसेज़ कपूर कहने लगीं, 'अकेली जान हो। अगर उधर मन न लगे तो हमारे यहां ही चली आना।' अचानक ही मुख से निकल गया, 'थैंक्स मिसेज़ कपूर।'

मिसेज़ कपूर कितनी अच्छी हैं। अपने स्कूल में काम करने वाली अध्यापिकाओं का कितना ख्याल रखती हैं ? शुक्र है परमात्मा का कि मुझे इनके विद्यालय में काम मिल गया। अगर काम न मिला होता तो इस शहर में मेरा दम घुट जाता। बाबू रामदास कहने को चाचा हैं परन्तु आज तक इन्होंने हमारी खोज खबर कब ली है ? पाकिस्तान बनने के बाद पिता जी पैसे पैसे के मोहताज हो गए, घर के बर्तन तक बिक गए, छोटा भाई नौकरी की दरख्वास्तें दे दे कर हार गया, पिता जी ने बाबू रामदास को कितने पत्र लिखे परन्तु एक का भी उत्तर नहीं मिला।

मुझे आज तक वह दिन नहीं भूलता। मैं, घर से बग़ैर खाना खाए पढ़ने चली थी तो पिता जी कहीं बहुत दूर भविष्य में देखते हुए बोले थे, 'रेणु की मां! रेणु, बेटी नहीं बेटा है! यही हम लोगों की मुसीबतों को दूर करेगी। सब सगे सम्बन्धी देख लिए! रेणु की मां! सब उसी वक्त तक पूछते हैं जब तक चार पैसे पास हों। बिगड़ी में कोई साथ नहीं देता! इसी रामदास को मैंने छोटा भाई समझ कर हज़ारों रुपए अपने पास से दिए हैं। मैंने इसे कभी यह सोचने का मौका नहीं दिया कि यह ग़ैर है। इसके बापू मरते वक्त इसे मेरे पिता जी के हाथ में दे गए थे। उन्होंने इसे कभी पराया नहीं समझा मुझ से बढ़ कर समझा है। आज उसी रामदास ने दो सौ रुपया देने से इन्कार कर दिया है। किसी का क्या कसूर लछमी! किस्मत में ही जब ठोकरें खाना लिखा है तो कोई क्या कर सकता है? मुझे तो किसी से भी गिला शिकवा नहीं है।" मैं अपने आंसू पोंछती हुई पढ़ने चली गई थी।

किस्मत का चक्कर फिर उसी चाचा के घर, भिखारिन बना कर खींच लाया। मुझे देखते ही उनके चेहरे पर ऐसे भाव आ गए थे जैसे उन्होंने किसी मुर्दे को फिर से ज़िन्दा होते देख लिया हो। 'रेणुका बेटी! तुम्हारा ही घर है। अच्छा किया चली आईं। चलो इसी बहाने दर्शन तो हो गए। कहां याद आती होगी तुम लोगों को हमारी?' उन्होंने ये शब्द ऐसे कहे थे मानों कह रहे हों, 'किस्मत जली! कहां आ मरी हमारे घर में? न जाने कहां से हमें सताने चली आई? शायद इसी बहाने मुसीबत के दर्शन होने थे? तुम्हे किसने सन्देसा भेजा था जो यहां आ मरीं?'

बाबू रामदास जी की मधुर वाणी में लिपटे विषैले बोल सुन कर मैंने मुस्कराहट को ढूंढ़ने की कोशिश करते हुए कहा, 'दुःख तकलीफ में अपनों ही के पास तो आया जाता है चाचा जी?'

मुझे न जाने क्या हो गया है ? मैं शापित हूं तभी सत्य मुझ से कोसों दूर भागता है। जो झूठ है उसे ही सजा संवार कर आत्मवंचना के जाल में फंसना पड़ता है। कह दिया, 'दुःख तकलीफ में अपनों के पास ही तो आया जाता है ?' अपनों से तो कोसों दूर भाग कर आई हूं ताकि फिर इस विष पात्र को कोई अमृत समझ कर धोखा न खा बैठे ! ये नीरज भैय्या क्यों अक्सर याद आ जाते हैं ? जब भी मन दुखी होता है न जाने क्यों उन्हीं की याद आती है ? विदा होते समय उन्होंने कहा था, 'रेणुका ! पाप में इतनी सामर्थ्य नहीं कि तुम्हारे निकट ठहर सके। इन कुछ दिनों में मुझे ज्वाला ने और अधिक निखारा है। चलो अच्छा हुआ, तुम्हारे पुण्य के प्रताप से कूड़ा कर्कट जल गया।' मेरा जी चाहा कि नीरज भैय्या के पांव पकड़ कर जी भर कर रो लूं। कहूं, 'आप तो उल्टी बात कह रहे हैं।' परन्तु मैं तो पाषाणशिला सी शापित थी। कुछ भी न बोल सकी। मुझे चुप देख कर बोले, 'रेणुका ! प्रत्येक वस्तु अपनी सीमा में रहे यही उचित है। अपने स्थान पर रहे यही श्रेयस्कर है। सूर्य का पृथ्वी के अत्यन्त निकट न आना ही उचित है। समुद्र का अपनी परिधि में रहना ही श्रेयस्कर है। तुम्हें दया और सहनशीलता की जो अक्षय सामर्थ्य मिली है उसे सोच समझ कर व्यय किया करो। किसी को इतना मीठा भी न दो कि वही ज़हर बन जाये। मेरी समझ में यही ग़लती तुमसे हुई है। नरेन तुम्हारी दया के अत्यन्त निकट आ कर झुलस गया है। तुम्हारी सहनशीलता ने अपनी परिधि का उल्लंघन किया है तभी शायद नरेन उस तूफ़ान में बह गया है।' चाहती थी नीरज भैया की बातों का उत्तर दूं परन्तु मैं चुप रही। मुझे उनकी बातें सुनने का लोभ हो आया। सोचा, फिर कहां सुनने को मिलेंगी ऐसी बातें ? अच्छा है कि अधिक से अधिक बटोर लूं। जीवन भर इसी पूंजी को तो व्यय करना

है। चाहती थी कि नीरज भैया बोलते रहें लेकिन वे तो कृपण दानी निकले। दो मुट्ठी झोली में डाल कर ही बस कर गए !

विदा देते समय बोले, 'रेणुका ! मुझ दरिद्र के घर में तुम्हें कष्टों के अक्षय भण्डार के अतिरिक्त और मिला ही क्या है ? अच्छा हो कि तुम इन व्यथाओं और पीड़ाओं की कोठरी से शीघ्रातिशीघ्र निकल जाओ। देखो ! जब क्रोध और घृणा की साकार प्रतिमा देखने की इच्छा हो तो मुझे याद किया करना। जब कभी जली कटी सुनने को कोई तैयार न हो तो मुझे अवश्य लिखना। तुम्हारी जली कटी लोगों के फेंकने की वस्तु भले ही हो मेरे फेंकने की वस्तु नहीं है।' मैं तो नीरज भैया की एक एक आदत को जान गई हूं। उन्होंने यह कह कर मुझ कलंकिनी पर स्नेह, दया और क्षमा की जो अगाध वृष्टि की थी, मैं अभागिन इस योग्य कहां थी ? नीरज भैया मिलें तो कहूं, "ये कैसे सम्बन्धी हैं, नीरज भैया ? इन लोगों को सम्बन्धी कहना तो इस मधुर शब्द का अपमान करना है। मुस्करा-मुस्करा कर अपनों को ज़हरीली गोलियां बांटते नहीं अघाते ! इनकी तो यही बान है, इन्हें क्या कहूं ? तुम मुझ अभागी को अपने क्रोध, अपनी घृणा में से और कुछ दे दो ताकि इन ज़हरीली गोलियों को निगल कर भी जीवित रह सकूं।"

मिसेज़ कपूर दिन भर में सहानुभूति के दो बोल कह देतीं, उसी के सहारे घर भर के आग्नेय नेत्रों को सहना पड़ता। इस 'बाल शिक्षा निकेतन' में जगह न मिली होती तो कब की बाबू रामदास जी के घर से धक्के मार मार कर निकाल दी गई होती। घर कहां था ? होटल का कमरा समझो। चाची जी की कोई न कोई फर्माइश बनी ही रहती। 'रेणुका बेटी ! तेरे चाचा जी तो सुनते ही नहीं। एक साड़ी लाने की रट लगाते लगाते मेरा तो गला पक गया है।' चाची जी ने सिर ढंकने को जगह जो दे रखी थी अतः उन्हें किराया वसूल करने के ये सब कायदे कानून आते थे।

मिसेज़ कपूर कह रही थीं 'तुम कुछ खोई खोई सी दिखाई देती हो ?' उन्हें क्या खबर कि मैं खोई दिखाई ही नहीं देती, मैं तो सचमुच खो गई हूं। मुझे और कोई क्या पहचानेगा, मैं खुद अपने आप को नहीं पहचान पाती ! मिसेज़ कपूर कहीं मेरी कलंक भरी कहानी जान जाएं तो उनकी सहानुभूति को घृणा में परिवर्तित होते देर ही कितनी लगेगी ? जी चाहता है नीरज भैया से कहूं कि तुम अपनी घृणा के अक्षय भण्डार में से सब को थोड़ा बहुत बांट दो ताकि घृणा ही शीतल बन जाये, वही चन्दन का काम दे सके !

चाची जी कुरेद कुरेद कर न जाने क्या कुछ पूछा करती थीं ? शायद उन्हें सन्देह हो गया था कि मैं पिता जी को बग़ैर बताए यहां चली आई हूं। अच्छा किया, मिसेज़ कपूर के घर शिफ्ट कर आई। उनमें और चाची जी में कितना अन्तर है ? एक ड्योढ़ी का दीप और दूसरी छप्पर की आग ! उस दिन पूछने लगीं, 'रेणुका ! इससे पहले तुम कहां पढ़ाती थीं ? बी० टी० किए तो तुम्हें चार साल हो गए न ? आज तक क्या कहीं नौकरी नहीं मिली ? लोग बड़े शहरों में चार पैसे अधिक कमाने के लालच से चले आते हैं, ये नहीं जानते कि शहरों का खर्चा कितना भारी है ? किराये पर कमरा लो तो लोग टूटे कमरे के तीस रुपये महीना मांगते हैं। पेशगी अलग। अब हमें ही देखो ! ढाई सौ तनख्वाह, पचास रुपए किराया। रसोई के धुएं के मारे मेरी तो आंखें रही जा रही हैं ?'

न जाने चाची जी को क्या मर्ज़ है ? बोलना शुरु करेंगी तो घंटों बोलती ही चली जाएंगी। कोई सुनने की इच्छा करे न करे इनकी बला से। कहने लगीं, 'आज कल तो लोगों की आंखें फूट गई हैं। जवान जहान लड़कियों को क्या जरूरत है कालिज में पढ़ाने की ? आग लगे ऐसी पढ़ाई को ! मर्दुए घर बैठें और औरतें दफ्तरों में काम करें ? मैं तो कहती हूं परलय के लच्छन हैं। सुना तूने ! सामने वाले लाला

रघवरदयाल जी की छोकरी किसी छोकरे के साथ भाग गई ? कटवा गई न सबकी नाक ? और भेजो इन बछेड़ियों को कालिज में ? हमारे जमाने में लड़कियां पढ़ती नहीं थीं तो क्या घर नहीं बसाती थीं ? आग लगे इस जमाने को ! मर्दों की अकल पर पत्थर पड़ गए हैं।' घण्टे भर बाद चाची जी ने अपनी बात ख़त्म की।

उसी रात मैं बरामदे में लेटी थी। नींद नहीं आई थी। चाची जी चाचा जी से कह रही थीं, "तुम्हारे बड़े भैया की तो आंखें फूट गई हैं ? उन्हें लिखो कि रेणुका का ब्याह करने की सोचें। कहां से यह बला घर में आ पड़ी है ? भगवान ही रक्षक हैं। कहीं कुछ ऊंच नीच हो गया तो हमें इस अहसान के बदले में कालिख का टीका ही मिलेगा। दिन रात न जाने क्या सोचा करती है ? मुझे इस छोकरी के लच्छन भी अच्छे दिखाई नहीं देते। वो लाला रघबरदयाल की रुक्को भी दिन रात यूं ही सोचा करती थी। मैं एक दिन सेठानी से कह बैठी, 'बहिन ! रुक्मणि कुछ उदास सी रहती है ?' अकड़ती हुई बोली, 'बेचारी के दिमाग़ पे तुम जानो दिन रात पढ़ाई का बोझ रहता है ?' पढ़ती पढ़ती सबको पढ़ा गई। और हमारी तो पढ़ाती है ! न जाने किताबों में क्या अनाप सनाप लिखा रहता है ?" चाचा जी के खर्राटों की आवाज़ आ रही थी लेकिन चाची जी अपनी धुन में बोले जा रही थीं।

मैं अगले दिन ही मिसेज़ कपूर के घर अपना सामान उठा लाई। फिर झूठ बोलना पड़ा। कह दिया चाचा जी के कोई और सम्बन्धी उनके पास आने वाले हैं। चाची जी ने आते समय कहा, 'रेणुका बेटी ! अपना ही तो घर है। घर की तंगी देख कर क्या कहीं बाहर ठहरा जाता है ?' उनकी आंखें कह रही थीं, 'चलो अच्छा हुआ ! बला सिर से टली।' मैं सोचती रही कि ये लोगों को क्या होता जा रहा है ? सोचते कुछ हैं, कहते कुछ हैं ? कहते कुछ हैं, उसके पीछे

कुछ और छिपा रहता है ? चाची जी ने अनजाने ही कितना बड़ा सत्य कह दिया था ! सचमुच लोगों की आंखें फूट गई हैं। फूट गई हैं या फोड़ दी गई हैं ? मुझे तो लगता है हमारे दिलों और दिमागों पर एक अजीबोगरीब धुंआ फैलता जा रहा है। हम सब की आंखों में बन्द कोटरियों का धुंआ भर गया है। हमें कुछ भी तो स्पष्ट दिखाई नहीं देता। जिसे जो कुछ, जैसा दिखाई देता है, वह उसे ही स्पष्ट समझता है। हम सब की इस 'स्पष्ट' की अलग अलग परिभाषाएं हैं। हम सब अपनी अपनी परिभाषाओं में बुरी तरह उलझे हुए हैं।

उस दिन डॉक्टर सन्ध्या इन्जैक्शन लगाने आईं तो उन्होंने भी यही बात कही थी, 'तुम जैसी लड़कियां भी समझ से काम नहीं लेंगी तो और कौन लेगा ? मिनट भर की भावुकता में बह जाने की सज़ा अब जनम भर भुगतो !' अगले दिन फिर उन्होंने उसी बात को आगे बढ़ाया था, 'आखिर तुम बी० टी० हो, अध्यापिका हो, क्या हो गया था तुम्हारी समझ को ? तुम उस लड़के को समझ नहीं सकीं जो लगातार तुम्हें धोखा देता रहा ? उस लफंगे बदमाश के खिलाफ रिपोर्ट क्यों नहीं करदी तुमने पोलीस में ?' मैं कुछ भी बोल नहीं सकी। मेरी आंखों में नरेन का चेहरा घूमता रहा। लेडी डॉक्टर मेरी ओर झुंझलाहट भरी दृष्टि से देखती हुई बोली, 'इसी इमोशनलिज़्म ने तो तुम्हारी राह में कांटे बिखेरे हैं। न जाने तुम बदमाशों से भी कैसे हमदर्दी रखती हो ?'

लेडी डॉक्टर चली गई। मेरे कानों में उसके बोल गूंजते रहे, 'उस लफंगे बदमाश के खिलाफ रिपोर्ट क्यों नहीं कर दी तुमने पोलीस में ?' अचानक नरेन की याद हो आई।

मैं शाहपुर गांव के हाई स्कूल में टीचरैस लगी हुई थी। उस इलाके के किसान अपने अधिकारों के लिए और मुरब्बेबन्दी में होने

वाले भ्रष्टाचार के विरुद्ध आन्दोलन कर रहे थे। नरेन गांव गांव में अपने दोस्तों के साथ जाकर ड्रामे कर रहा था। उसके एक ड्रामे के खिलाफ सरकार को शिकायत थी, पोलीस उसे गिरफ्तार करना चाहती थी। नरेन रातों रात दस मील पैदल चल कर आया था। रात के बारह एक बजे आकर उसने सांकल खड़खड़ाई थी। नरेन बैठता हुआ बोला था, 'पोलीस से बचता हुआ यहां तक पहुंचा हूं। इन ड्रामों का सिलसिला चालू रखना निहायत ज़रूरी है। अपने दोस्तों में से एक भी आदमी इस ज़िम्मेदारी को ले ले तो मैं कुछ दिन जेल में जाकर आराम कर सकूं।' रात कितनी ही देर ड्रामा की थीम और उस इलाके की कल्चर को लेकर मुझ से बहस करता रहा था। फिर मुस्कराते हुए बोला था, 'इस टीचरी में क्या मिलता है? पोलीस को जाकर मेरा पता दे दो, कुछ न कुछ इनाम किनाम तो मिल ही जायगा? साथ ही साथ एक बदमाश को पोलीस के हवाले करने का सुयश भी हाथ लगेगा!' मैंने कहा था, 'तुम्हें पोलीस के हाथों सौंप कर मैं जीते जी मर नहीं जाऊंगी क्या?'

डॉक्टर संध्या बहुत जली कटी कह जाती रही हैं परन्तु मुझे उनसे कभी घृणा नहीं हुई। जिसे उन्होंने जीवन में उचित समझा है, उसी की बात वह बग़ैर किसी लाग लपेट के कह देती हैं। व्यक्ति को इस बात पर भले ही दुःख हो कि उनकी समझ इतनी धुंधली क्यों है परन्तु कोई भी उनके साफ दिल होने में सन्देह कर ही नहीं सकता। कह रही थीं, 'मैंने बत्तीस साल तक आंखें खोल कर दुनिया को समझा है। कमीने और बदमाश लोगों को क्षमा करना सरासर अन्याय है।' जी में आया कहूं, 'सन्ध्या तुम तो पैंतीस साल में भी अभी आठ साल की बच्ची बनी हुई हो। दुनिया को समझने के लिए सिर्फ खुली आंखें ही काफी नहीं हैं खुला दिमाग़ भी होना चाहिए।' परन्तु मैं कुछ भी कह

नहीं सकी । कहने से शायद उनके आत्म सम्मान को चोट लगती, बुरा भी मान सकती थीं ।

मुझे यूं लगता है कि डॉक्टर सन्ध्या ने अपने आप को किसी खोल में बन्द कर छोड़ा है । उस खोल से बाहर निकलने की बात वे सोचना नहीं चाहतीं । शायद कभी किसी आग में जल गई हैं तभी अपने आप में सिमटी सिमटी सी रहती हैं । व्यक्ति को उस खोल की गूंज के अतिरिक्त और कुछ सुनाई नहीं देता । कई बार कुछ कहना चाहती हैं लेकिन कहते कहते सहम जाती हैं । उनका डॉक्टर, अन्दर बैठी सन्ध्या का गला घोंटता रहता है । इतने दिन मेरे पास आती रहीं लेकिन उनके डॉक्टर ने भीतर की सन्ध्या को कभी न बोलने दिया । कितने ही प्रश्न उनकी आंखों में आ आ कर चले गए लेकिन वे कह न सकीं ।

मुझे तो लगता है कि कुछ प्रश्न सन्ध्या के हृदय को बुरी तरह मथ रहे हैं । नहीं, मथ नहीं रहे, मन्थन से शायद कुछ हाथ लगता, उसे बुरी तरह डंस रहे हैं । इस दंश का विष निरन्तर उसे निढाल किए जा रहा है । मुझे भय है कि यह तीव्र विष उनके जीवन को विषाक्त न कर दे । डॉक्टर सन्ध्या किसी आग से बच निकली हैं लेकिन निकल कर भी निकल नहीं सकी हैं । मैंने कितनी बार चाहा है कि उन्हें इस आग से निकाल कर बाहर ले आऊं परन्तु उन्हें तो मेरी समझ पर ही सन्देह है, मेरी सामर्थ्य का भरोसा नहीं है । मुझे तो वे खुद लपटों में घिरा हुआ समझती हैं । उन्हें कैसे समझाती कि खोल में बैठ जाना आत्म रक्षा का उपाय नहीं है । तुम जिस खोल में बैठी हो उसे ही आग की लपटें घेर रही हैं । कहीं ऐसा न हो कि तुम देर कर बैठो और फिर चाहती हुई भी बाहर न निकल सको ।

नरेन पर उन्हें अत्यन्त क्रोध है । मैं समझती हूं, नीरज भैया का

क्रोध नरेन को जला कर शुद्ध ही करेगा, उससे घबराने की आवश्यकता नहीं है परन्तु लेडी डॉक्टर का क्रोध तो दावानल प्रतीत होता है। भय होता है तो यही कि इस दावानल की विकराल जिह्वाएं सब कुछ जला कर भस्म कर देंगी। इसमें न खरा बच सकेगा और न खोटा! सब कुछ स्वाहा हो जाएगा! चाहती थी नीरज भैया से कहूं, 'तुम्हीं इस दावानल को शान्त कर सकते हो, तुम्हें इन भयंकर लपटों की स्वच्छन्द लीला देखना शोभा नहीं देता। अपना क्रोध इस दावानल पर बरसाओ तभी शायद यह शान्त हो सके।' कुछ भी तो नहीं कह सकी! मुझ जैसा स्वार्थी कौन होगा? सबको दावानल में जलता छोड़, जान बचाने यहां भाग आई! डॉक्टर सन्ध्या कह रही थीं, 'ऐसे बदमाशों को जितना कठोर दण्ड दिया जाय वही कम है? ये ही लोग हैं जो समाज में भ्रष्टाचार फैलाते हैं। सोसाइटी के हंसते खेलते घरों को तबाह करते हैं। मुस्कराते हंसते बाग़ीचों में आग लगाते हैं।'

डॉक्टर सन्ध्या को कैसे समझाती कि कलाकार का मन कितना संवेदनशील होता है? उन्हें कैसे बताती कि नरेन ने किसी बागीचे को आग नहीं लगाई, वह बेचारा तो इन हंसते खेलते फूलों को बचाने की कोशिश में खुद जल गया है। अगर कुछ कहती भी तो खोल में बैठी सन्ध्या उसे कैसे समझ पाती? मेरे कहे को इमोशनलिज़्म कह कर मेरा मज़ाक उड़ाती। नरेन के लिए सन्ध्या का क्रोध मैं सह गई परन्तु वह मज़ाक कहां सह पाती?

नरेन जैसा सीधा और सरल आदमी भला किसी को कैसे धोखा दे सकता है? जिस दिन वह किसी को धोखा देगा उसका कलाकार मर जाएगा। यदि नरेन का कलाकार मर गया तो वह पृथ्वी का बोझ बन कर रह जाएगा, उसे यह सहन कहां होगा? ऐसे जीने से तो वह आत्महत्या कर लेना ठीक समझेगा। इधर कुछ पत्रिकाओं

में मैंने उसके गीत पढ़े हैं। धोखा देने वाला, विश्वासघाती ऐसे गीत कहां रच सकता है? ऐसा दर्द, इतनी तड़प, इतनी गहन अनुभूति तो उसी कलाकार के गीतों में हो सकती है जिसमें सरलता हो, गहन चिन्तन हो, विशालता हो, विश्व की वेदना को गले लगाने की शक्ति हो। डॉक्टर सन्ध्या कहती थीं, 'नरेन तुम्हें धोखा दे गया है। तुम्हें लूट गया है। फिर उसके लिए क्यों आंसू बहाती हो? ऐसे लोगों के लिए आंसू काफी नहीं हैं, दिल की आग बरसाने की ज़रूरत है।'

उन्हें कैसे समझाती कि नरेन ने किसी को धोखा नहीं दिया है क्योंकि वह किसी को धोखा दे ही नहीं सकता। उसके कलाकार ने उससे धोखा देने की शक्ति छीन ली है। उसे तो धोखा दिया गया है। उसे तो धोखा खाना पड़ा है। नरेन तो मुझ से भी कहीं अधिक बदकिस्मत है। मैंने जिस धोखे को खाया है दुनिया उसे समझती तो है! डॉक्टर सन्ध्या जैसे लोग मेरे लिए सहानुभूति के चार बोल कह तो सकते हैं! परन्तु नरेन तो मुझ से कहीं बड़ा धोखा खाकर भी, गुनहगार बना हुआ है। उस तक पहुंचते पहुंचते दुनिया की सहानुभूति के सब स्रोत सूख जाते हैं। मुझ से कहीं बड़ा धोखा खा कर भी उसे लोगों की घृणा, निन्दा, थू थू के अंगारे ही चुनने पड़ते हैं। नरेन किसी को क्या लूटेगा? उस बेचारे को तो दिन के खुले प्रकाश में लूटा गया है। वह तो लुटा ठगा सा पागल हो गया है। आंखें फाड़े दुनिया की ओर टकटकी बांधे सिर्फ देख सकता है। उसके दिमाग़ पर भारी हथौड़ों की इतनी चोटें पड़ी हैं कि उसकी समझने की शक्ति जाती रही है। दुनिया ने उसकी इस बेबसी और पागलपन की सी हालत का फायदा उठाते हुए उसके मुंह पर कालिख पोत दी है। उसे लुटेरा और ठग कह कह कर आसमान गुंजा दिया है क्योंकि लोग जानते हैं कि चोट खाए दिमाग़ में इतनी ताकत कहां कि अपनी सफाई में कुछ कह सके? लोगों ने सुअवसर से पूरा लाभ

उठाया है, अपने पापों की कालिख को नरेन के चेहरे पर मली कालिख की ओट में छिपा लिया है और अपनी इस चतुराई पर हंसते हंसते वे लोटपोट हो गए हैं।

डॉक्टर सन्ध्या को कैसे कहती, 'डॉक्टर साहिब ! नरेन ने किसी को नहीं छला है, वह तो खुद दुनिया के हाथों छला गया है। उसे दिल की आग की नहीं, मेरे आंसुओं की ही ज़रूरत है। यही उसकी दृष्टि को धोएंगे, उसके मस्तिष्क को स्वस्थ करेंगे, उसमें नवीन शक्ति फूंकेंगे ताकि वह झूठ, फरेब, दम्भ और पाप के चेहरे की नक़ाब उलट कर लोगों को इस भयानक चेहरे का भेद बता सके। डॉक्टर साहिब ! मैं नरेन को दावानल में जलने नहीं दूंगी क्योंकि अगर नरेन जल गया तो ये झूठ, फरेब, दम्भ और पाप हमेशा अपने पैशाची अट्टहास से सच्चे मनों को भयभीत करते रहेंगे। मैं अपने आंसुओं से इस दावानल को शान्त करूंगी।' डॉक्टर सन्ध्या को कुछ भी नहीं कह सकी, बस आंसू बहाती रही। डॉक्टर सन्ध्या को कैसे कहती कि 'तुम तो अभी पैंतीस बरस की नन्हीं मुन्नी बच्ची हो। तुम कैसे समझोगी कि ये आंसू प्रायश्चित्त के आंसू नहीं हैं। ये आंसू तो आस्था और विश्वास के आंसू हैं। ये जब बहते हैं व्यक्ति निर्बल नहीं होता अपितु उसके लड़खड़ाते कदमों में नई शक्ति आती है, वह अधिक सशक्त होकर अन्याय और पाप से लोहा लेता है। ये आंसू थक कर बैठने की निशानी नहीं हैं, जीवन की गतिमयता के शुभ लक्षण हैं।' डाक्टर सन्ध्या को कैसे समझाती कि नरेन तो सरलता की खान है, कपट और छल उसके पास ठहर नहीं सकता। ये तो दुनिया के कपटी मन ने उसे सोते देख अपने छल और कपट का काला कपड़ा नरेन पर डाल दिया है। आंख खुलते ही वह इसे उतार फेंकेगा। जो वस्तु उसकी अपनी नहीं है वह उसे तुरन्त त्याग देगा।

मुझे नरेन की सरलता में सन्देह कैसे हो ? यूं लगता है मानों

यह घटना पल भर पहले ही घटी है। नरेन उस रात को साइकल पर मेरे घर पहुंचा था। यूं लगता था शायद सैंकड़ों मीलों का सफ़र करके मुझ तक पहुंचा हो। ऐसी थकन मैंने उसके चेहरे पर कभी नहीं देखी थी। बैठते ही बोला था, 'झटपट एक कप चाय पिला दीजिए दिमाग़ बहुत बोझिल सा हो रहा है।' मैंने चारपाई बिछाते हुए कहा था, 'तुम कुछ मिनट लेट कर आराम कर लो मैं अभी चाय बनाए देती हूं।' नरेन कुर्सी से उठा था तो उसके पैर लड़खड़ा रहे थे। वह एकदम बिस्तर पर गिर पड़ा था। मैंने उसके बूट उतार कर जब उसे ठीक से बिस्तर पर लेटाना चाहा तो उसके मुख से शराब की तीव्र दुर्गन्ध आ रही थी। मैं एकदम चौंककर पीछे हट गई थी। फिर मैंने साहस करके उसे झिंझोड़ कर उठा दिया था। 'तुम शराब पीते हो, तुमने शराब पी है। तुमने मुझे आज तक क्यों नहीं बताया कि तुम शराबी हो? निकल जाओ मेरे घर से इसी वक्त। आज से कभी मुझे मुंह न दिखाना,' कहते कहते मैं फूट फूट कर रो पड़ी थी। नरेन लड़खड़ाते कदमों से दरवाज़े की ओर बढ़ा था तो मैंने लपक कर उसके पांओं को जकड़ लिआ था। 'तुम ऐसे नहीं जा सकते। तुम्हें बताना पड़ेगा कि तुमने शराब क्यों पी है? मैं बग़ैर बताए तुम्हें जाने नहीं दूंगी।' नरेन कुछ पल हाथों पर सिर झुकाए सोचता रहा था। फिर कुछ संभल कर थथलाती सी आवाज़ में बोला था, 'रेणु! मैं तुम्हें बताने आया हूं कि मैं बहुत पक्का शराबी हूं। देख रही हो न कि मैंने कितनी शराब पी है? मैं हर रोज़ शराब पीता हूं। मैं सभी कुछ छोड़ सकता हूं लेकिन इसे नहीं छोड़ सकता।'

मैं चीख़ उठी, 'तुम ये ज़हर क्यों पीते हो? क्यों अपनी ज़िन्दगी तबाह कर रहे हो?' नरेन अत्यन्त क्रूर हंसी हंस पड़ा। मैंने पहली बार जाना था कि हंसी में भी आदमी का चेहरा इतना भयंकर हो सकता है? नरेन बोला, 'बेवकूफ लड़की! तू इसे ज़हर कहती है?

ये तो अमृत है अमृत ! देवता लोग सोमरस पीते थे न ? वही लोग जाते वक्त एक मटका मेरे लिए छोड़ गए थे। इसे पीकर मेरी ज़िन्दगी अमर हो जाती है, उसे कोई तबाह नहीं कर सकता। तुम सब मिल कर मुझे जो ज़हर पिलाते हो, इस अमृत के घूंटों से मैं उसके असर को धोता हूं। पीता हूं और जीता हूं। जीता हूं और पीता हूं।' मुझे नरेन की ऐसी बातें सुन कर डर लगने लगा था। फिर भी मैंने साहस बटोर कर उसके गाल पर एक तमाचा जड़ दिया था। फिर मैं उसे अपनी बाहों में जकड़ कर फूट फूट कर रोने लगी थी।

नरेन बोला था, 'ये आंसू बहा कर मुझे ठगना चाहती हो ? मैं इन आंसुओं के पीछे छिपे मकर फरेब को अच्छी तरह जानता हूं। मैं तुम्हारी बेवफाई को खूब समझता हूं। मैं तुम्हारा गला घोंट दूंगा।' नरेन ने मेरे गले को पकड़ लिया था। फिर मुझे छोड़ते हुए बोला था, 'बेहया औरत, मैं तुझे गला घोंट कर नहीं मारूंगा। तू चाहती है कि मुझे फांसी हो जाय और तू किसी और आदमी के साथ मेरे बिस्तर पर सो सके ! तू मुझे गधा समझती है। ये आंसू बहा कर किसी और को छलना ? मैंने तुझे अपनी इन्हीं आंखों से अपने भाई के बिस्तर पर लेटे देखा है। तू मुझे धोखा देने की नाकाम कोशिश कर रही है मक्कार औरत। मनोरमा, मुझे ठगना चाहती है ? मैंने खुद अपने कानों से सोमेन के साथ तुझे मीठी मीठी बातें करते सुना है। मैं तुझे नहीं मारूंगा। सारी दुनिया को बताऊंगा कि तू ज़हरीली नागिन है। तूने पहले मुझे डंसा है, अब मेरे भाई को डंस रही है। तू मुझे नहीं मार सकती। जब तक सोमरस का मटका मेरे कब्ज़े में है तू मुझे नहीं मार सकती।'

मैं नरेन के दुःख को समझ रही थी। मुझ में कुछ भी बोलने की हिम्मत नहीं थी। जी चाहता था कि मैंने जिस हाथ से नरेन के गाल पर चांटा मारा है, उसे काट कर परे फेंक दूं। मुझे अपने आप से

घृणा हो रही थी क्योंकि मैंने दया की जगह क्रोध से काम लिया था। मुझे अपने आप पर झुंझलाहट हो आई थी। मैंने प्यासे को पानी पिलाने की अपेक्षा उसके पानी में कूड़ा कर्कट मिला दिया था।

नरेन अनाप शनाप बोले जा रहा था, 'अब रोती क्यों हो मनोरमा! तुम्हें रंगरलियां मनाते देख कर मैंने कभी बुरा नहीं माना तो मेरी खुशी देख कर तुम्हें दुःख क्यों होता है? मैं हर रोज़ बाई के पास जाया करूंगा। तुम कौन होती हो मुझे रोकने वाली? मैं अपने दिल का बादशाह हूं। मैं तुम्हें ठुकरा दूंगा। अपने महल में सैंकड़ों औरतों को रखूंगा, तुम्हें इससे क्या? तुम मेरे महल में नहीं रहना चाहती तो इसी वक्त फौरन यहां से निकल जाओ। अबे! कोई है? कहां मर गए सब के सब नौकर चाकर? इसे पकड़ कर हमारे महल से बाहर निकाल दो। इसे और सोमेन को शेरों वाले पिंजरे में छोड़ दो। नहीं, सांपों वाले कमरे में इन्हें बन्द कर दो। मैं इनके चेहरों पर सांपों के डंसने से उत्पन्न हुई पीड़ा देख कर आनन्द लेना चाहता हूं। नहीं, नहीं, उसमें कुछ आनन्द नहीं आएगा। ये दोनों झटपट मर जाएंगे। मैं रोम के शहन्शाहों का जां-नशीन हूं। मेरे मनोरंजन के लिए खूब बढ़िया खेलों का आयोजन होना चाहिये। मनोरमा और सोमेन को सलीबों पर टांग दो। मैं इन्हें सलीबों पर टंगे देखना चाहता हूं।—ये स्पार्टक्स के अनुयायी हैं, इन्होंने विद्रोह किया है। इन्हें सलीबों पर फौरन लटका दिया जाए। मैं बग़ावत को नाक रगड़ते हुए देखना चाहता हूं। मैं इनको सलीबों पर टंगे देख कर कई दिनों तक इनके चेहरों की पीड़ा का आनन्द उठाऊंगा।'

मैं सारी रात सो नहीं सकी थी। मुझे यूं लग रहा था कि मैं किसी सुनसान जंगल में भटक गई हूं। चारों ओर से चीते और भेड़िये चिंघाड़ते हुए, दहाड़ते हुए मेरी बोटी बोटी नोचने बढ़े आ रहे हैं। मेरा सारा शरीर पसीने में भीग गया था। नरेन कितनी ही देर तक

ऊट पटांग, बकता रहा था, 'तुम्हें कोई हक नहीं कि मुझे कुछ कहो ! मैं हर रोज़ नई औरत तलाश किया करूंगा। तुम्हें बता दूंगा कि मेरी दुनिया में औरतों की कोई कमी नहीं है। मैं तुम्हारे रहम पर नहीं जीता, यह तुम्हारी भूल है। नीरज गधा है। मुझे कहता है कि तुम्हें क्षमा कर दूं। तुम चरित्रहीना हो, तुम्हारी यही सज़ा है कि मैं भी चरित्रहीन बन जाऊँ। मैं कोठों पर जाता हूं तो तुम्हें जलन क्यों होती है ? सोमेन से भी मन नहीं भरा तो तुम भी किसी कोठे पर जा बैठो। रेणुका मुझे बेवकूफ समझती है। बेवकूफ वह है। मैं कभी उसे अपना भेद नहीं बताऊंगा। ये भेद अन्तिम घड़ी तक मेरे मन में सुरक्षित रहेगा।'

नरेन बड़बड़ाते बड़बड़ाते थक कर सो गया था परन्तु मुझे नींद नहीं आई थी। मैं लालटेन की मद्धिम रोशनी में टकटकी बांधे उसके चेहरे को देखती रही थी। उस दिन जान पाई थी कि नरेन के कलाकार को भयंकर लपटों ने किस बुरी तरह घेर लिया है। सोए सोए नरेन कितनी ही बार चौंक उठा था, कितनी ही बार बड़बड़ाया था, उसके चेहरे पर क्रोध और घृणा के, हिंसा तथा हत्या के कितने ही भाव आए थे। अपने हृदय में संचित सारी दया को, सारी क्षमा को मैंने उस सरल प्राणि के लिए दे दिया था जिसे चारों ओर से पीड़ा, निराशा, अपमान, दुत्कार, घृणा और कपट के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिला था। मेरे मन में बैठा कोई बोला था, 'रेणु ! तू ही इस सरलता और पवित्रता को आग में जलने से बचा सकती है। अगर तू ने कृपणता बरती, दया और क्षमा को बचा कर रखा तो जीवन भर यह बोझ तेरे मन पर पड़ा रहेगा, तू जीवन भर आत्म ग्लानि से जलती रहेगी।' मैंने निश्चय किया था कि हर मूल्य पर मैं उस अभिशप्त, अभिग्रसित सरलता की रक्षा करूंगी।

परन्तु कहां कर पाई उस सरलता की रक्षा ? मैं तो अपने हृदय की

सम्पूर्ण दया और क्षमा लुटा कर भी उसे बचा नहीं सकी ! नीरज भैया ने शायद मेरा मन रखने के लिए मेरी दया और क्षमा की अतुल सामर्थ्य की बात कही थी। मुझे तो यूं लगता है कि मेरी दया और क्षमा की सारी सामर्थ्य को किसी ने ग्रस लिया है। नरेन ने उस दिन ठीक ही कहा था कि मैं विष पात्र हूं। विष पात्र को कोई भला कब तक अपने अधरों से लगाए रखता ? नरेन ने एक दिन कहा था, 'कलाकार सारे विश्व के ज़हर को पीता है और बदले में अमृत विश्व को लौटाता है।' तो क्या उसने मुझे भी अमृत लौटाया है ? अगर यही अमृत है तो फिर यह ज़हर कैसे बन गया है ? कौन है जो व्यक्ति को बेहोश करके, कलश का अमृत लुंढा देता है और उसे ज़हर से भर देता है ? नीरज भैया को कहां कह पाई, 'नीरज भैया ! नरेन क्रोध का नहीं दया का पात्र है। उसकी सरलता को ठगा गया है। यह ठगी पिटी सी सरलता उन्मुक्त हृदय से विष को अमृत के भुलावे में बांटती फिर रही है।' मेरी दया अशक्त सही नीरज भैया की दया तो सशक्त थी। परन्तु उन्होंने तो ठगे हुए को ठग समझ लिया। ऐसे में उनकी दया नरेन को कहां मिलती ? मुझे जब समझ में आया था कि नरेन को दुनिया ने किस बुरी तरह छला है तो मेरी सम्पूर्ण दया आंखों की राह बह निकली थी।

सुबह उठ कर नरेन्द्र ने कहा था, 'रेणु ! क्या तुम रात भर यूं ही बैठी रही हो ?' मैंने कहा था, 'रात खत्म कहां हुई है ? रात तो अब शुरू हुई है।' बोलते बोलते मेरे मुंह से दीर्घ निश्वास निकल गया था। नरेन चारपाई पर उठ कर बैठ गया। उसकी आंखें थकन से बोझिल थीं। यूं लगता था मानों उसे सोए महीनों बीत गए हैं। वह दिन रात लगातार कांटों भरी पगडण्डियों पर दौड़ता रहा है। सोया कहां था, लहूलुहान तलवों से दौड़ते दौड़ते बेहोश होकर गिर पड़ा था। होश आते ही उसे फिर दौड़ने की सूझी थी। उसने समझ लिया था कि

दौड़ते दौड़ते, कहीं गिर कर निश्शेष हो जाना, यही जीवन की सार्थकता है। सब मंज़िलें उसकी नज़रों में धुंधली हो गई थीं। उसने समझ लिया था कि ये मंज़िलें छलावा हैं। इनके पीछे आदमी दौड़ दौड़ कर थक भले ही जाए इन्हें कभी भी पा नहीं सकता।

नरेन ने कहा था, 'रेणु! न जाने किस दुर्भाग्य से प्रेरित मैं, रात बहकी हालत में तुम्हारे पास चला आया। ऐसे में मुझे यहां नहीं आना चाहिये था। रेणु! मुझे क्षमा करना। मैं तुम्हारे घर में पांव रखने योग्य नहीं हूं। आज से फिर कभी इधर नहीं आऊंगा, सचमुच नहीं आऊंगा।'

मेरी आंखों में आंसू छलछला आए थे। मैंने कहा था, 'नरेन, रात ही तो तुम ठीक हालत में मेरे पास आए थे। क्यों नहीं आज तक तुमने मुझे यह सब बताया? मेरी कसम खाओ कि जब भी तुम्हारी ऐसी हालत हो तुम इधर चले आया करोगे। नरेन! झूठ नहीं कहती, मुझे तुम्हारा यही रूप बहुत अच्छा लगता है। मुझे तुम्हारे इसी रूप से प्यार है। क्यों तुम्हें व्यर्थ का सन्देह हो गया है कि मैं तुमसे घृणा करने लगी हूं? मैं, और तुमसे घृणा करूं? ऐसी पत्थर दिल अभी कहां बनी हूं?' कहते कहते मैं फूट फूट कर रोने लगी थी।

नरेन ने कहा था, 'मुझ जैसे चरित्रहीन के पास छिछली वासना और कपट के अतिरिक्त कुछ भी तो नहीं है रेणु! देखो! तुम्हें कितना छलता रहा हूं? मैं जो कुछ नहीं था तुम मुझे वही समझती रहीं। मुझे कैसी ही राजसी वेष भूषा से सजाने की कोशिश करोगी फिर भी मेरा असली रूप कहां छिप सकेगा? चलो अच्छा हुआ! अगर मेरा कपट देर से प्रकट होता तो शायद इसकी ज्वाला में तुम जल कर राख हो जातीं। मन में बहुत इच्छा थी कि तुमसे अपने असली रूप की बात कहूं परन्तु साहस नहीं होता था। अच्छा हुआ कि तुम सब कुछ

जान गई। मैं हूं ही घृणा का पात्र, मुझे इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलना चाहिये।' मेरी आंखों में असीम स्नेह उमड़ आया। मैंने कहा, 'एक बात बताऊं नरेन ?' 'झूठी बात कह कर अपने को और मुझे दोनों को छलना चाहती हो क्या ?' नरेन बोला।

मैंने कहा, 'किसी को ठगने की बात नहीं है नरेन ! तुम्हें देख कर एक सच्ची घटना याद हो आई है। पाकिस्तान से जान बचा कर भागते समय पिता जी केवल मां के ज़ेवर बचा लाए थे। उन्होंने सोचा था कि कहीं बैठ कर उसी पूंजी से दो वक्त का प्रबन्ध किया जाएगा। राह में काफिले पर फिर हमला हुआ। पिता जी जिस पूंजी को जीवन की आधारशिला समझते थे, उसे भी लुटेरों ने लूट लिया। मां, और मैंने बहुत मुश्किल से झाड़ियों में छिप कर जान बचाई थी। लुटेरे लूट कर, मार काट करके और कुछ जवान लड़कियों को लेकर भाग गए थे। उनके जाने के बाद मां ने और मैंने घायल आदमियों और लाशों के ढेर में पिता जी को बेहोश पड़े पाया था। पिता जी घायल हो गए थे। हम काफिले से पिछड़ गए। मां, पिता जी को जैसे कैसे तसल्ली देती रहीं। चलते चलते एक दिन पिता जी बेहोश होकर गिर पड़े। हमने उन्हें उठा कर एक द्रख्त के नीचे लिटा दिया। मैं, मां को वहीं छोड़ पिता जी के लिए कहीं आस पास पानी देखने निकल पड़ी। पास में एक छप्पड़ दिखाई दिया। मैं उधर पहुँची तो देखा कि कुत्तों ने एक लाश को बुरी तरह खा डाला था। कुत्ते मुझे देख कर डरे नहीं। निर्भय होकर अपने आहार में जुटे रहे। मैंने अपने दुपट्टे को पानी में गीला करने के लिए उतारा तो देखा कि पास ही एक खुली पोटली पड़ी हुई थी। एक दो फटे कपड़ों और एक मैले से पीतल के गिलास के सिवाय वहां कुछ भी नहीं था। मैं उसी गिलास में पानी ले आई। मैंने यही सोचा था कि वह गिलास सफ़र खतम होने

पार फेंकने के काम आएगा परन्तु वही सोने का निकला। उसी से पंजाब के इस पार पहुंच कर हम लोगों के पैर जम सके।

बात बिल्कुल सच है नरेन, अपने पास से घड़ी हुई नहीं है। मुझे तो आज भी कुत्तों से नुची लाश दिखाई दे जाती है लेकिन सोचती हूं कि लूटने वाले ने जिसे व्यर्थ की चीज़ समझ कर छोड़ दिया था वही तो काम की थी। लूटने वाले ने ऊपर की मैल देखी थी तभी छोड़ गया, भीतर की उज्ज्वलता देखता तो कभी न छोड़ता। मैंने उस घटना से बहुत बड़ा सबक लिया है। ऊपर से जब कोई चीज़ मैली दिखाई देती है तो मुझे उससे बहुत मोह हो जाता है, मैं उसे छोड़ नहीं पाती, उठा कर सहेज लेती हूं।' नरेन ने कहा, 'तुम्हारी बात की सत्यता में मुझे किंचित् मात्र भी सन्देह नहीं है रेणु, परन्तु इसी का दूसरा पक्ष भी मैंने अपनी इन्हीं आंखों से देखा है। बात मैंने अपनी आंखों से देखी है अतः मैं उसे झुठला नहीं सकता।

'होश्यारपुर, काश्मीरी बाज़ार में, घंटा घर के पास किसी शेख साहिब की बहुत बड़ी दुकान थी। लोगों ने दिन के खुले प्रकाश में उसे लूट लिया था। लुटेरों का सरदार लोगों को लूटने के लिए उकसाता जा रहा था और खुद हाथ में तलवार लिए खड़ा था। मैं उस लूट के नज़ारे को सामने खड़ा देखता रहा। किसी को टोकने की हिम्मत मुझ में नहीं थी। देखते देखते दुकान खाली हो गई। सरदार का साथी बोला, 'अपने लिए भी तो कुछ रख लिया होता?' सरदार आंखें नचाता हुआ बोला, 'इतना बेवकूफ नहीं हूं। ये देखो दुकान का असली खजाना तो मैंने अपने कब्ज़े में कर लिया है।' यह कहते-कहते उसने एक सोने का हार और दो सोने के कड़े, जेब में से निकाल कर हवा में उछाल दिये। लुटेरे साथी की आंखें चमक उठीं। कहकहा लगाता हुआ बोला, 'मान् गए उस्ताद, बड़ी दूर

की सोचते हो।' उस साथी ने हार और कड़े अपने हाथ में ले लिए। देखते देखते उसका मुंह उतर गया। बोला, 'उस्ताद, एह तां रोल्ड गोल्ड दा माल ए? तुम्हारी आंखें हैं या टिच्च बटन? तुसीं तां बादशाहो साड्डा तां आपणा दोहां हा कूड़ा कर छड्डिया ई।' मेरे देखते देखते उस्ताद ने शेख के खानदान को मां की मोटी सी गाली निकालते हुए, वे सोने के ज़ेवर खुले बाज़ार में फेंक दिये। गालियां देते हुए दोनों चले गए।

इस बात में भी रत्ती भर झूठ नहीं है। रेणु! मैं यही कहता हूं कि लुटेरों की आंखें कुछ देर के लिए धोखा खा जाएं तो खा जाएं, हमेशा के लिए धोखा नहीं खा सकतीं। उन्होंने सब कुछ लूट कर सिर्फ रोल्ड गोल्ड को खुले बाज़ार में फेंक दिया है। चमक उसमें कितनी भी क्यों न हो, रोल्ड गोल्ड, खरा सोना कैसे बनेगा? तुम्हारी आंखें झूठी चमक देखकर चौंधिया गई हैं। मैं जानता हूं तुम रोल्ड गोल्ड को खरा सोना कह कर अधिक दिनों तक अपने आप को नहीं ठग सकोगी।'

मैंने कहा था, 'नरेन, जिस सत्य को मैंने जाना है, वही मेरा अपना है। दूसरे के सत्य से अपने सत्य को बदलने की मेरी आदत नहीं है। तुम लाख कहोगे तो भी मैं अपने सत्य को दूसरे सत्य के बदले नहीं बेच सकूंगी।'

नरेन ने मेरी ओर विवश दृष्टि से देखते हुए कहा था, 'रेणु! मैं जानता हूं अब यह सब जान लेने के बाद तुम मुझे प्यार नहीं कर पाओगी। मैं उन अभागे लोगों में से हूं जिन्हें कभी प्यार नहीं मिल सकता। जिनको छूते ही प्यार, घृणा में परिवर्तित हो जाता है। मेरे दिल की तसल्ली के लिए तुम अपने आप से बहुत बड़ा धोखा कर रही हो। इस खूबसूरत धोखे से कभी किसी को सुख नहीं मिल सकेगा।'

मैंने मन में सोचा था, 'घृणा कहां, मैं तो तुम्हें दया दे रही हूं। यही दया तुम्हें नया साहस देगी, तुम्हारा सम्बल बनेगी। मेरा क्या है? मैं अभागिन तो जीवन भर प्यार की मरीचिका में भटक लूंगी! मेरी भटकन अगर तुम्हें बचा सकी तो मुझे जीवन भर मरीचिका में भटकने का दुःख नहीं होगा। मेरी भटकन तुम्हारी मैल को धो दे, तुम फिर अपने मार्ग पर निश्चित क़दमों से बढ़ निकलो, तुम्हारी सरलता इस शाप से मुक्त हो सके तो मैं उसी में अपनी अनन्त वेदना को भूल जाऊंगी। उसी को अपना सौभाग्य मान कर अपनाऊंगी।'

यह सब मैंने सोचा था, कहा नहीं था। मुझे भय था कि यदि मैंने हृदय की बात कह दी तो नरेन उसे सहन नहीं कर सकेगा, वह टूट जाएगा, बिखर जाएगा। मेरी दया ही उसे ले डूबेगी। मैंने निश्चय किया था कि नरेन मेरी दया के दर्शन कभी भी नहीं कर पाएगा। मैं अपनी दया को हमेशा मुहब्बत के आवरण से ढंकती रहूंगी। नरेन कभी नहीं जान पाएगा कि उसे प्रेम नहीं मिला, दया की भीख मिली है।

नरेन मुझे सोचते देख कर बोला था, 'क्या सोच रही हो?' मैं एक दम संभल गई थी। मैंने नरेन के गले में बाहें डाल दी थीं। उस के होंटों को चूम लिया था। उसकी गोद में सिर छिपाते हुए कहा, 'मुझे तुमसे मुहब्बत है। मैं तुम्हारे बग़ैर जी नहीं सकती। तुम जैसे भी हो मेरे हो। नरेन! हम दोनों एक दूसरे का हाथ पकड़ कर इन मुश्किलात का सामना करेंगे। तुम मुझे छोड़ कर कहीं नहीं जा सकते, कभी नहीं जा सकते।'

मैंने नरेन की आंखों में झांक कर देखा। उसकी आंखों में आशाओं के, विश्वास और साहस के सागर लहरा रहे थे। उसने मुझे

अपनी बाहों में जकड़ लिया था। नरेन ने मेरी आंखों को चुम्बनों से भर दिया था। नरेन ने कहा था, 'अब मैं इस आग से बच निकलूंगा। तुमने मुझे आग की लपटों में से निकाल लिया है।"

परन्तु नरेन ने तो विष फल खाया था, वह उसके ज़हर से कैसे बचता? उसने कब सोचा था कि विष फल, खाने में कितना ही मधुर क्यों न हो उसका परिणाम सहांरक ही होगा। बेचारा अपनी सरलता के कारण ही छला गया। कहते हैं प्रह्लाद की सरलता देख प्रभु ने विष में अमृत घोल दिया था, आज क्या प्रभु उस सरलता को नहीं देख पाए? मैं शायद प्रह्लाद के जीवन के एक पहलू को देख रही हूं वरन् ऐसा सोचने की गुञ्जाइश नहीं है। नरेन में प्रह्लाद की सी सरलता थी परन्तु निष्ठा कहां थी? उस निष्ठा के अभाव में प्रभु उस सरलता की ओर क्यों कर देख पाते? प्रह्लाद ने विष ग्रहण किया था परन्तु अमृत समझ कर। उसकी असीम निष्ठा के स्पर्श मात्र से विष अपनी सामर्थ्य खो बैठा, बेबस सा हो गया। प्रह्लाद ने उसे ही अमृत बना कर ग्रहण कर लिया। उसके मन में शंका नहीं थी, निष्ठा के सम्मुख शंका कहां ठहर पाती? प्रभु ऐसी सरलता को अनदेखा, अनसुना कर देते यह उनके बस की बात कहां थी? प्रभु तो प्रेम सगाई की बात ही जानते हैं, तभी दुर्योधन के मेवा त्याग, विदुर घर साग खाने बैठ जाते हैं।

नरेन की सरलता को तो मन की शंका, दिल का भय ले डूबे। उस सरलता का प्रभु क्या करते? नरेन की शंका और भय ने तो उसकी सरलता को ही विषाक्त कर दिया। ऐसी विषाक्त सरलता में इतनी असीम शक्ति कहां थी कि विष को अमृत बना पाती?

इसी शंका और भय ने ही तो मेरी दया को ग्रसा है। नीरज भैय्या मेरी दया की असीम सामर्थ्य की बात करते हैं परन्तु मेरी दया

को तो इसी शंका और भय ने जला डाला है। क्यों नहीं मैंने नरेन का हाथ पकड़े रखा ? वह विक्षिप्त था, परन्तु मैं तो विक्षिप्त नहीं थी ? सोचा था कि मुझे त्याग कर ही यदि उसे सुख मिले तो मैं क्यों उसकी राह का पत्थर बनूं ? यह सोचा कहां था, सोचने का तो बहाना किया था। दर असल मुझे तो अपने आत्मसम्मान को बचाने की सूझी थी। नरेन मुझे गले का पत्थर समझ कर ग्रहण करता यह बात मेरी अहमन्यता को पसन्द नहीं थी। क्यों नहीं मैं समझ पाई कि मेरा विश्वास, मेरी निष्ठा ही हमें बचा सकते थे। मैं तो अहमन्यता को बचाने में उलझी रही, ऐसे में दया रूठ कर मेरे हृदय से निकल गई तो उस बेचारी का क्या दोष ?

मन के सारे स्थान को तो अहमन्यता ने ही घेर लिया, ऐसे में दया बेचारी कहां बैठी रहती ? सब दोष मेरा ही है, मैं उस दया को ही घर से निकाल बैठी जिसके सहारे मैंने नरेन को आग की लपटों से निकालना चाहा था। जिसे देख नरेन ने कहा था, 'तुमने मुझे आग की लपटों से निकाल लिया है।' खूब सौदा किया ! मणि मुक्ता देकर चमकीले कांच खरीद बैठी !

कुछ देर बाद नरेन की बाहों की जकड़ ढीली पड़ गई थी। नरेन ने कुर्सी पर बैठते हुए कहा था, 'रेणु ! मुझे तो यूं लगता है कि मेरे जीवन में मरीचिका की भटकन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। मैं समझता हूं, तुम्हें मेरे साथ नहीं आना चाहिये। तुम आओ भी तो मेरे लिए यही ठीक है कि तुम्हें ऐसा करने से रोक दूं। अब भटकता हूं तो वही भटकन सब पीड़ाओं, व्यथाओं पर पर्दा डाले रहती है। जब तुम भी मेरे साथ भटकोगी तो इस रही सही आत्मवंचना की पूंजी से भी हाथ धो बैठूंगा। तुम मेरी इस रही सही पूंजी को मेरे पास ही सुरक्षित रहने दो। इसमें कितनी भी चमक, कितना ही आकर्षण हो, परन्तु यह तुम्हारे काम की वस्तु नहीं है। तुम

भाग कर मुझसे बहुत दूर चली जाओ, मुझे भय है कि कहीं तुम इस आकर्षण में अपने आपको ठगा न बैठो।" कहते कहते नरेन के मुंह से एक दीर्घ निश्वास निकल गई थी। उसने फीकी सी मुस्कराहट से उस निश्वास को ढांपने का प्रयत्न किया था।

मैंने चारपाई से उठ कर, नरेन की कुर्सी के पीछे खड़े होकर उसके गले में बाहें डाल दी थीं। मुझे यूं लगा था कि अगर मैं नरेन के सामने बैठी रही तो मेरी आंखें मन के भेद को प्रकट कर देंगी। मुझे सन्देह हो गया था कि नरेन ने शायद मेरी आंखों में झांक कर दया के कफ़न में लिपटी प्रेम की लाश को देख लिया है।

मैंने अपने प्रेम की अर्थी को, अहमन्यता की सन्तुष्टि के लिए बड़ा बना कर निकालने की बात शायद अनजाने ही सोच डाली थी। मन के उसी बहाव में बह कर मैंने अपने प्रेम को रंग बिरंगे फूलदार रेशमी कफ़न से ढांप दिया था। सोचा था जब प्रेम के शव को बड़ा बना कर ही फूंकना है तो फिर आंसू क्यों हों, रुदन क्यों हो? मैं तो बाजे गाजे बजाऊंगी, शंख फूंकूंगी, हंस हंस कर इस शव को ज्वालाओं की भेंट चढ़ाऊंगी। मेरी अहमन्यता ने मेरी इस लगन को देख कर कुटिल मुस्कान मुस्कराते हुए मेरी पीठ थपथपाई थी।

नरेन ने, शंखनाद और वाद्य ध्वनियों को सान्ध्य आरती की सुमधुर ध्वनि समझा था। उसके प्रणयी मन ने सब कुछ भूल, निशा आगमन की कामना की थी। भांति भांति के कल्पना चित्रों ने उसके मन को गुदागुदा दिया था! वह अपने प्रेम को पाने, विरह दग्ध प्रेमी की तरह, निशा के अन्धेरे में हृदय का आलोक बखेरता हुआ, पदचाप किए बग़ैर प्रेम के द्वार तक चला आया था। उसने मन में सोचा था कि जब प्रणय आतुरा प्रेम की देवी उसे अकस्मात् अपने सामने देखेगी तो हर्षोन्माद में सब कुछ भूल उसके गले में

बाहें डाल देगी। वह चुपके से द्वार खोल प्रेम तक पहुँचा था। दया का रंग विरंगा झीना परिधान ओढ़ कर लेटे प्रेम को देख कर उसने समझा था कि प्रतीक्षा करते करते उसकी प्रियतमा को नींद आ गई है। उसने चुपके से झीना आवरण उतार कर एक ओर रख दिया था। अपनी प्रियतमा को अपने भुजापाश में लपेट लिया था, उसकी आंखों पर, ललाट और कपोलों पर अनगिनत चुम्बन जड़ दिए थे। और दूसरे ही क्षण उसे आभास हुआ था कि उसकी प्रेमिका के होंठ बर्फ की तरह ठण्डे हैं, वह धोखे से किसी ठण्डी सिल को चूमता रहा है, उसने आंखें फाड़ कर देखा तो प्रेम की लाश उसकी बाहों में निढाल हुई पड़ी थी। नरेन भय के मारे चीख भी नहीं सका था, बस चौंक कर परे हट गया था। भय के मारे उसका शरीर कांपने लगा था। फिर उसने न जाने किस शक्ति से प्रेरित हो कर प्रेम की लाश को लिटा दिया था और चुपचाप उसे दया के उसी झीने कफ़न से ढंक दिया था। उसने प्रेम के शव के पास बैठ कर अपने सिर के बाल नोच लिए थे। वह चुपचाप टकटकी बांधे उसकी ओर देखता रहा था, सारी दुनिया का वीरानापन उसकी आंखों में सिमट आया था।

परन्तु मेरी अहमन्यता ने हार नहीं मानी थी। उसने कहा था, 'रेणु! मैं जो तेरे साथ हूं। दया जहां हार गई, वहां मैं जीतूंगी। तू मुझ पर भरोसा रख।" मैंने नरेन के गले में बाहें डालते हुए कहा था, 'नरेन! तुमने अभी तक मरीचिका की भटकन देखी है और कुछ देखा ही कहां है? तुम मुझे एक बार अपने साथ आने तो दो, फिर देखना, मरीचिका को मंज़िल बनते देर नहीं लगेगी। मैं तुम्हारी पीड़ाओं और व्यथाओं पर पर्दा नहीं डालूंगी। मैं तो उन्हें हमेशा के लिए हर लूंगी।' नरेन ने निराशा भरी आवाज़ में कहा था, 'रेणु! तुम बहक रही हो। मोह में फंस कर अपने कमज़ोर हाथों पर

वेदनाओं के बोझिल पहाड़ ओटने की सोच रही हो। माना तुम सब कुछ कर लोगी लेकिन मेरी किस्मत के लिखे को कैसे मिटा दोगी? जब किस्मत में ही भटकन है तो तुम्हारी दी हुई मंज़िलें ही अगर मरीचिका बन जाएं तो आश्चर्य नहीं है।'

मैंने कहा था, 'कैसी बातें करते हो? क्या तुम्हें मेरे विश्वास पर सन्देह है? ऐसा कभी नहीं होगा, कभी नहीं होगा।'

नरेन मुझ से अलग होकर पुनः चारपाई पर बैठ गया था। मैं अनमनी सी कुर्सी पर बैठ गई थी। नरेन मेरी आंखों में दूर तक झांकते हुए बोला था, दुःख भरी कहानी को जीवन में कितना ही दोहराया जाए, वह सुख की सृष्टि नहीं करती।'

कुछ ठहर कर, नरेन अतीत की स्मृतियों में झांकते हुए बोला था, ''मनोरमा ने भी ऐसी ही बातें कही थीं, उसने भी मेरी किस्मत के लिखे को मिटाना चाहा था परन्तु कहां मिटा सकी? सिर पटक पटक कर रह गई। जानती हो मनोरमा का असली नाम क्या है? लच्छो! और सोमेन्द्र का जानती हो? जैल सिंह! और मेरा? जरनैल सिंह!—मुझे ये नाम कभी पसन्द नहीं आए। इन्हें सुनते ही मुझे झुंझलाहट सी हो आती। अतः मैंने सभी नाम अपनी मन पसन्द के रख लिए। लच्छो को जब पहली बार मैंने मनोरमा कह कर बुलाया था तो उसे बहुत अजीब सा लगा था, फिर वह इसी नाम से अपने को पहचानने की अभ्यस्त हो गई। लेकिन मां आज तक भी उसे लच्छो कह कर ही बुलाती हैं। 'मनोरमा' मां के दिमाग़ में कभी नहीं बैठ सकेगा। फिर सोचता हूं, रेणु! नाम बदल देने से ही हकीकत कहां बदलती है? कूड़े कर्कट को कुछ भी नाम दे लो उसकी दुर्गन्ध ही उसके परिचय के लिए पर्याप्त है। मैं समझता हूं कि मां अनपढ़ हो कर भी मुझसे अधिक समझदार है, उसे हकीकत

को विभिन्न नामों के पर्दे में लपेट कर अपने आप को ठगना अच्छा नहीं लगता। और एक हम हैं, खूब पढ़े लिखे बनते हैं, कलाकार बनते हैं और लगातार अपने आप को ठगे जा रहे हैं। जो कुछ नहीं हैं, उसी को हकीकत मानने का ढोंग करते हैं। तुम भी लगातार अपने को धोखा देने की कोशिश कर रही हो। तुम फिर कान खोल कर सुन लो, दुख भरी कहानी की पुनरावृत्ति में तुम सुख खोजने के लाख जतन करोगी तब भी दुःख के सिवाय कुछ हाथ नहीं लगेगा।'

मेरी अहमन्यता ने अपने आपको अपमानित अनुभव किया था। उसे यह पसन्द नहीं था कि कोई भी उसे पराजित करके छोड़ जाए। उसने नये सिरे से नरेन को हराने की शक्ति संचित की।

मैंने कहा, 'नरेन! यदि सभी लोग तुम्हारी तरह सोचते तो आज मानव प्रगति की कहानी आशा के इन्द्रधनुषी रंगों से रंगी न होकर निराशा के काले रंगों से रंगी होती। भटकन में सन्तोष प्राप्त करना इलाज नहीं है, अपनी बीमारी को उजले कपड़ों में छिपाने का प्रपंच मात्र है। इस भटकन से कहीं बेहतर है कि हम लगातार पुरुषार्थ किए जाएं। किस्मत ने जो ग़लत पंक्तियां लिख दी हैं, उन्हें काट छांट कर ठीक किए जाएं ताकि उन्हें पढ़ कर और कोई भी भटक न जाए।'

नरेन ने मेरी ओर देखते हुए कहा था, 'आज तो तुम भी नीरज जैसी लैक्चरबाज़ी कर रही हो।'

'नीरज कौन?' मैंने पूछा था।

'तुम्हें आज तक कहां बताया है? है अपना एक सिर फिरा दोस्त।' नरेन ने जवाब दिया था।

'कभी अपने मित्र से मुझे मिलाइएगा?' मैंने उत्सुकता से कहा था। नरेन बड़े ज़ोर से हंस पड़ा था। रुक कर बोला था, 'उसे मिल

कर तो मेरी अकल चकरा जाती है और फिर तुम तो अभी बच्ची हो। उसकी बातों में उलझ कर रह गई तो मैं कहां ढूंढ़ता फिरूंगा तुम्हें ?'

मैंने हंसते हुए कहा था, 'आप जैसी बुद्धू मैं नहीं हूं कि कोई मेरे कान काट सके।'

कुछ दिनों बाद नरेन ने, नीरज की पुस्तक मेरे हाथों में देते हुए कहा था, 'नीरज को तो आपके दरबार में पेश नहीं कर सका, बहुत अक्खड़ तबीयत आदमी है। हां! उसकी लिखी यह किताब आपके दरबार में हाज़िर है।'

मैंने पुस्तक पढ़ी थी। पढ़ कर मन ही मन मैंने कहा था, 'इस आदमी से नरेन ने मेरी बातों की तुलना न जाने कैसे कर दी ? नीरज बाबू कहां! और मैं कहां! नरेन ने तो ऐसी बात कह दी है मानों किसी महाकाव्य के आगे, पहली का बच्चा अपनी बाल-पोथी रख के कहे कि देखो मेरी किताब, तुम्हारी किताब से कितनी अच्छी है। पागल कहीं का!'

नरेन जब किताब लेने आया था तो मैंने कहा था, 'अपने मित्र को अपने साथ अवश्य लाइएगा किसी दिन।' नरेन ने मज़ाक करते हुए कहा था, 'तुम अब गईं काम से। किताब पढ़ कर तुम्हारी यह हालत है तो उसे मिल कर खुदा जाने क्या हालत होगी ?'

मुझे कहां खबर थी कि उन्हीं नीरज भैय्या के घर में मेरी कलंक गाथा से यूं पर्दा हटेगा! किस्मत की ग़लत पंक्तियां कहां मिटती हैं, हम उन्हें ज्यों ज्यों मिटाते हैं, वे तो और गहरी होती जाती हैं! मेरी अहमन्यता के आगे जब नरेन हार गया था तो मैं प्रसन्न हुई थी। मैंने समझा था कि अब नरेन को मुझसे कोई भी अलग नहीं कर सकेगा परन्तु कहां खबर थी कि मेरा दुर्भाग्य ही, अहमन्यता का रूप

बदल कर आया था। भाग्य की रेखाएं कहां मिटीं ? उन्हें मिटाते मिटाते मैं ही मिट चली !

चलते समय नीरज भैय्या से, विपाक्त वातावरण में ही निरन्तर बढ़ते रहने की बात कह आई थी। नीरज भैय्या ने मुझे विक्षिप्त कहा तो मुझे झुंझलाहट सी हो आई थी। नीरज भैय्या तो मुझे ग़लत समझे ही थे, मैं ही कहां अपने को ठीक समझ पाई थी ? जो कुछ मैंने कहा था, वह मेरी आवाज़ थी ही कहां ? किसी मरघट में रात के गहन अन्धकार में मांस रुधिर रहित, नर मुंड में अचानक हवा भर जाने से जो शब्द होता है, उसे अन्धविश्वासी लोग किसी आदमी की ही आवाज़ समझ लेते हैं। मैं थी ही कहां, जो भैय्या से कुछ कहती ? इस महाश्मशान में, जहां नरमुण्डों में हवा भर जाने से निरन्तर शब्द होते रहते हैं, उन्हें सुन कर ही, अन्धकार में किसी को जीवित प्राणियों का भ्रम हो जाये तो उसका क्या दोष ?

मैं तो उसी दिन मर गई थी, जिस दिन मेरे दिल की कली खिलने से पहले ही मसल दी गई थी। पाकिस्तान से हिन्दुस्तान लौटते हुए मैंने एक वहशी दरिन्दे को नेज़े में मासूम बच्चे को पिरो कर हवा में लहराते हुए, अट्टहास करते देखा था। मेरा सारा शरीर भय से कांप गया था। नीरज भैया समझ कहां सके कि मैं तो मर गई थी, श्मशान के नरमुण्ड को ही वे सक्रिय मस्तिष्क समझते रहे। मैं तो उसी दिन मर गई थी जब मेरे कलेजे के टुकड़े को, जिसे मैंने अपने रुधिर और मांस से पाला था, मुंह देखने से पहले ही बोटी बोटी करके, इन दरिन्दों ने मेरे आगे फेंक दिया था। मुझे तिल तिल करके मरती देख अट्टहासों से आसमान गुंजा दिया था। व्यास ने, महाभारत में कुन्ती के दुःख को व्यक्त किया है। लोक मर्यादा की लज्जा से मां, अपने कलेजे के टुकड़े को सन्दूक में बन्द करके, नदी में बहा आई। कुन्ती ने अपने

बेटे को सन्दूक में बन्द करके बहाने से पहले उसका मुंह देखा तो होगा, उसे हज़ार हज़ार बार चूमा तो होगा, वह अपने दिल के टुकड़े को अपने कलेजे से लगा कर सिसकी तो होगी, उसने अपने में मां का सुख और गौरव अनुभव किया तो होगा परन्तु मुझे तो उतना भी नहीं मिला ! मुझे उतना ही मिलता, तो मैं उसी के सहारे जी लेती। मेरे मुन्ने को तो, मुंह देखने से पहले ही बोटी बोटी करके नोच डाला गया !

नरेन ने दुनिया की थू थू से, नाना प्रकार के कष्टों से बचने की बात कही थी। नरेन कहां मेरे कष्ट को समझेगा ? उसे मैंने कितनी ही बार तो समझाया था कि मैं नन्हीं सी जान को अपने सीने से लगा कर इतनी सशक्त बन जाऊंगी कि दुनिया भर के कष्ट और दुःख मुझे देख कर घबरा जाएंगे। उन सब प्रहारों को मैं हंसते हंसते फूलों की तरह सह लूंगी परन्तु नरेन ने कहां होने दिया ऐसा ? मुझे कष्ट मुक्त करने चला था, खूब कष्ट मुक्त किया ! चलते समय कह रहा था, 'रेणु ! मैं पागल हो गया हूं। मुझे कुछ समझ में नहीं आता कि ठीक क्या है और ग़लत क्या है ? तुम मुझे क्षमा कर देना, मैं जानता हूं कि मेरा अपराध क्षम्य नहीं है।'

मरे हुए व्यक्ति को, बढ़िया कपड़े पहना कर, सजा संवार कर, तकिये के सहारे बैठा भी दो तो क्या वह जीवित बन जायगा ? कौन नरेन को क्षमा करता, कौन उसके पागलपन को देख कर उसके दुःख में आंसू बहाता ? मुर्दे को तकिये के सहारे बैठा कर उससे बातें करता रहा ! जीवित होती तो कहती, 'नरेन ! तुम्हें क्या कम दुःख है ? आखिर तो वह तुम्हारा ही बच्चा कहलाता ! मैं दुखियारी तो उसे देख देख कर ही जी लेती ! मुझे तुमसे सिर्फ इतना गिला है कि तुमने जीते जी अपने बच्चे को वहशी दरिन्दों से डर कर उनके हाथों में क्यों सौंप दिया ? तुम ऐसा करने से पहले लड़ते लड़ते मर क्यों नहीं

गए ? तुम लड़ते लड़ते मर जाते तो मैं तुम्हारी चिता की राख से ही अपनी मांग भर कर सुहागिन बन जाती ! मुझे शिकायत है तो यही कि तुमने मुझे भी कायर बना डाला, मेरी निष्ठा को ही मुझसे छीन लिया। तुम तो अपने झूठे स्वार्थ और झूठी मर्यादा के लोभ में अपनी रेणु का ही गला घोंट बैठे, अब मैं मर चुकी हूं, कहां से आकर तुम्हारे आंसू पोंछूं ?' मुर्दा भला क्या बोलता ? मैं तो केवल पथराई आंखों से लगातार नरेन की बेबसी को, उसके दुःख को, उसके पागलपन को, टकटकी बांधे देखती रही !

मरघट में पड़े नरमुण्ड में जब हवा भरती है तो उसमें से ध्वनि निकलती ही है। इस नरमुण्ड की ध्वनि को कहां बन्द कर दूं ? रात सोई सोई न जाने क्या बड़बड़ाती रही। मिसेज़ कपूर मुस्कराती हुई कह रही थीं, 'रेणु अब तुम कोई अच्छा सा दूल्हा ढूंढ़ कर अपनी शादी रचा डालो। रात कौनसे मुन्ने की बात कर रही थीं ? हर चीज़ वक्त पर ही अच्छी लगती है। बेवक्त के ढोल नहीं सुहाते। कहो तो कोई अच्छा सा वर तुम्हारे लिए तलाश किया जाए ?'

बात करते करते मिसेज़ कपूर के आंसू छलछला आए। मुझे खींचती हुई अपने कमरे में ले गईं। अपने मृत पति के चित्र की ओर इशारा करती हुई बोलीं, 'इनकी बहुत साध थी कि हमारे कोई बेटी होती। इस साध को दिल में लिए ही चले गये !' फिर कुछ रुक कर आवाज़ को संयत करती हुई बोलीं, 'देखो रेणु ! आज मुझे मेरी बेटी मिल गई है। तुम्हारी शादी रचा कर इन्हें कहूंगी कि देखिये, आपकी बेटी की मैंने शादी रचा दी है।'

मैं बग़ैर कुछ कहे अपने कमरे में भाग आई। मिसेज़ कपूर ने समझा कि शायद मैं लजा कर भाग आई हूं। वे दरवाज़ा खटखटाती रहीं, मैंने नहीं खोला। कहती हुई चली गईं, 'बहुत नटखट लड़की है।'

मैं अपने बिस्तर में मुंह छिपाये सिसकती रही, सोचती रही, नटखट लड़की कहां है ? नटखट लड़की थी, बहुत देर हुई उसे मरे हुए। मेरी किस्मत तो मिसेज़ कपूर को भी ले डूबी। उन्हें लड़की मिली भी तो मरी हुई। मरी हुई लड़की का ब्याह रचाने चली हैं ? न जाने किस मुन्ने की बात कह रही थीं ? मैं जिस मुन्ने की बात कर रही थी उसे तो नरेन ने खुद बेरहम दुनिया की आग बरसाती आंखों से डर कर फेंक दिया था, बोटी बोटी करवा डाली थी। मैं तो उसे ढूंढ़ते ढूंढ़ते ही मर गई परन्तु कहीं नहीं मिला, कहीं नहीं मिलेगा। इस महाश्मशान में पड़ी मेरी खोपड़ी में जब हवा भर जाती है तो इसमें से भी तो मुन्ने के अलावा और कोई आवाज़ नहीं निकलती ! कोई दूसरा शब्द नहीं गूंजता। मैं किस्मत जली कहां आ मरी इस घर में। ये मेरी प्रेत ध्वनियां तो मिसेज़ कपूर को भी ले डूबेंगी।

नरेन तो आस्था विहीन निकला। आस्था के अभाव में दुनिया की निर्दयता को देख कायर न बनता तो और करता भी क्या ? नरेन कौन सा बृहस्पति पुत्र 'कच' था जो असुरों से बार बार मारा जाने पर भी पुनः पुनः जी उठता। नरेन को कौन सी 'मृत-संजीवनी' विद्या सीखने की लगन थी, उसने तो अपनी कायरता को भांति भांति के सुनहले आवरणों में ढंकने में ही कल्याण समझ लिया था। उसने सोचा ही कब था कि 'मृत-संजीवनी' विद्या सीखे बग़ैर आसुरी शक्तियों को पराजित करना असम्भव है। उसने कब जाना कि आवरणों में लिपटी कायरता अधिक घातक है क्योंकि इस कायरता का ढंका रूप व्यक्ति को धोखे में डाल देता है, वह इसी विनाशिनी सुरा को कल्याणकारी अमृत समझ बैठता है।

नरेन ने कहा था, 'रेणु ! ज़रा अक्ल से काम लो। अगर तुम्हारा बच्चा जीवित रहा तो उसका दुःख देखना तुम्हारे लिए असह्य हो उठेगा। तुम मोह से काम ले रही हो। जब यह दुनिया कदम कदम

पर हमें ठगती है तो हम इसे क्यों न ठगें ? धूर्त से धूर्तता करना पाप नहीं है नीति है।'

मैं न जाने कितनी भरी बैठी थी, झुंझला कर बोल उठी, 'लेकिन अपने आप को धोखे में रखना नीति नहीं है। आत्मवंचना विष है, अमृत नहीं है। तुम कैसी बातें कर रहे हो नरेन ? हिम्मत से काम लो, मेरा हाथ एक बार थाम तो लो। मैं तुम्हारे ऊपर आंच भी नहीं आने दूंगी, दुनिया भर के प्रहार अपने ऊपर ले लूंगी, सारे समाज के विष को पचा जाऊंगी, कलंकों की बौछार को तुम तक कभी भी नहीं पहुंचने दूंगी।'

नरेन क्रोध में चीख उठा था, 'इन बातों से तुम मुझे ठगना चाहती हो। तुम्हारी इन्हीं चिकनी चुपड़ी बातों ने मुझे छला है, तभी मैंने अमृत समझते हुए विष पात्र उठा कर होंठों से लगा लिया है। अब मेरे सामने हक़ीकत खुल गई है। मैं समझते बूझते ज़हर नहीं पी सकता। तुम विश्वास की आड़ लेकर मुझे चट्टानों पर सिर फोड़ने की सलाह दे रही हो। मैं इतना बेवकूफ नहीं हूं।'

मैंने कहा था, 'खैर ! लाख लाख शुक्र है खुदा का कि उसने समय रहते तुम्हें सोचने समझने की शक्ति प्रदान कर दी। प्रत्येक यथार्थवादी का कर्तव्य है कि वह यथार्थ से आंखें न मूंदे और फिर अब तो दिन प्रतिदिन तुम्हारा चिन्तन स्पष्ट होता जा रहा है।'

और तभी नरेन ने तड़ से एक चांटा मेरे गाल पर जड़ दिया था। उसने आग बरसाती आंखों से मेरी ओर देखते हुए कहा था, 'तुम्हें अपने स्वार्थ को सिद्धान्तों के पर्दे में लपेटते हुए शर्म आनी चाहिये।'

वह चपत नरेन ने मेरे गाल पर नहीं मारी थी, मेरे सोए हुए आत्मसम्मान को उसने ललकार दिया था। मैंने कहा था, 'नरेन

तुमने बहुत अच्छा किया। विष पात्र की यथार्थता को समझते हुए, यथा समय उठा कर परे फेंक दिया।'

तभी अहमन्यता हंसी थी। उसने उलाहना देते हुए कहा था, 'बस! इतनी ही हिम्मत थी? इसी हिम्मत के भरोसे पर तूने नरेन को आग की लपटों से निकालने का संकल्प किया था? खूब निकाला आग से? उस आग में झुलस कर वह भटक तो रहा था, उस भटकन में उसे सन्तोष का अनुभव तो हो रहा था? तूने तो नरेन से उसका आखिरी सहारा भी छीन लिया। आग से निकालने का बहाना करके उसे इस नरक की आग में धकेल दिया?' बात समाप्त करके मेरी अहमन्यता डायन जैसी हंसी, हंस पड़ी थी।

मैंने कहा था, 'अरी डायन! तू मुझे जितना निर्बल समझती है, उतनी निर्बल मैं नहीं हूं। मेरी निर्बलता ही तेरे दांत खट्टे करने के लिए काफी है। मैं मर कर भी तेरे आगे हार नहीं मानूंगी। तूने ऐन मौके पर मुझे चौकन्ना कर दिया। अब नरेन आग में नहीं जलेगा। मैं अपने जिगर का खून बरसा कर इस आग को ठण्डा करूंगी।'

मैंने नरेन से कहा था, 'आखिर तुम मेरे बुरे की बात सोच ही कैसे सकते हो? मेरी समझ ही कितनी है? तुम जैसा चाहोगे वही होगा। मैं अपने स्वार्थ में फंस कर न जाने क्या क्या सोच गई, क्या क्या बक गई? तुम्हारी सुझाई बात मान लेने में ही हम दोनों का कल्याण है।'

मेरी बात सुन कर नरेन ने अजीब सी, संतोष की सांस ली थी, उसके दिल पर से बहुत बड़ा बोझ उतर गया था। उसने कहा था, 'इसमें बुरा ही क्या है? किसी को भी तो खबर नहीं होगी।' मैंने नरेन की कायरता की ही प्रशंसा कर डाली थी। अपनी किस्मत से कहा था, 'बोल! तू हारी या मैं?'

किस्मत फिर मुस्कराई थी, क्योंकि वह जानती कि नरेन में और मुझ में न पुरुषार्थ था और न ही विश्वास अतः ऐसे में हराने का नाटक भले ही रच लिया जाता, परन्तु उसे हराना असम्भव था।

नरेन को दोष क्यों दूं? मैं ही निष्ठा कहां संजो पाई? मैं ही 'देवयानी' नहीं थी तो नरेन 'कच' कैसे बनता! मैं 'देवयानी' होती तो क्या नरेन मृत-संजीवनी विद्या सीखने से वंचित रह जाता? मैं तो 'देवयानी' बनने का अभिनय करके ही नरेन को छलती रही। उसे कहां छलती रही, अपने आपको ही छलती रही। आत्मछलना से आत्मदाह के अतिरिक्त मिल ही क्या सकता था? आत्मदाह मिला है तो इसमें नरेन का क्या दोष?

नरेन तो इसी आत्मदाह में जल गया। जला व्यक्ति निष्ठा कहां से जुटाता? यह तो मेरा कर्तव्य था कि नरेन को निष्ठा का सहारा देती परन्तु यह निष्ठा का खरा सिक्का था ही कहां मेरे पास? खोटे सिक्कों से व्यापार करने चली थी! जल कर व्यक्ति क्या चीखेगा भी नहीं? कह रहा था, 'मेरा बस चले तो इस लेडी डॉक्टर की बच्ची को गोली मार दूं। अपने गिरेबान में झांक कर कोई नहीं देखता, तभी दूसरों के पाप पहाड़ दिखाई देते हैं।'

और मैं भी तो चीखने लगती हूं। डॉक्टर संध्या के क्रोध को दावानल कह देती हूं। क्या हो गया है मुझे भी? यह दावानल होता तो क्या मुझे जला कर भस्म न कर देता? डॉक्टर संध्या के क्रोध में तो चन्दन जैसी शीतलता है। ऐसी अभागिन है यह डॉक्टर संध्या कि क्या कहूं? न जाने किस शाप से यह शापित है? तभी इसके आंसू अंगार बन कर प्रकट होते हैं; सहानुभूति, क्रोध बन कर बरसती है। जब व्यक्ति दूर से डॉक्टर संध्या के क्रोध के दर्शन करता है तो उसे झुंझलाहट हो आती है। तभी नरेन, संध्या के लिए ऊल जलूल बातें

बकने लगता है। परन्तु इस क्रोध की हक़ीक़त को तो वही जानता है जिसे यह क्रोध छू लेता है। संध्या के क्रोध में जलन कहां है? इसमें तो केवल सहानुभूति की ठण्डक है।

कह रही थी, 'ऐसे लोगों के लिए आंसू बहाना ही काफी नहीं है, दिल के अंगार बरसाने की ज़रूरत है।' मुझे संध्या की बात सुन कर झुंझलाहट हो आई थी। तब जान ही कहां पाई उस क्रोध को! ज्यों ज्यों समय बीत रहा है, उस क्रोध की ठण्डक अनुभव हो रही है। तब जान पाती तो संध्या से कहती, 'डॉक्टर साहिब! दिल के अंगारों में इतनी शीतलता भर देना मुझे कहां आता है? मेरे आंसुओं में और आपके अंगारों में अन्तर नहीं है।'

मुझे तो यूं लगता है कि डॉक्टर संध्या मुझसे कहीं महान है। मैं तो छोटे से दुःख को देख कर ही घबरा गई। इसे ही पचा नहीं सकी। इस दुःख को ओढ़ कर ही बड़ा बनने का गर्व अनुभव करती रही। आज डॉक्टर संध्या को समझ सकी हूं। समझ कहां सकी हूं? समझ रही हूं। अभी तो न जाने कितना अनन्त समझने के लिए शेष है!

डॉक्टर संध्या तो दुःख को पचाना जानती है। जिसे मैं दावानल समझ रही थी, वह तो बड़वानल थी। समुद्र की आग समुद्र को भीतर ही भीतर भले ही जलाती रहे, समुद्र अन्य को तो कभी नहीं जलाता। कितने दुःखों की असह्य ज्वालाओं को डॉक्टर संध्या के अथाह हृदय ने पचाया होगा, तब कहीं जाकर उसके क्रोध में शीतलता आई होगी। क्रोध में शीतलता भर पाना अनन्त दुखों को पचाये बग़ैर कहां सम्भव था?

मैं तो समझी थी कि यह संध्या पैंतीस वर्ष की होकर भी नन्हीं सी बच्ची बनी हुई है। यह कहां समझ पाएगी मेरी वेदना को? अब समझ

में आ रहा है कि संध्या कभी कहां थी, वह तो विष्णु ने वामन का रूप धरा था। उस वामन रूप को देख कर ही मैं तो ठगी गई। मैं भी कितनी खोखली निकली। अपने दुःख को दिखा दिखा कर ही बड़ा बनने का प्रयत्न करती रही। संध्या क्या समझी होगी मुझे? यही न! कि भगवान ने कितने छोटे पात्र में कितना अधिक भर दिया है? सन्ध्या अभी मिल जाए तो उसे पकड़ कर कहूं, 'डॉक्टर जी! मुझ जैसे अकिंचन की ऐसी कठिन परीक्षा लेने में क्या मिलता है आपको? मैं तो किसी का साधारण रूप पहचानने में ही असमर्थ हूं, मैं कहां पहचान सकूंगी यह विचित्र रूप? मुझ से आपका विराट रूप नहीं सहा जाता, मुझे तो अपना वही चिर-परिचित रूप दिखा कर ही कृतार्थ कीजिये।'

मैंने सोचा था कि संध्या इसलिए मुझसे अपने मन की बात नहीं कह पाई क्योंकि उसने मेरी वेदना को नहीं पहचाना था परन्तु अब यूं प्रतीत होता है कि वह मेरी सीमित सामर्थ्य देख कर ही चुप रही। उसने सोचा होगा, 'मन की बात अगर कहूंगी भी तो रेणु उसे कहां समझ पाएगी? इस नन्हीं सी जान को, जो वेदना के स्पर्श मात्र से घबरा उठती है और ऊपर से साहसी बनने का दम्भ करती है, असीम वेदना के दर्शन करवाने से किस अलभ्य की प्राप्ति होगी?'

डॉक्टर संध्या मेरे सुख के लिए ही शायद चुप रहीं। नरेन ने आज तक अपने को ही नहीं समझा, वह दूसरों को क्या समझेगा? अगर डॉक्टर सन्ध्या को समझ पाता तो कभी भी उसके मुंह से सन्ध्या के लिए जली कटी बातें न निकलतीं। नीरज भैय्या की प्रशंसा करते समय तो उसकी जिह्वा थकने का नाम ही नहीं लेती परन्तु संध्या की प्रशंसा में तो उसने आज तक भूल कर भी कोई शब्द नहीं कहा। उसी की बातों को सुन सुन कर मेरा दिमाग भी खराब हो गया है। तभी सन्ध्या के क्रोध के असली रूप को नहीं पहचान पाई।

नरेन के दिमाग़ का सहारा लेकर मैंने डॉक्टर संध्या को समझने का प्रयत्न किया है तभी गलती हुई है। मुझे तो यूं लगता है कि संध्या, नीरज भैय्या से भी महान है। नीरज भैय्या तक महानता का श्रेय पहुंचता तो है, व्यक्ति उनके गुणों को समझता तो है, वे यश के सहारे मरुस्थल की लम्बी राह को पार कर सकते हैं परन्तु संध्या तक पहुंचते पहुंचते तो यश के पैर थक जाते हैं, व्यक्ति संध्या के गुणों को ही अवगुण समझ बैठता है। महानता संध्या तक पहुंचने का साहस नहीं जुटा पाती मानों संध्या के सामने आने में महानता को अपनी लघुता का भास हो आता है। संध्या तो आप अपना सम्बल है, उसे किसी अन्य सम्बल की आवश्यकता नहीं। नीरज भैय्या, संध्या जैसे कहां बन पाये हैं ?

नीरज भैय्या ने कहा था, 'क्रोध और घृणा की साकार प्रतिमा देखने की इच्छा हो तो मुझे याद किया करना।' आज नीरज भैय्या मिलें तो कहूं, 'तुम्हें याद करने से मेरा मन कहां अघा पाता है ? ज्यों ज्यों दिन बीतते हैं संध्या ही अधिक याद आती है। तुम याद आते हो तो उसी याद के माध्यम से न जाने संध्या कहां से चलती हुई पास आ जाती है।'

यह मुझे क्या हो गया है ? किस गोरखधंधे को ले बैठी हूं ? मुझे चुप देख कर मिसेज़ कपूर भी घबरा सी उठती हैं। क्यों करती हैं मुझसे इतना स्नेह ? मैं उनके स्नेह के योग्य कहां हूं ? मैंने खाना नहीं खाया तो ये भी भूखी लेट गईं। मैंने पूछा तो कह दिया, 'बेटी, मुझे भूख नहीं है।' इन्हें तो सब अपने जैसे भले दिखाई देते हैं। जिस दिन इन्हें मेरे पापों की आग में जलना पड़ेगा तब इन्हें स्नेह करने का सुफल मिलेगा !

मुझे तो कुछ समझ में नहीं आता कि भाग कर कहां जा छिपूं ?

जहां मेरी छाया तक भी कोई न देख सके। मेरी तो छाया तक लोगों को जलाती है। लोगों को क्या मुझे भी तो निरन्तर जलाती रहती है। ये अतीत के साये क्यों निरन्तर मेरा पीछा करते रहते हैं? कैसे इनसे अपना पीछा छुड़ाऊं? मुझे तो यूं लगता है कि ये अतीत के साये ही ठोस यथार्थ हैं। आज की धरती तो अस्तित्व हीन है। न जाने कब पैरों के नीचे से खिसक जाए? चलो अच्छा है, इसे खिसक जाने दो। इसके खिसक जाने में ही कल्याण है। धरती ही नहीं रहेगी तो इन सायों का अस्तित्व ही कहां रहेगा? परन्तु यह धरती खिसक कहां रही है? खिसकती है तो उससे पहले कुछ और पैरों के नीचे आ जाता है, उससे भी कहीं अधिक ठोस। जब जीवन की दौड़ इस ठोस धरती पर दौड़नी ही है तो इन सायों की चिन्ता क्यों हो? जब तक दौड़ना है, ये साये तो आड़े तिरछे, आगे पीछे, छोटे लम्बे हो हो कर धरती पर गिरते ही रहेंगे। ये साये सत्य कहां हैं? सत्य तो धरती है, जिस पर दौड़ना है, या फिर मैं हूं जिसने दौड़ना है परन्तु जब तक मैं हूं ये साये भी बने ही रहेंगे। अगर इन्हें मेरे अस्तित्व के साथ बने ही रहना है तो फिर इनसे भय क्यों हो? मैं तो इन्हें ही मित्र बनाऊंगी, मेरी अनन्त यात्रा के सच्चे साथी यही तो रहेंगे। कितने लोग आए, दो कदम चल कर बिछुड़ गये, परन्तु इन सायों ने तो कभी भी मेरा साथ नहीं छोड़ा। ओ मेरे प्रिय मित्र! मैं तो तुम से यूं ही डरती हूं। तुम ही न रहे तो ये लम्बी राहें, जो तप्त मरुस्थलों और कंटकाकीर्ण पगडण्डियों से होती हुई अनन्त तक चली गई हैं, कैसे कटेंगी?

ये नीरज भैय्या, सन्ध्या, मिसेज़ कपूर महान होंगे तो अपनी जगह होंगे, मुझे इनसे क्या? इनकी महानता का मुझे क्या सुख, मुझे क्या सहारा? मेरे लिए तो ये साये ही महान हैं। ठोस न होकर भी ये नीरज भैय्या, सन्ध्या और मिसेज़ कपूर से अधिक

ठोस हैं। इनका यथार्थ सब यथार्थों से बड़ा है। नीरज भैय्या और सन्ध्या आए और अपनी महानता की धाक जमा कर चलते बने। इसी तरह मिसेज़ कपूर भी अपनी महानता से मेरी आंखों को चकाचौंध करती हुई कहीं विलीन हो जायेंगी। और भी न जाने कितने लोग आएंगे, बिछुड़ते जाएंगे लेकिन ये साये कभी नहीं बिछुड़ेंगे क्योंकि इन्हें महानता की धाक बैठाने की धुन सवार नहीं है, ये तो मेरे चिर-संगी, चिर-सखा बने रहना चाहते हैं। मैं तो इन्हीं के सहारे बढ़ूंगी, इन्हीं के सहारे मंज़िलों तक पहुंच जाऊंगी।

लेकिन ये साये भी तो मेरी तरह अन्धे हैं, अज्ञानी हैं। इन्हें क्या खबर कि मंज़िल किसे कहते हैं, ये मंज़िलों की पहचान क्या जानें ? इन्हें तो विश्वसनीय मित्र की तरह साथ भटकना आता है। जो मंज़िलों को पहचानते ही नहीं वे मुझे मंज़िल पर क्या पहुंचाएंगे ?

वाह रे नरेन ! तुम्हें भटकन से निकालने चली थी। तुम्हें बचाती बचाती मैं तो खुद ही भटक चली। अब तो भटक भटक कर ही इस जीवन का कहीं अन्त हो जायगा। मंज़िलें कहां मिलेंगी ? हां भटकने में ही मंज़िल की भ्रान्ति होती रहे तो होती रहे !

नरेन ! तुम तो मुझे भी ले डूबे। तुम्हें बचाने चली थी। मुझे क्या पता था कि डूबता आदमी, बचाने वाले को भी ले डूबता है। तुम्हें किनारे तक लाती लाती मैं तो खुद ही भंवर में फंस चली। आस्था की शक्ति ही निश्शेष हो गई तो भंवर से कहां निकलूंगी ? अब तो इस भंवर को ही मंज़िल कह कर किसी दिन चिर-निद्रा में आंखें मूंदनी पड़ेंगी।

नीरज भैय्या ! कभी मेरी मंज़िलों की खबर, मेरी चिर-निद्रा के बाद तुम तक पहुंचे तो इस भंवर की कहानी ज़रूर लिखना। तुम से मैंने विषाक्त वातावरण में आगे बढ़ने की बात कही थी, मुझे क्या

पता था कि आगे बढ़ने की कथा इन्हीं भंवरों तक पहुंचती है। मेरी राह में तो केवल भंवर हैं, और भंवर हैं और अन्त में एक भयानक भंवर है जिसमें डूब कर मुझे समाप्त हो जाना है।

सन्ध्या! तुम्हारा क्या दोष? मैं तुम्हें बहुत देर से मिली। इसमें तो मेरे भाग्य का ही दोष है। सिर्फ तुम थीं जो मेरे मुन्ने को बचा सकती थीं। परन्तु तुम तक तो मांस की बोटियां पहुंची थीं तुम उनमें कहां से जान फूंक देतीं? क्यों बचाया तुमने मुझे? मैं तुम्हारे जैसी शक्तिशाली कहां थी जो विश्व भर की आग को पचा जाती? तुमने मुझे मंज़िल तक पहुंचाना चाहा था परन्तु मेरे मुन्ने के बग़ैर मेरी तो मंज़िलें ही भंवर बन गईं। लोग कहते हैं, निष्ठा हो तो भंवर भी साहिल बन जाते हैं। मुन्ना ही तो मेरा विश्वास था, मेरी निष्ठा था, मेरा सम्बल था। नरेन ने तो उसकी बोटी बोटी कटवा डाली! अब कहां से लाऊं भंवर को साहिल बनाने की शक्ति!

अब तो जीवन भर रुदन है, सिसकियां हैं, आहें हैं, घुटन है, भटकन है, जलन है, तड़पन है। लेकिन वाह री अहमन्यता! तू इतना कुछ देकर भी कहां अपनी चालों से बाज़ आई है? ऐसे ऐसे नाच नचाती है कि इन मरघट की धू धू करती लकड़ियों को ही पवित्र और कल्याणकारी यज्ञ की समिधाएं कह कर अपने आप को छलना पड़ता है। लोग इस यज्ञाग्नि को मंगलकारिणी समझते हैं, देख देख प्रसन्न होते हैं और तू इस अनोखे खेल को देख कुटिल हंसी हंसने लगाती है। और अब तो भटकन ही कितनी है? दौड़ दौड़ मैं हांफ चली, अब तो ढेर हो कर गिरने की वेला है।

● ● ●

टूटे मस्तूल, फटे बादबान

★सन्ध्या

वन्दना कह रही थी, "डॉक्टर साहिब, सचमुच नये पर्दे ड्राइंग रूम में खूब सजते हैं। लाइट ब्ल्यू शेड मुझे बहुत पसन्द है। और लाइट ब्ल्यू ज़मीन पर ये शानदार प्रिंट! बस पूछिये मत। सचमुच आपकी पसन्द की तारीफ करने को जी चाहता है।" मैंने हंसी हंसी में कहा, "तुझे इतने ही पसन्द आ गए हैं तो उतार कर ले जा न?" वन्दना एकदम सकुचा गई, झिझकती सी बोली, 'डॉक्टर साहिब ये शानदार पर्दे मेरे छोटे से क्वार्टर में क्या ख़ाक सजेंगे? हर चीज़ अपनी जगह पर ही अच्छी दिखाई देती है। इन्हें ले जाने की गर्ज़ से थोड़े ही कह रही हूं? जो चीज़ अच्छी लगे उसकी तारीफ तो हो ही जाती है।" न जाने वन्दना के मन में क्या हलचल सी मची कि फिर बैठ नहीं सकी उठ कर चली गई। अजीब नर्स है! शायद नर्स मर्ज़ी से नहीं बनी, परिस्थितियों के थपेड़ों ने इसे नर्स बना दिया है।

नीरज बाबू पुरुषार्थ की असीम शक्ति के बारे में न जाने क्या कुछ कहा करते हैं। उनके तर्कों को झुठलाते नहीं बनता लेकिन मन के भीतर बैठा कोई निरन्तर कहता है, भाग्य प्रबल है, अटल है, अजेय है। प्रचण्ड झंझा के आगे रेत की भीत कितनी देर ठहरेगी?

कितने चाव से इन पर्दों को ख़रीद कर लाई थी। ख़रीदने से पहले मन में कोई योजना तो थी नहीं, देखते ही ऐसे पसन्द आए कि रहा नहीं गया, ख़रीद लिए। स्नेहप्रभा कहने लगी, 'हम तो इनकी ट्रांसफर के बाद से अब देहली के ही नागरिक बन गए हैं। देहली या

तो रास आती नहीं और जिसे रास आ जाए उसे यह छोड़ती नहीं। इनके केस में दूसरी बात ही ठीक है। जब से यहां आए हैं इन्हें बाहर की दुनिया बेजान सी लगती है। खैर! तुम तो अधिक दिन रुकोगी नहीं। अच्छे मौके पर आई हो। आओ, आज नुमाइश ही देख डाली जाए?" स्नेहप्रभा के साथ नुमाइश देखने निकली तो स्नेह बोली, "संध्या! इन्हें तो बस दफ्तर की झंझटों से ही फुरसत नहीं मिलती। ऐसे आदमी को तो दफ्तर की फाइलों से ही शादी कर लेनी चाहिये। सच कहती हूं, मैं तो इस ज़िन्दगी से तंग आ गई हूं। यह देहली ही मेरी तो सौत बन गई है। तुम आई हो तो आज तुम्हारे बहाने ही घूमने निकल सकी हूं।"

बातें करते करते अचानक बंगाली स्टाल पर पड़े ये पर्दे मेरी नज़र में समा गए। यूं लगा मानों बंगाल के बुनकरों और कारीगरों के कटे अंगूठे फिर से जुड़ गए हों। रह नहीं सकी मैंने पर्दे खरीद लिए। सोचा था कि जब ये मेरे ड्राइंग रूम के दरवाज़ों और खिड़कियों पर सरसराएंगे तो इनके माध्यम से असंख्यों कहानियां मुझसे गुप चुप बातें किया करेंगी। लेकिन वन्दना का एक ही वाक्य गर्म लू के झोंके की तरह आया और उन कहानियों को अपने साथ बहा कर ले गया। कहानियां न जाने कहां खो गईं, सिर्फ फड़फड़ाते पर्दे रह गए।

वन्दना मुझसे कहीं अधिक समझदार है तभी तो उसकी ज़िन्दगी में पर्दे नहीं हैं। इन पर्दों की बहुत तारीफ कर रही थी, लाइट ब्ल्यू शेड उसे बहुत पसन्द है और प्रिंट तो मानों गज़ब ढाते हैं! सचमुच गज़ब ढाते हैं, व्यक्ति को अपने में ऐसा उलझाते हैं कि वह इन प्रिंट्स की खूबसूरती और अनोखेपन में ही खो कर रह जाता है। इनके पीछे झांकने की फुरसत ही उसके पास नहीं रहती। ब्ल्यू ज़मीन पर ये प्रिंट्स यूं लगते हैं मानों लगातार सनसनाते कोड़ों की मार से किसी जिस्म पर नीले निशान उभर आए हों और उन्हें भड़कीले कपड़ों के

नीचे छिपा दिया गया हो। इन पर्दों को खरीदते समय कहां सोचा था कि ये पर्दे नहीं हैं, मैं अपनी ज़िन्दगी की ऑयल-पेन्टिंग खरीद रही हूं। जब यह ऑयल-पेन्टिंग महंगे दामों में खरीद ही डाली है तो फिर इसे देखने समझने में झिझक क्यों हो? क्यों न इसके हलके गहरे टचिज़ की अहमीयत को समझने की कोशिश करूं?

मन में सोचा था कि नीरज बाबू पर्दों को देखते ही मेरी पसन्द की तारीफ के पुल बांध देंगे। पर्दे को एक ओर सरका कर यूं चले आए मानों वही पुराने घिसे घिसाए पर्दे हों। सोचा शायद भूमिका बांध कर प्रशंसा प्रारम्भ करें परन्तु आते ही अपने फलसफे में उलझ गए। मैं झुंझलाहट नहीं रोक सकी, उसी स्वर में बोली, "देखिये! मैं इतने चाव से ये पर्दे खरीद कर लाई और आपने इन्हें बिल्कुल नज़रऽन्दाज़ कर दिया? सारी नुमाइश का कोना कोना छान कर तब कहीं मैंने इन्हें ढूंढा है।" अपनी उसी दार्शनिकता के आवरण में लिपटी मुस्कान बिखेरते हुए बोले, "तो यूं समझा जाय कि आप अपनी सहेली से मिलने नहीं गई थीं बल्कि ये खूबसूरत पर्दे खरीदने देहली गई थीं। अब आप इनकी प्रशंसा सुनने के लिए इतनी ही इच्छुक हैं तो यही कह सकता हूं कि ये इतने कीमती और रोबदार हैं कि इन्हें हाथ लगाने में भी आदमी को झिझक हो सकती है। एक बात और भी है। आदमी इन्हीं में खो कर रह जाता है, ड्राईंग रूम की अन्य सजा संवार कर रखी चीज़ों की ओर उसका ध्यान नहीं जा पाता। खैर कुछ भी हो, आपकी इस दूरदर्शिता का मैं कायल हो गया हूं।"

वाह री दूरदर्शिता! तू ही मुझे जीवन भर छलती रही और शायद अंतिम श्वास तक छलती रहेगी। समझ नहीं पाती कि नीरज बाबू की बातों में ऐसा क्या छिपा रहता है जो व्यक्ति को बुरी तरह झकझोर देता है। जीवन भर इन्हीं पर्दों को जुटाने में ही तो उलझी

रही हूं। कितने शानदार हैं ये पर्दे! व्यक्ति इन्हीं में उलझ कर रह जाता है, भीतर झांक कर देखने की बात ही भूला रहता है। झांकने की बात ही कहां, वह तो इन्हें हाथ लगाने में भी झिझकता है। इस लाइट ब्ल्यू में से ही झांक कर अगर देखता भी है तो धुंधले और अस्पष्ट के अतिरिक्त उसे कुछ भी तो दिखाई नहीं दे पाता। इन पर्दों को जुटाने का मोह ही मुझे ले डूबा। कोई इन्हें परे हटा कर यथार्थ को कहां देख सका? किसी को दोष क्यों दूं, ये यथार्थ पर पर्दा डालने के साधन मैंने खुद ही तो जुटाए हैं।

मन ही मन में स्नेह प्रभा की बातें सुन कर झुंझलाती थी। समझी थी कि स्नेह प्रभा अपने आप को ठगने में निपुण बनती जा रही है परन्तु मैं ही कौन सी कम निपुण हूं?

स्नेह ने कहा था, "सन्ध्या! तपी दोपहरी में किसी बरगद की घनी छाया में पल भर सुस्ता लेना आलसीपन का सबूत नहीं है। इन्सान ताज़ा दम होकर दुगनी रफ्तार से मंज़िल की तरफ बढ़ सकता है। अगर इन्सान जल्दी पहुंचने के लालच में घनी छांह को एकदम ठुकरा कर, थकी हारी हालत में ही चलता रहे तो हो सकता है कि वह बीच राह में ही कहीं गिर कर ढेर हो जाए, मंज़िलें हसरत भरी नज़रों से उसे ताकती रह जाएं।" मुझे चुप देख कर स्नेह ने कहा था, "संध्या! मैं जानती हूं कि तू मुझे ज़िन्दगी में भटक गया समझती है। मुझे भी कभी कभी यही लगता है। लेकिन यह तो बता कि क्या भटके हुए व्यक्ति में अपने साथी की खुशी देखने की साध भी मर जाती है? ज़िन्दगी में तू और सुनयना दो ही तो थीं जिन्हें मैंने अपना माना था। एक तो पीछा छुड़ा कर भाग गई, मेरी उसने कभी नहीं मानी, कभी नहीं सुनी, तू भी क्या मेरे मन को दुखाएगी। मैं तुझे थक कर बीच राह में गिरते देखना नहीं चाहती। मेरी बात मान ले सन्ध्या! किसी घनी छाया में बैठ कर पल भर सुस्ता ले।"

स्नेह प्रभा से मन की बात छिपा पाना मेरे लिए असम्भव था। जो मन में था वही मैंने कह दिया, "स्नेह ! तू घनी छाया में बैठ कर पल भर सुस्ताने की बात कहती है लेकिन पगली, मेरी राह में तो मीलों दूर तक कोई छायादार वृक्ष दिखाई नहीं देता। हां बहुत दूर क्षितिज के पास कभी कभी लम्बे लम्बे खजूर के छिदरे से पेड़ दिखाई दे जाते हैं लेकिन सोचती हूं कि उन तक पहुंचते पहुंचते तो यूं ही शाम ढल आएगी। फिर क्षितिज की दूरी नाप पाना ही मेरे लिए कहां सम्भव है ? हो सकता है कि ज्यों ज्यों उन पेड़ों तक पहुंचने का प्रयत्न करूं वे और दूर सरकते जाएं। उन तक पहुंच कर पल भर सुस्ताने के लालच में, कहीं राह से दूर ही प्यास और थकन के मारे न गिर पड़ूं ? जब दोपहर के सफर में ऐसी राह आ ही पड़ी है तो फिर व्यर्थ के लालच में इधर उधर क्यों दौड़ूं ? गिरना ही है तो राह चलते चलते ही क्यों न गिरूं ? राह में गिरी भी तो गिरते समय सन्तोष से तो गिर सकूंगी।"

कहने को तो मन की बात कह गई लेकिन मैं ही अपने मन को कहां देख पाई ? जब तक मैंने ये रंग बिरंगे पर्दे लटका छोड़े हैं मन के यथार्थ को समझ पाना कहां सम्भव है ? जो लोग धूप में चलते हुए अपने आपको ठगने के लिए अपनी आंखों पर हरी ऐनकें लगा लेते हैं मुझे उनकी अक्ल पर हंसी आती है। मैं तो उनसे भी कहीं अधिक मूर्ख हूं। मैंने हक़ीक़त के आगे पर्दे टांग दिए हैं। और अब तो इन पर्दों की ऐसी अभ्यस्त हो चली हूं कि अयथार्थ में ही यथार्थ का भ्रम होने लगा है। जब तक मन की बातों के बीच में ये पर्दे टंगे हैं न तो स्नेहप्रभा मुझे समझ सकती है और न मैं स्नेहप्रभा को। मुझे तो यूं लगता है कि अगर बीच में लटकते ये सुन्दर और चित्ताकर्षक पर्दे हटा दिए जाएं तो व्यक्ति एक दूसरे को आसानी से पहचान सकें, जीवन की बहुत सी जटिलताएं विषमताएं पलक झपकते ही सुलझ जाएं ?

नीरज बाबू वन्दना की बहुत प्रशंसा किया करते हैं। उस दिन फिर वही रट लगा बैठे तो मुझसे न रहा गया। झुंझला उठी, 'आपको तो जब देखो वन्दना की तारीफ से ही फुरसत नहीं मिलती। उसी पर कोई किताब लिख डालिये?" अजीब सी नज़रों से मेरी ओर देखते हुए बोले, 'आदमी अगर अपनी तारीफ खुद करने लगे तो लोग उसे महामूर्ख समझते हैं। बताइये ठीक है न?' बात ऐसी कहेंगे कि सुनने में जितनी सरल दिखाई देगी, अर्थ उसके उतने ही कठिन और गहन। मैं अपनी बात पर खुद ही शर्मिन्दा हो गई। मुस्कराते हुए बोले, "डॉक्टर साहिब, एक बात कहूं?" "कहिये?" मैंने अपने आप में सकुचाते हुए कहा। कहने लगे, "देखिये! इन पर्दों के पीछे से झांकना बन्द कर दीजिए। पर्दे के पीछे से झांकने पर कई बार, चेहरा पहचानने में आदमी धोखा खा जाता है। खैर छोड़िये इस बात को, आपको तो पर्दे पसन्द हैं इसलिए मेरी बात कहां पसन्द आएगी?" न जाने कैसे अनायास ही मेरे मुंह से निकल गया, "आदमी को किसी दूसरे की न सही अपनी बात तो पसन्द आ ही सकती है।" नीरज बाबू गला फाड़ कर हंस पड़े, फिर अपनी आदत के अनुसार अचानक गम्भीर होते हुए बोले, अपने आपको समझने में इतनी जल्दी न कीजिए क्योंकि तेज़ दौड़ते वक्त इन्सान अपने इधर उधर की वास्तविकताओं को स्पष्ट रूपेण नहीं देख पाता।"

मुझे यूं लगा मानों आसमान में पंख फैला कर उड़ते परिन्दे के सीने में हवा को चीरता हुआ तेज़ तीर लगा हो और वह परिन्दा आसमान से लुढ़कता हुआ ज़मीन पर गिर कर छटपटा रहा हो, उसकी आंखों का भय सारे विश्व की करुणा को चुनौती दे रहा हो।

मुझे चुपचाप अपने आप में खोई देख कर नीरज बाबू बोले, "देखिये! वास्तविकताओं को, दौड़ते दौड़ते समझने में उलझेंगी तो ठोकर खा कर गिर पड़ेंगी। दोनों काम इकट्ठे नहीं होंगे। या पहले

दौड़ लीजिए और या फिर समझ ही लीजिए ? दोनों काम इकट्ठे ही करेंगी तो न तो दौड़ सकेंगी और न समझ सकेंगी।"

मैंने कहा, "नीरज बाबू ! कुछ लोगों को शायद ठोकर खा कर गिरते आदमियों को देखने में खूब मज़ा आता है। दौड़ते आदमी की राह में पत्थर रख कर वे निश्चिन्त हो कर बैठ जाते हैं और उस सुअवसर की ताक में रहा करते हैं जब दौड़ने वाले को धूल में लोटता हुआ देख सकेंगे।"

वे बोले, "कुछ लोग गिरते अपनी ग़लती से हैं और दूसरों को नाहक कोसा करते हैं। डॉक्टर साहिब, मेरी गणना आप पत्थर हटाने वालों में ही कीजिएगा। देखिए, आप को गिरते देख किस खूबी से संभाला है ?"

मुझसे रहा नहीं गया। मैंने कहा, "अगर आप इसे ही संभालना कहते हैं, तब तो आपको महाज्ञानी की उपाधि मिलनी चाहिये।"

नीरज बाबू बोले, "'ज़ुलू' शब्दकोष में 'पुरुष' की परिभाषा जानती हैं क्या है ?"

मैंने कहा, "आप ही अपने मस्तिष्क में संजो कर रखिए इन परिभाषाओं को। मैंने कौनसा आपकी तरह महाज्ञानी बनना है ? बोले, "बहुत चाहने पर भी मुझे आप जैसी खूबसूरती से नाराज़ होना नहीं आ सका। कुछ दिन मेहनत से अगर आप अपनी तरह नाराज़ होने की शिक्षा मुझे भी दे डालें तो आपका बहुत उपकार मानूंगा।"

मैं अपनी हंसी रोक नहीं सकी। झुंझलाहट न जाने कहां गायब हो गई। स्नेह भरी झिड़की में बोली, "आप कहां मानेंगे बग़ैर सुनाए ? लीजिए दत्तचित्त हो कर सुन रही हूं, सुनाइए कौनसी परिभाषा सुनाना चाहते हैं।"

बोले, "आप का क्रोध से उद्धार हो सका है, इसी खुशी में आज

प्रसाद बांटूंगा।" मैंने कहा, "टालिए नहीं, बताइये क्या कहने जा रहे थे?"

कहने लगे, "आपने महाज्ञानी की बात कही तो पुरुष की परिभाषा मस्तिष्क में घूम गई।"

मैंने कहा, "टालिए मत, बताइए भी।"

कहने लगे, "'जुलू' शब्दकोष में पुरुष की परिभाषा दी गई है—एक ऐसा पशु जिसका प्रशिक्षण नारी करती है–देखिये, झूठ मत समझिएगा। डॉक्टर राधाकृष्णन् ने 'धर्म और समाज' में भी इसी परिभाषा का उल्लेख किया है।"

मैं पूछ बैठी, "आखिर आप ये परिभाषा मुझे क्यों सुनाना चाहते हैं?" पुनः बोले, "क्योंकि मेरे महाज्ञानी बनने की स्तुति या निन्दा अन्ततोगत्वा किसी नारी के ही योग्य अथवा अयोग्य होने का प्रमाण है।"

मैंने कहा, "किसी के योग्य या अयोग्य होने से मेरा क्या बनता बिगड़ता है?"

कहने लगे, "नारी वर्ग के किसी प्रतिनिधि की निन्दा सुन कर भी आप जैसे स्वात्माभिमानी व्यक्ति का स्वात्माभिमान सोया रहेगा क्या?"

"अच्छा, बताइये तो सही वे अध्यापिका कौन हैं भला जिन्होंने आपका प्रशिक्षण किया है?"

कहकहा लगा कर हंसते हुए बोले, "आप जैसी सूक्ष्मद्रष्टा यदि मेरे महाज्ञानी होने की बात जान सकती हैं तो किसी न किसी दिन अवश्य ही उस महाविदुषी अध्यापिका को भी खोज निकालेंगी।"

नीरज बाबू को बात टालते देख मैंने ज़िद की, "बगैर बताए बच नहीं सकिएगा। मैं पहली में पढ़ने वाली बच्ची नहीं हूं कि आप मुझे टाल देंगे।"

कहने लगे, "आपकी ज़िद देख कर तो आपको पहली की बच्ची ही समझा जाना चाहिये।" मुझे सोचते देख कर बोले, "ज़रूर सुनिएगा ?" मैंने कहा, "मुझ से इतना ही भय लगता है तो जाने दीजिए।"

नीरज बाबू एकाएक गम्भीर हो गए। मैंने उन्हें अनेकों बार गम्भीर मुद्रा में देखा है परन्तु इस गम्भीरता को देख कर यूं लगा मानों विश्व भर की वेदना उनकी आंखों में सिमट आई है। टकटकी बांधे लगातार कितनी ही देर तक मेरी ओर देखते रहे। मुझे यूं लगा कि उनकी दृष्टि मेरे माध्यम से कहीं और देख रही है, देख कहां रही है कहीं घने जंगल में भटक गई है। मैंने उनका यह रूप उस दिन से पहले कभी नहीं देखा था। मैं इतना ही अनुभव कर सकी कि मुझसे अनजाने ही बहुत बड़ी भूल हो गई है। अनायास ही मेरे मुंह से ये बोल फूट पड़े, "जाने दीजिए, फिर कभी ऐसी बात नहीं पूछूंगी।"

नीरज बाबू बोले कुछ नहीं, केवल टकटकी बांधे गहन वेदना में डूबी दृष्टि से मेरी ओर देखते रहे। यूं लगा कि उन्हें इसी तरह चुपचाप बैठे अनेक वर्ष बीत गए हैं।

अचानक उनकी आवाज़ यूं सुनाई दी मानो किसी गहरे गढ़े में गिरा व्यक्ति गहन निराशा में डूबा, डूबती सी आवाज़ में कुछ कह रहा हो, "देखिए डॉक्टर साहिब ! आज यह सुअवसर हाथ लगा है तो इसे यूं ही नहीं गंवाऊंगा। मुझे जिस अध्यापिका से शिक्षा मिली थी वह बहुत बदकिस्मत थी। बदकिस्मती का अनन्त भण्डार सौंप कर ही शायद ईश्वर ने उसे इस पृथ्वी पर भेजा था।"

कुछ देर उनके होंठ फरकते रहे। संयत होने पर बोले, "मैं यदि महामूर्ख रहा हूं तो इसमें दोष उसका नहीं है, मेरे कुण्ठित मस्तिष्क का ही दोष है। कुछ लोग होते हैं जिनकी योग्यता और निष्ठा के

स्पर्श मात्र से महामूर्खता ही सूर्यकान्त मणि सदृश जगमगा उठती है। इसमें अतिशयोक्ति नहीं है डॉक्टर साहिब, वह सचमुच ही ऐसी थी। परन्तु वही सूर्यकान्त मणि एक दिन बन्दरों के हाथ आ गई। राम के भक्त वानर होते तो शायद उनके छुए से तो पत्थर भी तर जाते परन्तु उन बन्दरों के मुंह से तो 'राम' भी गाली बन कर निकलता था। दानवी शक्तियों ने उनके हृदयों में ऐसा ही विष घोल दिया था। वे 'राम' भी बोलते तो उनके मुंह से 'मरा' बन कर निकलता। उन मूर्ख बन्दरों ने एक दिन खेल खेल में उस सत्य और निष्ठा की ज्योति से दिपदिपाती मणि को उठा कर आग में फेंक दिया। मेरी अध्यापिका आग की लपटों में जलती रही और ये बन्दर उसके चेहरे पर, असहनीय यन्त्रणा में भी, अटल निष्ठा देख कर चीखते चिल्लाते रहे।"

कुछ देर डबडबाई आंखों से शून्य में देखते रहने के बाद बोले, "डॉक्टर साहिब! मुझे तो कभी कभी यूं लगता है मानो आदमी अपने पुरखा बन्दरों जैसा ही बना है। सभ्यता और संस्कृति के रंग बिरंगे कपड़े पहन कर खूब उछल कूद मचाता है, महान बनने के नाटक रचता है लेकिन नाटक रचने से अधिक कुछ भी तो कर नहीं पाता। आप ही कहिए कि क्या कभी इन्सान की औलाद, जगमगाते दिमाग और दूध से धुले दिलों वाली खूबसूरत जवान लड़कियों को बाज़ारों में नंगा नचा सकती है, नंगी लड़कियों के जलूस निकाल सकती है, माओं और बापों के कलेजों में चमचमाते खंजर भोंक सकती है, सृष्टि की शानदार रचनाओं को, सोने से दमकते शरीरों को, आग में मकई के भुट्टों की तरह भून सकती है? जिस इन्सान की औलाद ने यही सब कुछ किया है उसे बन्दरों से अधिक अक्लमन्द कैसे मान लूं? डॉक्टर साहिब! मेरी अध्यापिका को इन्हीं इन्सानों की औलाद ने नंगा करके आग की लपटों में फेंक

दिया था, अब आप उसे कहां से खोज पाएंगी ? मुझ मूर्ख में आप उसे ढूंढ़ना भी चाहेंगी तो भी कहां ढूंढ़ पाएंगी उसे ? मैंने कहा नहीं कि वह बहुत बदकिस्मत थी। उसे कोई अच्छा शिष्य मिला होता तो शायद उस शिष्य में ही उसकी सूरत दिखाई दे जाती। छोड़िये इस मोह को डॉक्टर साहिब। ये अक्लमन्द इन्सान खूबसूरत लड़कियों को सिर्फ आग में भूनना जानते हैं, आग में से निकालना कहां जानते हैं ? आप मेरी नसीम को ढूंढ़ ढूंढ़ कर थक लीजिएगा तब भी वह आग में से निकल कर कहां आ सकेगी ? अगर आ सकती तो क्या मैं ऐसा ही महामूर्ख बना रहता ?"

कुछ देर तक सोचते रहने के बाद बोले, "पहली मुलाकात पर आप से कहा था न ? मैं बहुत डरपोक हूं, कलंक से मुझे भय लगता है। व्यक्ति दुःख से कराहते प्राणि को तड़पते देख जब आंखें मूंद कर पास से गुज़र जाता है तभी उसके माथे पर कलंक का टीका लगता है। यह बात मेरी अपनी जानी नहीं है। यह सब कुछ मैंने उसी अध्यापिका से सीखा है। हां ! पहले इन बातों को रटा करता था, नसीम ने खुद आग में जल कर मुझे इसके अर्थ समझाए हैं ! अगर ये अर्थ समझ में न आते, आपकी तरह समझ बूझ होती तो रेणुका बेचारी को कौन बचाता ? तड़प तड़प कर वह बेचारी मर नहीं जाती क्या ?"

मैं बुत बनी सब कुछ सुनती रही। हां ! ऊपर से पाषाण शिला सी बनी रही भीतर से फूटती रही, रिसती रही, बहती रही। जी चाहा कि नीरज बाबू के चरणों की धूलि माथे पर लगा कर कहूं, "नीरज बाबू ! ज्ञान के इस अनन्त भण्डार में से मुझे भी कुछ दे डालिये ताकि मैं भी मूर्खता की पहली सीढ़ी पर कदम रख सकूं। आप इस कस्तूरी को लाख छिपाकर रखते हैं तो भी क्या सुगन्ध छिपाए से छिपती है ?" सोच कर ही रह गई, पाषाण शिला भला क्यों कर हिलती डुलती ?"

नीरज बाबू एक दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए बोले, "डॉक्टर साहिब ! सब को महाज्ञानी मत बनाइए। इस दुनिया में कुछ महामूर्ख भी रहने दीजिए। अगर मुझ जैसे महामूर्ख ही नहीं रहेंगे तो महाज्ञानी गर्व से सिर उठा कर अपने को महापण्डित प्रमाणित कैसे कर पायेंगे ? उनके सुयश के लिए ही हमें अपनी जगह पर पड़े रहने दीजिए। महापण्डितों की पण्डिताई का महल हम जैसों के सिरों पर ही खड़ा है, हमें आप अपनी जगह से हटाएंगी तो उनकी शान के महल धराशायी नहीं हो जाएंगे क्या ?"

मुझे यूं लगा मानो कोई ज्वालामुखी चट्टान का कलेजा फोड़ कर उबल पड़ा हो।

कहने लगे, "शुक्र है खुदा का कि रेणुका मुझ मूर्ख के घर में आ पड़ी। किसी ज्ञानी के घर में होती तो अब तक ज़हर खा कर कब की लोगों को महानता का प्रमाण पत्र दे गई होती। सच जानिये, मैंने उसे महानता के लोभ में नहीं बचाया, स्वार्थ वश ही ऐसा किया है। मुझ जैसा मूर्ख महानता की बात सोच ही कैसे सकता है ? डॉक्टर साहिब, मैं जब किसी भी लड़की को आग में घिरी देखता हूं तो नसीम की सूरत मेरी आंखों में घूम जाती है। अगर मैं किसी को आग में जलते नहीं देख सकता तो यह मेरी अपनी मजबूरी है, अपना स्वार्थ है। मैंने रेणुका को नहीं बचाया, यूं समझिए नसीम को बचाने की बात सोच कर अपने दिल को तसल्ली देने की कोशिश की है।" कुछ देर ठहर कर बोले, "डॉक्टर साहिब ! नसीम, मेरे कष्ट अपनी झोली में समेटने की आदत से लाचार थी। मैंने कहा न ? उसकी बदकिस्मती में भी अद्भुत शक्ति थी। मर कर भी वह क्या कुछ सिखाती रहती है आप नहीं जान पाएंगी ?"

मेरे मस्तिष्क में झट नीरज बाबू की लिखी पंक्तियां उभर आईं, जो उन्होंने; अपने कहानी-संग्रह की प्रति मुझे देते समय उस पर

लिख दी थीं—"डॉक्टर सन्ध्या को, जो मेरे कष्टों को अपनी झोली में समेटती रहती है।"

स्नेह प्रभा से झूठ ही कह आई कि मेरी राह में मीलों दूर तक कोई छायादार वृक्ष दिखाई नहीं देता। इतनी घनी छांह में बैठी पैर जलने का, थक कर गिरने का, स्वांग भरती रही। नीरज बाबू न जाने कहां की बात कहां ला पटकते हैं? कहते कुछ हैं, समझाते कुछ हैं, समझाते कुछ हैं, जतलाते कुछ हैं? सचमुच मैं तो पर्दों में ही उलझ कर रह गई, कहां देख पाई इस घनी छांह को जिसने अनायास ही मेरी तपन को हर लिया है। स्नेह प्रभा को पत्र लिखूंगी—"मैं सुनयना की तरह तुझे दुःख नहीं दूंगी स्नेह! मेरी राहें न जाने किस भाग्य रेखा ने बदल दी हैं। इन राहों के दोनों ओर मीलों दूर तक घने सायादार दरख्त चले गए हैं।"

अपनी बात से ध्यान टूटा तो नीरज बाबू को कहते पाया, "किसी की राह में पत्थर रखने की आदत मेरी नहीं है। मैंने तो सिर्फ आपकी राह के पत्थर को परे हटाया है। ठीक समय पर हटा पाया इसे मेरी खुशकिस्मती कहिये। आप गिर पड़तीं तो शायद आपका दुःख देख पाना मेरे लिए असह्य हो जाता। आपने पर्दे के पीछे से झांक कर देखा है तभी आप मुझे राह में झुके हुए तो देख पाई हैं लेकिन यह नहीं जान पाईं कि राह का पत्थर हटा रहा हूं या रख रहा हूं? कभी पर्दा हटा कर हक़ीकत को समझिएगा तो शायद आप का क्रोध और झुंझलाहट, दया और शान्ति में परिवर्तित हो सके। आपको धूल में मुंह के भार गिरा देख कर मैं आनन्द अनुभव कर सकूं, इतना कठोर हृदय मैं अभी कहां बन पाया हूं? शायद जीवन की अंतिम श्वास तक न बन सकूं।"

मेरी आंखों से अनायास ही दो बूंद आंसू ढुलक कर गालों पर बह आए। नीरज बाबू से छिपा न रह सका। मैंने साड़ी के छोर

से उन्हें पोंछने का प्रयत्न किया तो वे बोल पड़े, "अरे! आप तो रोने लगीं? अच्छा एक बार मेरी ओर देखिए तो ज़रा?" मैंने किसी अज्ञात शक्ति से प्रेरित होकर उनकी ओर अपनी आंखें उठा दीं। लाख रोकने पर भी, मन का तूफान आंखों की राह बह निकला।

वे बोले, "अच्छा साहिब! अपराध क्षमा कीजिए और एक बार हंस दीजिए।" कहते कहते अजीब सी नज़रों से मेरी ओर देखते हुए उन्होंने दोनों हाथ जोड़ दिये। झरती आंखों में भी उनकी वह मुख मुद्रा देख कर अचानक किसी अनजाने कोने से निकल कर हंसी बिखर पड़ी। मुझे उसी तरह निर्निमेष नेत्रों से देखते रहे।

पुनः कहीं दूर देखते हुए बोले, "व्यक्ति कई बार भावुकता में बह कर तस्वीर के एक रुख को ही सब कुछ मान बैठता है। देखिए न? अभी कुछ देर पहले बहाव में बह कर इन्सान की औलाद को कितनी बड़ी गाली दे बैठा। सोचता हूं गाली देकर मुझ में और दूसरे लोगों में अन्तर ही क्या रह जाता है? बुरे काम यदि इन्सान ने किए हैं तो उन्हीं की कोख से कहीं अच्छाई भी जन्म लेगी। हमारा तो पौराणिक इतिहास ऐसे अनेकों उदाहरणों से भरा पड़ा है। हिरण्यकश्यप के घर में ही प्रह्लाद जन्म लेता रहा है। कभी कभी यूं ही बहाव में बह कर घबरा उठता हूं। जब तक आपकी आंखों में यह पवित्र जलधारा निहित है, इन्सान का दिल अधिक देर तक मैला नहीं रह सकता। इन पवित्र आंसुओं से धुले हृदय, फिर मलिनता की बात कैसे सोच सकेंगे? मानव को एक बार अपने उजले हृदय के दर्शन कर लेने दीजिए तब शायद एक दिन वह अपनी आज तक की कलंक कथा के प्रायश्चित्त के लिए अपूर्व निष्ठा के साथ उठ खड़ा होगा। इन्सान की कलंक कथा, गौरव गाथा में बदलते देर नहीं लगेगी।" मैंने कहा, "देखिये नीरज बाबू, मैंने एक दिन आपसे कहा था कि

मुझे उसी नाम से सम्बोधित किया कीजिए जिसे आप हृदय में दोहराया करते हैं। आप उस दिन नहीं माने। आज मुंह फाड़ कर उसी बात को फिर कह रही हूं।"

कहने लगे, "फैसला हुआ था कि डॉक्टर सन्ध्या कहा करूंगा। यही न ?" मैं बोल उठी, "डॉक्टर वाक्टर कुछ नहीं सिर्फ......?"

बीच में ही बात काटते हुए बोले, "सिर्फ क्या ?"

अनायास ही मेरे मुंह से निकल गया, "सन्ध्या कहा कीजिए।" बोले, "यह कैसे हो सकता है ?" मैं भी ढीठ बन गई थी, बोली, "क्यों नहीं हो सकता ? नसीम हो सकता है, सन्ध्या नहीं हो सकता ?"

हंसते हुए बोले, "देखिए, आप खुद ठोकर खाकर गिरने की सोच रही हैं। फिर राह में पत्थर रखने की बात मुझ ही पर आ पड़ेगी। अपने लिए न सही तो कृपया मेरे कल्याण के लिए ही बचने का प्रयत्न कीजिए।"

मैं अपनी बात पर खुद ही पानी पानी हो गई। गम्भीर होते हुए बोले, "इसमें शरमाने की बात तो कुछ भी नहीं है डॉक्टर साहिब। आप तो नाहक परेशान हो रही हैं। अपने मन की बात कह देना तो व्यक्ति की अतुल सामर्थ्य का ही द्योतक है। बहुत दिनों से मन ही मन सोच रहा था कि आप यह शक्ति क्यों नहीं संजो पातीं ? आप मन की बात कह सकीं, यह मेरे लिए अत्यन्त सन्तोष की बात है।"

कुछ रुक कर पुनः बोले, "मन की बात जब स्पष्ट रूपेण मुख तक नहीं आती तो सुलझी समस्याओं को उलझते देर नहीं लगती। समझ में नहीं आता कि व्यक्ति ने अपने आपको इस आत्मप्रवंचना के जाल में उलझा कर किस अलभ्य की प्राप्ति की है ? संस्कृति और सभ्यता की प्रगति की पहचान तो इसी में है कि वह मानव की सरलता को निखार दे, संवार दे। जब निखारने संवारने की ओट में सरलता, विषमता

बनने लगती है तो मुझे सभ्यता तथा संस्कृति के विकास में सन्देह होने लगता है। देखिए! बहुधा विषमता चित्ताकर्षक तो हो सकती है परन्तु ज्योतिर्मयी हो पाना उसकी सामर्थ्य से बाहर है। जो चित्ताकर्षक है उसमें व्यक्ति उलझ भले ही जाए, मार्ग प्रशस्त करते हुए अग्रसर नहीं हो सकता। जब से मानव ने उलझना सीख लिया है तभी से ठोकरों की कथा का प्रारम्भ हुआ है। जब कभी मुझे इन जटिलताओं के जाल में से सरलता बन्धन-मुक्त होने का प्रयत्न करती दिखाई देती है, मानव की अंतिम विजय में मेरी आस्था अधिक सबल और सशक्त हो उठती है। डॉक्टर साहिब! न जाने वह कितना मनहूस दिन था जब मानवता के चितेरों ने सरलता की नोक सलक संवारने की बजाए उस पर जटिलताओं तथा विषमताओं की परतें चढ़ाने में ही मानव कल्याण की कामना की थी।"

मुझे चुप देख कर बोले, "बुरा मत मानिएगा। मैंने तो पहली मुलाकात में ही कहा था कि बात को बना संवार कर कहने की कला मैंने नहीं सीखी। मुझ जैसे अनाड़ी आदमी की बातों का बुरा मान जाना कहां की अक्लमन्दी है?"

मैंने कहा, "मैं इतनी भाग्यशालिनी कहां हूं नीरज बाबू कि नसीम की जगह ले सकूं? मैंने अपनी औक़ात से बहुत बड़ी बात कह दी थी। आपने बहुत अच्छा किया जो समय रहते मुझे मेरी औक़ात बता दी। आपका जितना भी शुक्रिया अदा करूं वही कम है।"

मेरी बात सुन कर उनकी आंखों में असीम वेदना, अनन्त व्यथा झलक आई। अजीब दुःख भरी आवाज़ में बोले, "वास्तविकता को घुमा फिरा कर मुझे शर्मिन्दा मत कीजिए। मैंने कहा न कि नसीम बदकिस्मत थी, तभी मेरी ज़िन्दगी के गहरे भंवरों में आ फंसी थी। आपकी खुशकिस्मती को अपने सुख के लिए मैं बदकिस्मती के खौफ़नाक काले सायों से ढंक दूं इतना पत्थर दिल मैं नहीं हो सकूंगा, कभी नहीं

हो सकूंगा। आप भावुकता के आवेग में बह कर गहरे और चक्करदार भंवरों में उलझने की बात सोच रही हैं, मैं अपने स्वार्थ के लिए ही आपको ऐसा करने से रोक रहा हूं। आपको किसी भंवर में डूबते देख मेरी आस्था के कदमों को लड़खड़ाते देर नहीं लगेगी। डॉक्टर साहिब, आप कहां और मैं कहां? ज़रा भावुकता के पर्दों को परे हटा कर देखिएगा तो हक़ीक़त समझते देर नहीं लगेगी।"

मेरे मुंह से अनायास ही एक लम्बी सांस निकल गई। अचानक नीरज बाबू की आवाज़ भर आई। हाथ जोड़ते हुए बोले, "अच्छा! आज्ञा दीजिए अब चलता हूं। अपने जीवन में यह बात कभी भी भुला नहीं पाऊंगा कि किसी ने मुझ अकिंचन के सुख के लिए अपनी ज़िन्दगी की बाज़ी लगाने की बात सोची थी। इतनी बहुमूल्य स्मृति को जीवन से निकाल कर फेंक दूं इतना विशाल हृदय मेरे पास नहीं है।" कह कर नीरज बाबू चले गए, मेरी बात सुनने के लिए रुके नहीं।

कहना चाहती थी, "नीरज बाबू, आप ठहरे महापुरुष! लक्ष्य भी आपके उतने ही महान हैं। उनकी प्राप्ति में व्यस्त रहने के कारण आप शायद मेरी स्मृति को भूल भी जाएं परन्तु मेरे पास ऐसी व्यस्तता कहां है? मैं तो जीवन भर निटल्ले बैठ कर इन स्मृतियों को ही बार बार गिनती सहेजती रही हूं। जीवन की व्यस्तताओं से फ़ुरसत निकाल कर फिर कभी इधर आइएगा तो देखिएगा कि मुझे इन स्मृतियों के सहेजने से ही फ़ुरसत नहीं मिली!"

देहली में, उस दिन नुमाइश से लौटते हुए स्नेहप्रभा फिर वही विवाह की सलाह दे रही थी। उसकी बात सुन कर अजीब सी झुंझलाहट हो आई थी। सोचा था—विवाह कर लूं—यानि एडजस्ट हो जाऊं। जो कुछ आज तक रही हूं वह न रहूं। जो किसी और को पसन्द आए उसी सांचे में अपने आप को ढाल लूं। मैंने स्नेह

मे कहा था, "इस एडजस्टमैन्ट की अतुल सामर्थ्य मुझ में नहीं है— हिन्दू देवियों के आदर्शों से मेरे मन का मेल आज तक नहीं बैठ पाया। नारी को मृत सदृश बना कर जो समाज मुर्दों की उपासना करे मुझे ऐसे समाज से घोर घृणा है। हम क्या कठपुतलियां हैं जो हमेशा मर्दों के इशारों पर नाचती रहें? जीते जी उनकी पसन्द और नापसन्द के चक्कर में उलझ कर तिल तिल करके ज़िन्दगी की आखिरी सांस तक घुटन, जलन और तड़पन की मीठी मीठी आंच में सती होती रहें? मेरे बस का रोग नहीं है स्नेह! यह मेरे बस का रोग नहीं है। मैं अपने जीवन में स्वतन्त्र रहना चाहती हूं—अपनी मन पसन्द राहों पर चलना चाहती हूं—अपने आप को किसी की पसन्द के लिए एडजस्ट करने की बात तो मैं सपने में भी नहीं सोच सकती।"

स्नेहप्रभा दीर्घ निश्वास छोड़ती हुई बोली थी, "हम कर भी क्या सकती हैं सन्ध्या! हम कर भी क्या सकती हैं? इसके सिवाय और कोई राह नज़र भी तो नहीं आती। मुझे तो यूं लगता है कि हमें एक बहुत बड़े कंटीली तारों वाले बाड़े में बन्द कर दिया गया है, जिसका सिर्फ एक ही दरवाज़ा खुला है। हम सबको उसी दरवाज़े में से होकर गुज़रना होता है। दरवाज़े पर खरीदारों की भीड़ लगी है, दरवाज़े से निकलते ही हमारी किस्मत का फैसला हो जाता है।" अजीब व्यंग में लिपटी आवाज़ में पुनः बोली थी, "और ठीक ही तो है। जानवरों को अपनी क़िस्मत का फैसला करने की अक्ल ही कहां होती है? यह तो हमारी खुशक़िस्मती है कि हमें अक्लमन्द लोग ठीक राह पर चलाने का पवित्र उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर ले लेते हैं।"

मैंने अनुभव किया था, स्नेह के सीने में भयङ्कर आग जल रही थी। बेचारी प्रयत्न करती रहती कि कोई दूसरा उस आग में जल कर राख न हो जाए।

होटल के केबिन में बैठते हुए मैंने पूछा था, "स्नेह! तुझे क्या होता जा रहा है? तू घुलती क्यों जा रही है? यही तो मिस्टर दिनेश हैं, जिनकी प्रशंसा करते करते तू अघाया नहीं करती थी?"

स्नेहप्रभा सिसकते हुए बोली थी, "मिस्टर दिनेश तब जीनियस थे दौलतमन्द कहां थे? देहली जब उनकी जीनियस पर निसार होकर बेतहा नोट उन पर बरसा रही है तो उसका सदुपयोग क्यों न करें? बाड़े में बन्द हम जानवरों की चीख़ोपुकार सुनने की किसे फ़ुरसत है? शराब पीने की, क्लबों में जाने की, लड़कियों के साथ रंगरेलियां मनाने की, उनकी स्वतन्त्रता में मुझे बाधा डालने का क्या अधिकार है? खाना कपड़ा नहीं देते हैं क्या? अतः मन चाहे ढंग से हांकते भी हैं! इतनी ही क्या कम फ़राख़दिली है कि मुन्ना और मुन्नी को अपनी बड़ी बहिन के पास छोड़ देने की मुझे इजाज़त मिल गई है।" कुछ देर चुप रहने के बाद बोली थी, "सन्ध्या! कभी कभी देहली चली आया कर। हम जानवरों से बात करने तक की भी किसे फ़ुरसत है? तू आई है तो मुद्दतों के बाद आज किसी से जी खोल कर बातें कर सकी हूं।"

मुझे चुप देख, मेरा हाथ अपने दोनों हाथों में भींचती हुई बोली थी, "सन्ध्या! तू मुझसे और सुनयना से कहीं अधिक खुशकिस्मत है। वह मन की बात कहने पर पिटी, विमल से बिछुड़ी, किसी जाहिल के गले बांध दी गई। स्वात्माभिमानिनी थी अतः अधिक दिन दुनिया उसे सह नहीं सकी, बेचारी जंजाल से मुक्त कर दी गई। कुछ दिन हुए विमल मिला था। शाम को शॉपिंग के लिए न्यू मार्केट गई थी, वहीं सड़क पर मिल गया। मैं कहां पहचान पाती उसे, वह तो उसी ने पहचान लिया। वही विमल, जिसकी शायरी सुनकर कॉलिज के प्रोफ़ैसर तक झूम उठते थे, जिसके भविष्य के बारे में बड़ी बड़ी कल्पनाएं

की जाती थीं, सेक्रिटेरियट में क्लर्की करता है। यूं लगता है कि उसने इसी उम्र में अपनी आधी से अधिक ज़िन्दगी जी ली है। सच मान सन्ध्या, उसकी मुर्झाई हुई नाउम्मीदी से भरी आंखों को देखकर उसे पहचाना ही नहीं जा सकता। उसने हंसने की कोशिश की तो उस मुर्दा हंसी को देख कर मेरा तो जी भर आया।"

स्नेहप्रभा ने शिष्टाचार वश विमल से पूछा था, "सुनाइए, विमल साहिब, देहली के खूब ठाट हैं?"

अजीब सी मुरझाई आवाज़ में उसने कहा था, "प्रभा बहिन! आपसे झूठ बोलने को जी नहीं चाहता। और कोई होता तो उससे डिपार्टमेंन्टल तरक्की की बातें, देहली की खूबसूरती और निखार की बातें की जा सकती थीं। सैंकड़ों लोग मिलते हैं उनसे यही बातें तो किया करता हूं। आप तो मुद्दतों के बाद मिली हैं, और मिली भी कहां हैं? मैंने ही इस भीड़ में आपको खोज निकाला है, एक पल भी चूक गया होता तो न जाने आप कहां गुम हो गई होतीं?"

स्नेह के दिमाग़ में मानों पूरी तस्वीर घूम रही थी। बोली, "सच कहती हूं सन्ध्या! मुझे यूं लगा कि अगर कुछ देर और विमल की बातें सुनती रही तो सड़क पर खड़ी खड़ी बेहोश होकर गिर पड़ूंगी। उसकी बातें सुनने की हिम्मत मुझमें नहीं थी इसलिए डर के मारे जान बचा कर भाग खड़ी हुई। विमल बातें करता है तो यूं लगता है मानों किसी कब्र में से निकल कर कोई मुर्दा बोल रहा हो?"

स्नेह ने विमल को उस मानसिक स्थिति से निकालने के इरादे से कहा था, "आपने गुम होने कहां दिया? आखिर मुझे ढूंढ ही निकाला न? आपकी इस हिम्मत की दाद देती हूं।"

विमल उसी मूड में बोला था, "प्रभा बहिन! यह किस्मत इन्सान

से रंगारंग के मज़ाक किया करती है। चिंगारियों से राख उड़ाते रहने में इसे अजीब सकून मयस्सर होता है। ख़ैर! घबराने की बात नहीं है, दुनिया के लोग बहुत अक्लमन्द हो गए हैं। उन्होंने इन चिंगारियों से बचने के लिए ऐसे ऐसे तरीके ईजाद किए हैं कि देखते ही तआज्जुब होता है?"

स्नेहप्रभा पूछ बैठी थी, "देहली में कैसी गुज़र रही है?"

बुझी सी आवाज़ में बोला था, "अपने लिए तो यह देहली रंगून का किला है प्रभा बहिन। बस थोड़ा सा फर्क है। बहादुरशाह और ज़ीनतमहल को फिरंगियों ने एक ही किले में कैद किया था। दरियादिल लोगों ने हमारी ज़ीनत को अपनी फराख़दिली का सबूत देते हुए, वक्त से बहुत पहले आज़ाद कर दिया है। किले में हम तो अकेले पड़े सड़ रहे हैं। हमें अपनी ज़ीनत के पास होने का अहसास होता, भले ही कैद में क्यों न होती, तो शायद हम भी बहादुरशाह ज़फर की तरह शायरी कर पाते। फराख़दिल लोगों ने तो शायरी तक से हमें नजात दिला दी है, हम उनके बहुत अहसान मन्द हैं। हां! कभी कभी बहकी हालत में कुछ गुनगुना लेते हैं तो लोगों को उसी में शायरी का भरम होने लगता है। देखिए आपको देख कर मुद्दतों बाद एक शेर दिमाग़ में आया है, "इनकी सूरत, उनकी सूरत हो गई—हाय! ये कैसी कयामत हो गई?"

बात कहते कहते स्नेहप्रभा को अपना खयाल हो आया, बोली, "और एक मैं हूं सन्ध्या! सुनयना जितनी हिम्मत भी नहीं जुटा पाई। होंठों को सी कर रह गई। विमल से ही पता चला था, सुधीर आज कल मिलिटरी सर्विस में है। फॉरिन गया हुआ है। कह रहा था कि अब तो सुधीर का ख़त मिले भी एक मुद्दत हो गई, आख़िर एक मिलिटरी ऑफिसर एक मामूली से क्लर्क को ख़त लिखे इसमें भला क्या तुक है?

सच कहती हूं उस दिन से न जाने कितनी बार मैंने सुधीर की बावत सोचा है? कितनी बार चाहा है कि उसका पता मिले तो उसे एक ख़त लिखूं। दिल ही दिल में उस दिन से मैंने न जाने कितने ख़त लिख लिख कर फाड़ दिए हैं। बस, विमल के शेर की पंक्ति दिमाग़ में घूमती रहती है, "हाय! ये कैसी क़यामत हो गई?"

स्नेहप्रभा अजीब अन्दाज़ से मेरी ओर देखती हुए बोली, "संध्या! अपने आपको ठगने की कोशिश मत कर। इन्सान अकेला कब तक इन आंधी तूफ़ानों में अपनी किश्ती आगे बढ़ा सकता है? क्यों नहीं प्रमोद से शादी कर लेती? जब तुम दोनों ऐसा करने में स्वतन्त्र हो तो फिर अड़चन क्या है? मैं नहीं कहती कि मनचाहा साथी मिलने पर, अवश्य ही इन आंधी तूफ़ानों को कामयाबी के साथ पार किया जा सकता है लेकिन इतना कह सकती हूं कि इनसे कामयाबी के साथ लड़ा ज़रूर जा सकता है।"

मैं कुछ भी कह नहीं सकी, मन ही मन सोचती रही, "प्रमोद की कहानी तो कब की समाप्त हो चुकी! मैंने जिसे घनी छांह समझा था, वह तो छांह का छलावा निकला। प्रमोद भी यही चाहता था कि मैं बाड़े का जानवर बन कर रह जाऊं। वह खुद तो डॉक्टरी करे लेकिन मेरी डॉक्टरी उसकी इच्छाओं और रुचियों के कफ़न से कफ़ना दी जाए। मैं उसके हाथ में कठपुतली बन कर रह जाऊं। वह जब जैसा नाच चाहे मुझे नचा सके?"

मैं तो समझती हूं कि आदमी कितना ही पढ़ लिख जाए, अपने आप को कितने ही तहज़ीब के कपड़ों में सजा ले लेकिन उसके भीतर की क्रूरता, शिकार करने की प्रवृत्ति उसी तरह बनी रहती है। आदमी ने आज तक अधिकार की ही बात जानी है।

लेकिन नीरज बाबू भी तो उसी पुरुष वर्ग में से एक हैं। अगर वे ऐसे बन सकते हैं तो सम्पूर्ण समाज क्यों नहीं बन सकता, प्रमोद क्यों नहीं बन सकता? शायद कुछ लोग आदर्श स्थापित करने के लिए ही आते हैं, परिस्थितियां ज्यों ज्यों ऐसे व्यक्तियों को ठोकती पीटती हैं त्यों त्यों वे और निखरते जाते हैं। नीरज बाबू के मिलने से पहले मैंने तस्वीर के इस पहलू को देखा ही कब था?

जो कुछ अब तक देखा समझा था, उससे यही निष्कर्ष निकाला था कि विवाह के बाद नारी बेजान कठपुतली के सिवाय कुछ भी तो नहीं रह जाती। अब यूं लगता है कि विवाह ही नारी की योग्यता का उसकी सामर्थ्य और निष्ठा का मान दण्ड है। विवाह के बाद नारी के सामने अत्यन्त विशाल कैनवस रख दिया जाता है, विभिन्न रंगों की प्यालियां रख दी जाती हैं, यह उसकी सामर्थ्य और योग्यता पर निर्भर है कि वह उन रंगों को कैनवस पर उंडेल कर उसे बदसूरत बनाती है या उस पर ऐसे चित्र आंकती है जिसे देखते ही पुरुष अपनी क्रूरता, ईर्षा, लोभ, कटुता और लिप्सा की बात भूल कर मधुर प्रेम, महान त्याग और अजेय निष्ठा की तानें गुनगुनाता हुआ मानवता की उच्चतर मंज़िलों की ओर चल निकले।

नीरज बाबू झूठ मूठ ही मेरी सरलता की प्रशंसा करते रहे। कितनी बार चाहा कि प्रमोद की बात उनसे साफ साफ कह दूं लेकिन कहां कह पाई? उन्हें जितनी बार कहना चाहा उतनी बार ही यह बात गले में अटक कर रह गई। अतीत की बातें याद करते ही मेरे तो प्राण कांप जाते हैं।

पिता जी से जब मैंने प्रमोद को अस्वीकार करने की बात कही थी तो वे गुस्से में उबल पड़े थे। वैसा क्रोध मैंने उनमें पहले कभी नहीं देखा था। डांटते हुए बोले थे, 'सन्ध्या, तुम अब बच्ची नहीं हो जो

तुम्हें मनमानी करने की इजाज़त दी जाए। मैं कहता हूं तुम्हारी डॉक्टरी के बग़ैर कौनसी सारी दुनिया मरी जा रही है? जब तुम नहीं थीं तब भी तो मरीज़ों का इलाज हुआ ही करता था।" मुझे अपनी बात पर अटल देख कर बोले थे, "फिर कभी मुझे अपनी मनहूस सूरत मत दिखाना, मैं समझूंगा कि पैदा होते ही तुम मर गई थीं। ज़िन्दगी में अगर कहीं ठोकर खा कर मुंह के बल गिरीं तो मुझे मत पुकारना।"

तब से आज तक पिता जी ने कभी भी तो खोज खबर नहीं ली। कभी कभी घर जा आती हूं तो यूं मिलते हैं मानों किसी मेहमान से मिल रहे हों। मां बेचारी कई बार कुछ कहना चाहती हैं परन्तु पिता जी के तेवर देखते ही सहम जाती हैं। पिछली बार घर गई तो पिता जी, मां को अखबार में से एक खबर सुना रहे थे। खबर क्या थी, अखबार वालों ने कहानी बना कर छापी थी। इन अखबार वालों को कहीं कुछ मिले सही, इनकी बन आती है। हैडिंग दिया था 'फिल्मी माशूक़ा ने आत्महत्या करली!' वही खबर—लड़के लड़की में मुहब्बत हुई, घर वालों की परवाह किए बग़ैर शादी हुई, फिर आपसी अनबन, मनमुटाव, सन्देह और खुदकशी। —मुझे चुप देख कर बोले, "रमा! आज कल के लड़के लड़कियां नई राहें बनाने निकले हैं? सुन रही हो न इन नई राहें बनाने वालों के समाचार? अभी तो शुरुआत है। देख लेना एक दिन ये दुनिया इसी मुहब्बत के चक्कर में ग़र्क हो जाएगी।"

खाने के वक्त, मेज़ पर बैठे फिर वही पुष्प वर्षा करते रहे। खाना निगलना तक मुश्किल हो गया। गले में कांटा सा अटक कर रह गया। तीन छुट्टियां लेकर घर गई थी, सोचा था घर पर ही आराम करूंगी। यूं लगा जैसे घर की दीवारों पर लिखा हो 'ठहरना मना है'। अगले दिन ही लौट आई। वन्दना पूछ रही थी, "क्या बात हुई डॉक्टर साहिब जल्दी लौट आईं?"

कह दिया, "डैडी घर पर थे नहीं, कहीं काम से गए हुए थे। फिर कभी लीव अवेल करूंगी। आज ही ड्यूटी रिज़्यूम कर रही हूं।" यह वन्दना भी अजीब लड़की है। यूं देखती है मानों दूसरे के दिल का एक्सरे ले रही हो। मुझे तो कभी कभी इसकी नज़रों से डर लगने लगता है।

कहने लगी, "डॉक्टर साहिब! झूठ बोल कर मुझे और खुद को क्यों ठग रही हैं? मैं बताऊं आप जल्दी क्यों लौट आई हैं?"

"बता तो?" मैंने कहा।

हंसती हुई बोली, "नीरज साहिब की परेशानी का ख्याल आ गया होगा। बेचारे कल निराश लौट गए हैं। मैंने बहुत कोशिश की उनकी परेशानी को कम करने की लेकिन जो बीमारी डॉक्टर के बस की हो, उसे नर्स बेचारी क्या ठीक करेगी?"

यह वन्दना भी क्या ऊटपटांग सोचा करती है? चौराहे पर मिलने वाली राहें किन विपरीत दिशाओं में जाकर खो गई हैं, यह बेचारी क्या जाने?"

एक दिन अचानक नीरज बाबू से उनकी डिग्रीज़ की बाबत पूछ बैठी। कहकहा लगा कर हंसते हुए बोले, "मुझ वज्र मूर्ख को डिग्रीज़ देकर कौन यूनिवर्सिटी अपने खोखलेपन के प्रमाण पत्र बांटती फिरेगी?"

मैंने कहा, "टालिए मत, ठीक ठीक बताइये?"

गम्भीर होते हुए बोले, "पिता जी में मैट्रिक करवाने तक की हिम्मत थी सो उसी प्रमाण पत्र के आधार पर क्लर्की की कुर्सी तक पहुंच गया हूं। पहले डिग्रीज़ और डिप्लोमा के अभाव में मन दुखी होता था, अब यह कह कर दिल को तसल्ली दे लेता हूं कि ग़नीमत गुज़री कि शानदार लिबास नहीं ओढ़ा। अगर शानदार लिबास में

उलझ कर कोई बेचारा ठगा जाता तो कितनी महान हानि अनजाने ही हो जाती।"

मैंने पूछा, "तसल्ली देते हैं या सचमुच ऐसा समझते हैं?"

कहने लगे, "तसल्ली देने की आदत ही शायद समझ बन गई है। समझ की बात कहूंगा भी तो लोग पाखण्डी और दम्भी कह कर हंसी उड़ाएंगे। आप ही से तो मैंने निन्दा से डरना सीखा है अतः आपके बताए मार्ग पर चलते हुए वही कहता हूं जो लोगों को पसन्द है। अपनी तसल्ली की बात करने से अगर लोगों की तसल्ली हो जाए, बेचारे मुफ्त की निन्दा चुगली की आदत से बच सकें तो इसमें बुराई क्या है?"

मैंने फिर पूछा, "अच्छा बताइये आपने लिखना कब से शुरु किया है?"

हंसते हुए बोले, "डॉक्टर साहिब! लेखक क्या आदमी पढ़ लिख कर बनता है? लोग जब किसी की खूब पिटाई करते हैं तो बेचारा ज़ोर ज़ोर से चीखने लगता है। मुझ जैसे कायर और डरपोक लोग चीख़ नहीं पाते तो बेचारे सुबकते हुए दया के प्रार्थना पत्र लिखने प्रारम्भ कर देते हैं। ये प्रार्थना पत्र पढ़ पढ़ कर लोग उन्हें लेखक मान बैठते हैं। मेरे केस में तो कम से कम यही बात लागू होती है। यूं समझिए कि अपना दब्बूपन ही गुणकारी सिद्ध हुआ है।"

मैंने कहा, "और अगर लोग इन रहम की दरख्वास्तों को पढ़ पढ़ कर भी आपकी पिटाई बन्द न करें तो क्या लिखना भी बन्द कर दीजिएगा।"

कहने लगे, "नशे की लत आसानी से थोड़े ही छूटती है? जब यह लिखने की आदत नशा बन जाए तो फिर आदमी इसके बग़ैर रह नहीं सकता। अगर आप लोग लेखक से यह नशा छीन लेंगे

तो वह ज़िन्दा कहां रह जाएगा ? और फिर वह नशा तो ऐसा है कि पिटाई होने वाले से लेकर पीटने वाले तक पहुंचता है। पीटने वाला भी इसके प्रभाव से अछूता नहीं रहता अतः लोग इस नशे के प्रभाव में फंस कर अक्सर पिटाई की बात भूल जाते हैं।"

फिर हंसते हुए बोले, "डिग्रीज़ और डिप्लोमा का भेद तो आप ने जान ही लिया था, एक लेखकी की बात रह गई थी। इस बयान के बाद उम्मीद है कि आप इस लेखकी के खोखलेपन को भी जान गई होंगी। अब घबराने की ज़रूरत नहीं है बेधड़क होकर आप मुझे अपनी डिग्रीज़ के चमत्कार से डरा सकती हैं।" बात करते करते पूरे ज़ोर से हंस पड़े—कुछ देर ठहरने के बाद बोले, "देखिए, हम तो पहले ही आप के रुआब के कायल हैं। इतना अधिक मत डराइयेगा कि डर के मारे ही जान निकल जाए ? हां ! इस बात का आपको पूरा हक़ है कि मुझ जैसे मामूली आदमी की मौजूदगी अगर आप को नागवार गुज़रे तो बग़ैर किसी झिझक के कह दीजिएगा। नहीं कहेंगी तो अपने आप में तो कुढ़ेंगी ही, आप मेरे प्रति भी अनजाने ही अन्याय कर रही होंगी।"

नीरज बाबू की बात मुझे भीतर तक बींध गई। न जाने कितनी पैनी दृष्टि है इनकी। वन्दना तो एक्सरे लेने का प्रयास करके ही रह जाती है लेकिन यह तो एक ही दृष्टि में व्यक्ति के समूचे अन्तर का एक्सरे खींच कर रख देते हैं। एक्सरे खींचने के बाद व्यक्ति के घिनौने रूप को उस के सम्मुख फेंकेंगे नहीं अपितु उसे स्नेह पूर्वक व्यक्ति के सम्मुख रखते हुए कहेंगे, "कहो, उजले वस्त्रों और दिव्य अलंकरणों में लिपटे यही कुछ हो न तुम भीतर से ?" कठोरता से कहें तो व्यक्ति सहन भी कर ले परन्तु इनकी तो मृदुलता भी कुलिश को मात करती है। इनकी बातें सुन कर व्यक्ति शर्म के मारे ज़मीन में समा जाना

चाहता है। मुंह फाड़ कर पूछ बैठी तो खरी खरी मृदुलता में लपेट कर सुना गए। सचमुच मैं अपने आप में कितनी ओछी हूं, कितना घिनौना है मेरा अन्तर? मैं तो समझी थी कि ये कहां देख सकेंगे इसे? परन्तु ये तो न जाने कब से देखे बैठे थे? देख कर भी अनदेखा किए थे, वह भी शायद इस लिए कि मेरे अन्तर के दर्पण को दिखा कर मुझे लज्जित नहीं करना चाहते थे।

कितनी ही बार तो ऐसी शंकाएं मन में उठी हैं! घण्टों ही तो इन गुत्थियों को सुलझाने में उलझी रही हूं। सोच सोच कर खुद ही अनेकों बार मन में कांप गई हूं परन्तु व्यक्ति वातावरण से, परिस्थितियों से प्रभावित हुए बगैर कैसे रह सकता है? नीरज बाबू की यथार्थ को जांचने की दृष्टि अत्यन्त पैनी है तभी उन्होंने मेरे भावुकता में बह जाने की बात कही है।

मैंने कितनी बार सोचा है कि अगर नीरज बाबू के साथ कहीं सचमुच विवाह के बन्धन में बंध गई तो लोग क्या सोचेंगे? यही न कि इतना पढ़ लिख कर भी इस लड़की की अक्ल पर पत्थर पड़ गए थे। और कोई सोचे या न सोचे पिता जी तो ज़रूर यही समझेंगे। कहेंगे, "इस नालायक लड़की ने अपनी ज़िन्दगी के कैरियर को ही तबाह कर लिया है।"

कितनी ही बार मन में ख्याल आया है, एक मामूली से क्लर्क और साधारण से लेखक का मेरी ज़िन्दगी से क्या मुकाबिला? ये कितने ही लायक हों परन्तु रुपया संचित करने की शक्ति इनमें रत्ती भर नहीं है। रुपया हो तो अयोग्यता को योग्यता बनते देर ही कितनी लगती है? यह खोखली योग्यता किस काम की जो सात आठ रुपया प्रति दिन के हिसाब से ठुकराई जाती रहे, पद दलित होती रहे। मैं क्या इस योग्यता को चाटूंगी या घिस कर माथे से लगाऊंगी? जब कभी संचित करने की

नेक सलाह दो तो मार्क्सवाद, गांधीवाद और न जाने किन वादों की बात ले बैठेंगे ? ऐसे सनकी आदमी में कितना ही आकर्षण क्यों न हो फिर भी उसके साथ घिसी पिटी ज़िन्दगी जीना कहां की अक्लमन्दी है ?

कभी विचार आया है, न इन्हें चार भले लोगों में उठने बैठने की तमीज़, न खाने के सलीके की फिक्र, किसी पार्टी में साथ चले जाएं तो सुसभ्य समाज में मेरी हंसाई करवा छोड़ें ।

अनेकों बार तुलना करने बैठ जाती हूं तो पाती हूं कि न तो ये आर्थिक स्तर पर मेरी समानता रखते हैं न ओहदे के हिसाब से । इनके लक्ष्य कुछ और हैं मेरे कुछ और । इन्हें दुःख ही प्रिय है और मैंने तो सुखों के सपने संजोए हैं । ऐसे व्यक्ति का साथ देने में कांटों और झाड़ झंखाड़ों के अतिरिक्त और मिलेगा भी क्या ?

दो चार बार इनके घर तक भी हो आई हूं । घर कहां है ! किसी फ़क़ीर का तकिया या साईं का डेरा सा लगता है । उस घर में एक दिन बिताने की बात सोचते भी मेरी तो रूह कांप जाती है । ये हैं कि इन्हें वही डेरा आलीशान इमारत दिखाई देता है, उस डेरे के अलावा और कहीं रहने की कल्पना तक नहीं कर सकते । इनकी और मेरी ज़िन्दगी का मेल कहीं भी तो बैठ नहीं पाता ? सचमुच नसीम बनने की बात भावुकता में बह कर ही तो कह गई थी । मेरे लिए तो ऐसी नरक की ज़िन्दगी जीना सर्वथा असम्भव है !

मैं तो हैरान हूं कि ये क्लर्की भी कैसे कर लेते हैं ? कपड़े पहनने तक का सलीका नहीं । कुर्सी पर भी बैठेंगे तो पालथी लगा कर । बस बातें चाहे दुनिया भर की सुन लो, किस्से कहानियां ज़माने भर के लिखवा डालो, किसी सगे सम्बन्धी से इनको साथी चुनने की बात कहते मेरा तो दिल कांप जाता है ।

स्नेहप्रभा के आगे अगर इनके केस की पूरी हिस्ट्री शीट रख के, इसमें अपने रिश्ते की बात कहूं तो हंसती हुई कहेगी, "सन्ध्या ! पानी के ठण्डे गिलास से कुछ नहीं बनेगा, तुम जाकर किसी बड़े से ठण्डे पानी से भरे टब में अपना सिर डुबो आओ, फिर इस टॉपिक पर मुझसे बात करना।"

ले दे कर सिर्फ वन्दना ही एक ऐसी है जिससे इस बारे में गम्भीरता पूर्वक बात की जा सकती है। लेकिन ऐसी नज़रों से देखती है मानों कह रही हो, "डॉक्टर साहिब ! जाने दीजिए। व्यर्थ की ज़िद मत कीजिए। अग्नि परीक्षा की डींग हांकना कुछ और बात है, चेहरे पर एक भी शिकन डाले बगैर आग में से हंसते हंसते गुज़र जाना कुछ और बात है ? आप मज़े से डॉक्टरी कीजिए इन अग्नि परीक्षाओं के चक्कर में मत उलझिए। इसमें उलझने के लिए और बहुत सी बेवकूफ लड़कियां मिल जाएंगी, आप क्यों नाहक अपनी निहायत कीमती और फूल सी नाज़ुक ज़िन्दगी को आग में झोंकने की ज़िद करती हैं।"

मुझे तो यूं लगता है कि मैं सारी ज़िन्दगी लगी रहूं तो भी इनकी ज़िन्दगी को नहीं समझ पाऊंगी। वन्दना बता रही थी, "इनकी ज़िन्दगी को कहां तक समझिएगा ? अच्छी भली अफसरी का चांस था, क्लर्की से चिपटे रहे, अफसरी ठुकरा दी।" पूछा तो कहने लगे, "वन्दना ! क्लर्कों की पंचायत में बैठ कर जो लुत्फ आता है वह अफसरों की महफिल में बैठ कर कहां आएगा ? जानती हो, क्लर्क जब चाय पीते हैं तो पहले कप दूसरे साथी के आगे रखते हैं लेकिन अफसर की नज़र अपना पैग उठाते हुए मेज़ के बीचों बीच पड़ी सुराही की तरफ होती है। मुझे वह अफसरी कहां रास आएगी ?"

उस दिन कितने मान से कह बैठी, "नसीम कहा जा सकता है, सन्ध्या नहीं कहा जा सकता ?"

प्रमोद होता तो ऐसे सुअवसर का पूरा लाभ उठाता। कहने लगे, "फिर राह में पत्थर रखने की बात मुझ पर ही आ पड़ेगी।"

सचमुच नसीम जैसा तो मुझमें कुछ भी नहीं है। वह तो आग में जलती हुई भी शान्त बनी रही थी और मैं तो इन लपटों को दूर से देखते ही घबरा उठती हूं। वह तो कांटों पर मुस्कराती हुई बढ़ा करती थी, मेरा दिल तो कांटों की बात सोचते ही दहल जाता है। नसीम तो इनके कष्टों को झोली में समेट लेने में अपना सौभाग्य समझती थी. इन कष्टों की साधारण सी झलक पाते ही मेरा तो मन कांप उठता है। नसीम बनना तो बहुत दूर की बात है, मैं तो उसका साया तक बनने की सामर्थ्य भी नहीं रखती।

न जाने क्या समझ कर इन्होंने लिख दिया था, "डॉक्टर सन्ध्या को, जो मेरे कष्टों को झोली में समेटती रहती है।"

क्यों लिखी इन्होंने ऐसी बात, क्यों लिखी? दामन बचाने की फिक्र में उलझा व्यक्ति किसी के कष्ट अपनी झोली में क्या समेटेगा? हां! अपने कष्ट स्वार्थवश किसी अन्य के कन्धों पर लाद दे तो आश्चर्य नहीं?

सचमुच मैं तो पर्दों के पीछे से देखने की इतनी अभ्यस्त हो गई हूं कि वही मुझे नेचुरल लगने लगा है। अपने आप तक को पहिचानने की सामर्थ्य खो बैठी हूं। कह रहे थे, "तो आप देहली पर्दे खरीदने गई थीं?" मैंने जीवन भर ये पर्दे ही तो अपने चारों ओर टांगे हैं, इसके अतिरिक्त और किया ही क्या है?

परन्तु नीरज बाबू को तो, पर्दा हटा कर सीधे अन्दर चले आने की आदत है। पर्दों में उलझना इन्हें नहीं आता। तो फिर क्या ऐसी प्रशंसा मेरा मन रखने के लिए किया करते हैं? इतने दिनों से आज तक इधर नहीं आए। डुबकी लगाएंगे तो ऐसी मानों कभी जानते तक

न हों और आकर बैठेंगे तो यूं मानों इस घर के सिवाय दूसरा कोई घर हो न हो।

इस बार आएं सही, मैं सब कुछ साफ साफ कह दूंगी। बुरा मानें या भला, मुझे छलनामयी समझें अथवा सत्यमयी मैं अपने मन पर लदे इस बोझ से दबती जा रही हूं, इसे जितनी जल्दी हो सके उतार फेंकना चाहती हूं। सब कुछ कह दूंगी, अपनी और प्रमोद की बात, नहीं क्यों उसके बाद अपनी विक्षिप्तता की, अपनी ईर्षा की, अपनी वासना की, लोभ और अधःपतन की लम्बी कहानी का एक एक शब्द इनके सामने स्पष्ट रूपेण कहूंगी ताकि ये सब पर्दे उतर जाएं। इन पर्दों में उलझ कर मेरा तो दम घुटता जा रहा है! मैं घुट घुट कर मरना नहीं चाहती, दिप दिप कर जीना चाहती हूं। मैं सब पर्दे उतार फेंकूंगी ताकि अपने वास्तविक रूप को पहचान सकूं। फिर इनसे कहूंगी, "मैली-उजली, लोभी-त्यागी, छलनामयी-सत्यमयी, अच्छी बुरी जैसी भी हूं, यही हूं मैं आपकी सन्ध्या! मैं जीवन में अपने आपको ठग ठग कर छल छल कर हार चली हूं। मुझ में ये सब नाटक रचने की सामर्थ्य अब नहीं रही। मेरे असली रूप को पहचान कर आप मुझे ठुकरा भी देंगे तो उसे ही मैं वरदान समझ कर सह लूंगी। आपकी इतनी दया क्या कम है कि आपकी सहायता से मैं अपना असली रूप देखने में समर्थ तो हो सकी हूं?"

यही तो कहा करते हैं, आत्मविश्वास में सब कुछ सह लेने की असीम शक्ति होती है।"

रेणुका के प्रसंग में विवाद करते हुए मैंने कहा, "तो आपकी राय के मुताबिक सब अपराधियों को क्षमा कर देना चाहिये?" कहने लगे, "डॉक्टर साहिब, हमें अपने पापों ने इतना निर्बल बना दिया होता है कि क्षमा करने की शक्ति हम में रह ही नहीं जाती। रेणुका का पाप

क्योंकि समाज द्वारा निर्धारित, नैतिकता की ओट को लांघ कर झांक उठा है अतः वही आपको अक्षम्य दिखाई देता है।"

लगता है जैसे इन्होंने पहले दिन ही मेरे चेहरे पर लिखी मेरी कलंक कथा को पढ़ लिया था। अपनी आदत के मुताबिक दिखा तो यह रहे थे कि रेणुका का पक्ष ले रहे हैं परन्तु लगातार कोंच मुझे रहे थे। कहने को तो रेणुका की बात कह रहे थे लेकिन समझा मुझे रहे थे, "रेणुका को पापी कहने से पहले, उसे दण्ड देने से पहले, अपने अन्तर में झांक कर देखिये कि आप क्या हैं? पाप पर यदि पर्दा पड़ा रहे तो क्या वह पाप नहीं रहता? रेणुका बेचारी आपकी तरह अपने पापों के चारों ओर पर्दे खड़े करने में निपुण ही कहां है? उस बेचारी को क्या उसकी निष्कपटता का ही दण्ड आप देना चाहती हैं? 'ज़ोला' के 'रैस्टलैस हाउस' के 'कम्पाईन' और 'गैस्परीन' की तरह क्या आप भी दूसरों के पापों की ओर लोगों का ध्यान केन्द्रित करके, अपने पापों को छिपाना चाहती हैं? अपने पापों को, छल और दम्भ को, निरावरण करके देखिये पहचानिये ताकि आप जिस क्षमा की शक्ति को गंवा बैठी हैं उसे पुनः प्राप्त कर सकें। अगर ऐसी क्षमा आपने प्राप्त कर ली तो रेणुका को आग में फेंकने की बात आप नहीं सोच सकेंगी, उसे धो पोंछ कर निखारने की, उजला बनाने की बात ही आप सोच सकेंगी।"

ठीक ही तो कोंच रहे थे। रेणुका को उसके एक पाप का दण्ड देना चाहती थी, इस हिसाब से मेरी तो बोटी बोटी नोच कर फेंक दी जानी चाहिये। क्या इसीलिए मैं निष्पाप हूं क्योंकि अपने पापों को ढंकने छिपाने की कला में निपुण हूं? क्या इसीलिए मैं श्रेष्ठ होने का दम्भ करती हूं क्योंकि लोगों की आंखों में धूल झोंकने में सिद्धहस्त हूं?

अजीब हैं ये भी! इतनी बुरी तरह व्यक्ति को मारेंगे कि वह चीख तक नहीं सकेगा। और फिर मुस्कराते हुए पूछेंगे, 'कहीं चोट तो

नहीं पहुंची ?' चीखने चिल्लाने की शक्ति से वंचित प्राणी जब बग़ैर कुछ बोले, टकटकी बांध इनके आतंक पूर्ण चेहरे की ओर देखेगा तो उसकी बेबसी का लुत्फ उठाते हुए अजीब अदा से मुस्कराते रहेंगे। पीटने की कला में भी सिद्धहस्त हैं। उस समय तड़ाक फड़ाक मुंह पर चांटे जड़ देंगे जब किसी को इस बात की खबर तक न हो।

एक दिन हंसी हंसी में पूछने लगे, "व्यक्ति का चरम लक्ष्य क्या होना चाहिए ?" मैंने कहा, "सुख प्राप्ति।" कहने लगे, "देखिए! इतनी आसान सी बात मेरे मस्तिष्क में न जाने क्यों नहीं बैठ पाती ?" मैंने कहा, "दिमाग़ का कूड़ा कर्कट निकाल कर ज़रा छोटी सी जगह बना लीजिए ताकि यह आसान सी बात भी उसमें समा सके।" हंसते हुए बोले, "विश्व का निर्माण दुःख में से ही हुआ है। असीम वेदना ही व्यक्ति को पशुत्व से देवत्व तक पहुंचने की प्रेरणा देती रहती है। मेरे ख्याल में इस बात की अहमीयत कूड़े कर्कट से अधिक हो भी क्या सकती है ? अच्छा लीजिए, आपकी नेक राय मानते हुए एक तो इस बात को दिमाग़ से निकाल कर कुछ जगह बनाई जा सकती है। फिर सोचता हूं कि 'आस्कर वाइल्ड' ने 'डि प्रोफंडिस' में ऐसी ही बात इससे कहीं अधिक प्रभावपूर्ण शैली और सशक्त शब्दों में कही है। आप इस बात से तो सहमत होंगी ही कि 'आस्कर वाइल्ड' जैसे सुविख्यात व्यक्ति को पागल तो माना नहीं जा सकता ?" मैंने कहा, "तब तो सृष्टि में से सुख का एक बारगी ही सफाया कर देना चाहिए। आप तो यही चाहेंगे न ?" गम्भीर होते हुए बोले, "असीम कष्टों के ऊपर ही तो आपके सुख और आनन्द के भव्य प्रासाद टिके हैं। आप तो डॉक्टर हैं, मुझ से कहीं अधिक अच्छी तरह समझती होंगी। बताइए तो, क्या प्रसव पीड़ा का कष्ट बग़ैर उठाए कोई नारी, मां बनने का सुख अनुभव कर सकती है ? डॉक्टर साहिब, मैं तो समझता

हूं कि साधना की आग में तपे बग़ैर सुख का छलावा भले ही मिले, सुख नहीं मिल सकता। जब हम दूसरों के कमाए सुखों को, उनसे छीन कर उन पर अपनी मोहर लगा लेते हैं तभी सुख में अनजाने, अनचाहे ही तीखा ज़हर घुल मिल जाता है। ज़हर आखिर ज़हर है इसलिए उसे खाकर इन्सान के पास सिर्फ बेमौत मरने की गुञ्जाइश ही रह जाती है। इसीलिए सोचता हूं कि लोगों ने जिसे कूड़ा कर्कट कह कर फेंक दिया है, वह भी सहेज कर रखने की वस्तु है।"

मैं तो जीवन भर दूसरों के कमाए सुखों को बटोरने में ही लगी रही। मैंने जिसे स्वतन्त्र जीवन समझा था वह तो भीतर से खोखला निकला। खोटे सिक्कों से ही सौदा करने निकली थी। इन झूठे सिक्कों से सुख के छलावे के अतिरिक्त और मिल भी क्या सकता था? इस सुख के छलावे को ही सहेज सहेज कर, सजा संवार कर, रंगारंग के पर्दों में ढंक कर रखती रही! नीरज बाबू कसौटी पर घिस कर इस सुख का खोटापन न बताते तो कहां जान पाती इसके नकलीपन को? जिसे आज तक संभाल सहेज कर रखती रही उसे तो बीच चौराहे में रख देती तब भी कोई इस व्यर्थ के कूड़े को न उठाता? मैं तो ठगी गई, मैं तो सचमुच अपनी ही निपुणता और कुशलता के हाथों, अपनी योग्यता और दूरदर्शिता के हाथों ठगी गई।

वाह री अद्भुत योग्यता! दूसरों की असीम वेदनाओं, अनन्त कष्टों और खून पसीने के मोल जुटाए सिक्कों को, जो मुझ पापिष्ठा और छलनामयी के स्पर्श मात्र से ही खोटे बन गए, खनका खनका कर समझी थी कि नीरज बाबू मेरे योग्य नहीं हैं। आज जान पाई कि मैं ही उनके योग्य नहीं थी। नसीम की तरह खरे सिक्के जुटाए होते तभी तो उनके योग्य बनती! वाह री भाग्य की विडम्बना, मैं तो दिन के खुले प्रकाश में आज लुटी पिटी सी खड़ी हूं।

जी चाहता है इनसे कहूं, "नीरज बाबू ! मैं तो पहले ही लुट पिट कर कंगाल हो चुकी हूं। मुझ कंगली का यूं मज़ाक न उड़ाइये। अपने खरे सिक्कों में से ही कुछ दे दीजिए ताकि उनसे एक बार फिर अपनी किस्मत बनाने की कोशिश कर सकूं। मैं पहले ही बहुत ठगी जा चुकी हूं, मुझ अकिंचन को यूं न ठुकराइये।"

कितनी स्वार्थी हूं ! जो पहले ही भंवरों से जूझ रहा है, गला पकड़ कर उसे ही डुबाना चाहती हूं। मुझे नीरज बाबू क्या बचा पायेंगे ? हां ! मुझे बचाते बचाते खुद ही अतल गहराइयों में डूब मरें तो आश्चर्य नहीं ! नसीम बनने चली थी ? वाह री किस्मत !

और बच भी गई तो जीवन में अब रह ही क्या गया है ? जो मेरी ज़िन्दगी में अमृत घोले, उसी के होठों से विष पात्र लगा दूं, ऐसी क्रूर मैं कैसे बन सकूंगी ?

नीरज बाबू इस बार आएंगे तो उन्हें कहूंगी कि पहली पंक्तियां काट कर कि उनकी जगह लिख दीजिए, "पगली सन्ध्या को, जो अपने पागलपन की धुन में अपने कष्ट उठा उठा कर औरों की झोली में भर भर कर सुख अनुभव करती रहती है।"

वन्दना आएगी तो उससे कहूंगी, " वन्दना ! इन सब पर्दों को उतार कर ले जा और इनमें आग लगा दे। इन्होंने मुझे बहुत छला है, आज मैं इनकी हक़ीकत को जान गई हूं। ये सरसराते हुए मीठी मीठी बातें कहा करते हैं, ये तो सांपों की तरह फुंकारते हुए मेरी ओर लपकते हैं ! मैं नहीं सह सकती इन फुंकारों को।"

स्नेह प्रभा को लिख दूंगी, "स्नेह ! तू मुझ से आंधी तूफानों से लड़ने की आशा न रख। अब तो इन तूफानी लहरों में इतना दम घुट रहा है पगली, कि मुंह से आवाज़ तक नहीं निकलती। हाथ

पैर थक चले हैं, अब तो इस महासमुद्र की अथाह गहराइयों में सदा के लिए डूब जाने की घड़ी अत्यन्त निकट सरक आई है।"

नीरज बाबू! आप का जितना भी शुक्रिया अदा करूं, कम है। मैं नसीम नहीं बन पाई लेकिन मेरे लिए यही बहुत है कि मैं जीवन की इस थक कर गिरने की बेला में नसीम को समझ तो पाई। आपने मुझ पापिष्ठा को भी नसीम से कहीं अधिक स्नेह दिया है, कहीं अधिक उजला बनाया है, मेरे अन्तर की मलिनता देखते हुए भी मुझे ठुकराया नहीं है, इसे अपनी बहुत बड़ी खुशकिस्मती मानती हूं। आपने तो मुझे मेरी औक़ात से कहीं अधिक दे दिया है।

मैं तो आप को दारुण दुःख, विषमय घृणा, अनन्त कष्ट, दावानल सा संताप और ज़हरीली छलना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दे पाई। और करती भी क्या, जो कुछ मेरे भण्डार में था, वही तो उन्मुक्त हृदय से मैंने आप को दिया है। आप तो बहुत कृपण निकले, इतना कुछ लेकर भी बदले में कुछ भी तो नहीं लौटाया आपने! कुछ ऐसा जो मेरे दिए का सही उपहार होता!

● ● ●

★ नीरज

लोग कहते हैं कि श्मशान में जाते समय, जहां चारों ओर धू धू करके चिताएं जल रही हों, मन में भय उत्पन्न होता है। यह नगर बड़ा विचित्र है, यहां मन घबराए तो जी चाहता है श्मशान में चल कर बैठिए। श्मशान में बैठने से मन को अद्भुत शान्ति प्राप्त होती है। सुना है कोई इसी नगर के सेठ जीवन की अस्त वेला में अपनी संचित पूंजी की एक एक पाई लुटा कर ऐसी श्मशान व्यवस्था कर गए हैं। एक ओर मुर्दे जलते रहें तब भी यहां दूसरी ओर वट वृक्ष के नीचे बैठ कर मन अपने आप में तल्लीन रह सकता है अथवा साथ लगे बाग में घूम कर व्यक्ति शान्त चित्त हो कर अन्दर बाहर गहरे में झांक सकता है।

सुना यही है कि व्यक्ति की बड़ा बनने की इच्छा जीवन की अन्तिम श्वास तक बनी रहती है। इसी अभिप्राय से लोग धन संचित करते हैं, बन्धु बान्धवों का कुटुम्ब बढ़ाते हैं, परिचितों का क्षेत्र विस्तृत करते हैं, और इससे भी बढ़ कर मन्दिर बनवाते हैं, धर्मशाला बनवा कर अपने नाम का पत्थर जड़वाते हैं। हिन्दू समाज में तो व्यक्ति के मर जाने पर भी उसके सगे सम्बन्धियों की, उसे बड़ा बनाने की साध नहीं मरती अतः अपने वयोवृद्ध मृतक बन्धु को भी वे बड़ा बना कर ही महायात्रा के लिए निकालते हैं।

इस बड़ा बनने की होड़ में जब कभी कोई अनुभवी व्यक्ति मूर्खता कर बैठता है, बड़ा बनने का, सुयश प्राप्ति का, लोभ त्याग व्यर्थ के कामों पर रुपया गंवाता है अथवा गुमनाम रह कर ही उसका

दुरुपयोग कर जाता है तो उसकी मूर्खता की, गहराई से छान बीन करने की इच्छा अनायास ही जागृत हो उठती है। मन्दिर बनवा कर भगवान की मूर्ति प्रतिष्ठित करने में तुक है तभी बड़े बड़े धनाढ्य सेठ उसी मार्ग का अनुसरण करते हैं परन्तु व्यक्ति मुर्दे जलाने की जगह को सजा संवार जाए और बड़े बड़े धन्ना सेठों को इस मूर्खता पर दांतों तले उंगली लेने के लिए विवश कर दे इसमें भला क्या तुक है ? किस स्वार्थ के कारण व्यक्ति ऐसी मूर्खता करता है ?

मुझे तो यूं लगता है कि जीवन, व्यक्ति का मन, चलते फिरते व्यक्ति के अन्तर में छिपा निराकार व्यक्ति अत्यन्त रहस्यमय है। जो राजनीतिज्ञ, वैज्ञानिक, दर्शन शास्त्रों के ज्ञाता अथवा इतिहासज्ञ मानव जीवन को विभिन्न चौकोर खानों में बांट कर, पूरा पूरा लेखा जोखा करने का दम्भ करते हैं मुझे उनकी मूर्खता पर हंसी आती है। अब उस सेठ को, जो मिल मन्दिर बग़ैर बनवाए, इस श्मशान में अपना रुपया फूंक गया, आप किस चौकोर खाने में फिट करके अपना पूरा पूरा लेखा जोखा मिलाएंगे ?

ऐसे मूर्ख प्राणि को जो अपनी मूर्खता के कारण आप के सारे हिसाब को गड़बड़ा गया हो, भले ही गिनती में एक ही क्यों न हो, क्योंकि इकाई तक की संख्या भी हिसाब को गड़बड़ाने की सामर्थ्य तो रखती ही है, आप किस खाने में रखेंगे ? शोषक, शोषित, दम्भी, त्यागी, स्वार्थी, महत्त्वाकांक्षी, मूर्ख, ज्ञानी, अपव्ययी या मितव्ययी क्या कहेंगे उसे ? मुझे तो यूं लगता है कि इन दिग्गज समाज शास्त्रियों के, महान दार्शनिकों के बनाए चौकोर खाने मानव जीवन का हिसाब लगाने में असमर्थ हैं। कब, क्यों, कैसे, कोई चौकोर खाना दूसरे चौकोर खाने की रेखाओं को मिटाता, फांदता या अपने में छिपाता उसमें जा मिलता है अथवा अपने आप में या दूसरे में घुल मिल कर गोल, तिकोन, पञ्चकोण या षट्कोण बन जाता है अथवा कुछ भी

बने बग़ैर, बग़ैर कुछ बने रह जाता है, इस सब का लेखा जोखा व्यक्ति की योग्यता और सामर्थ्य से बाहर है।

कोई विराट शक्ति, कहीं अदृश्य में बैठी अपने ढंग से अपना हिसाब किताब मिलाती रहती है, उसके आगे हमारे अपने लेखे जोखे भिन्न बटे के टेढ़े मेढ़े प्रश्नों के सम्मुख पहली के बच्चे की चौकोर की तार में लगी लाल, पीली, हरी, नीली, काली, उजली गोलियां बन कर रह जाते हैं जिन्हें हम उस नन्हें से बच्चे की तरह उन तारों में इधर-उधर घुमा फिरा कर विशेष सीमाओं में बंधे ही अपनी छोटी बड़ी गिनती किया करते हैं।

जब भी मन घबराता है, उस सेठ की मूर्खता को दुआएं देता हुआ इधर श्मशान में चला आता हूं। कभी धू धू करते मुर्दों को, कभी चिताओं में से उठ कर गगन तक पहुंचने वाले धूएं को, कभी ज़मीन में दबाए नव शिशुओं की नन्हीं नन्हीं समाधियों को तो कभी पार्श्व में उन्हीं समाधियों के सीने में से निकलती वनस्पतियों को, कभी कोने में बैठे पुरुषों के विलाप को तो कभी वट वृक्ष पर बैठे पक्षियों के आनन्दमय संगीत को देखा सुना करता हूं। सोचता हूं यह ठीक है या वह ठीक है, अथवा सभी कुछ अपने अपने स्थान पर ठीक है, शोभनीय है। मन में कभी विचार उठता है कि यदि वट वृक्ष पर मधुर संगीत गाते पक्षी चटाख़ पटाख़ आग में गिरने लगें और चिताओं में जलते मुर्दे चिताओं से निकल कर अपना भयंकर रूप लिए वृक्षों की टहनियों से जा लटकें तो कैसा लगे? मुझे तो यूं लगता है कि सभी कुछ अपने स्थान पर ठीक है, शोभनीय है, वह ग़लत और अशोभनीय तब बनता है जब व्यक्ति अपनी मन्द बुद्धि को स्वार्थ और दम्भ, अहंकार और लिप्सा से सजा संवार कर चीज़ों को अपने स्थान से उठा कर ग़लत स्थान पर रखने लगता है।

वन्दना कह रही थी, "आप अजीब आदमी हैं नीरज बाबू, सदा आंखें मूंद कर चलते हैं। आपकी राह में पड़ा कोई दुखित प्राणि असह्य वेदना से चीखे चिल्लाएगा, असहनीय वेदना से तड़पेगा, छटपटाएगा तब भी क्या आप निष्ठुर बन कर आंखें मींचे और कानों में उंगली दिए उसके पास से गुज़र जाएंगे?"

अजीब बच्ची है! अपने भोलेपन में, सरल हृदय से अजीब प्रश्न पूछा करती है। मैंने उत्तर दिया, "वन्दना, विहाग के सुरों में तड़प होती है इसी से क्या वे बुरे हैं? विहाग का भी संगीत में अपना स्थान है, उसे दरबार में से धक्के देकर निकाल दोगी तो संगीत के राजदरबार में खाली खाली सा नहीं लगेगा क्या? विहाग का भी अपना स्थान है, अपना समय है, अपने स्वर हैं। जिन लोगों को केवल हलके फुलके गीत सुनने की आदत हो उन्हें यह शास्त्रीय संगीत नीरस सा लगने लगता है।"

मेरे उत्तर सुन कर बेचारी समझती है कि मैं हमेशा इसे नन्हीं सी बच्ची समझ कर टाल दिया करता हूं। डॉक्टर सन्ध्या ने भी इसके दिमाग़ में यही बात बैठा दी है। उस दिन कह रही थी, "वन्दना, तू इन से व्यर्थ ही अपना सिर मत खपाया कर। ठीक जवाब देंगे नहीं और अजीब बे सिर पैर की कहते रहेंगे। इन से तो बस किस्से कहानियां लिखवा लो, और कुछ इनके बस का रोग नहीं है।"

मैंने बैठक में पहुंचते पहुंचते सुन लिया तो हंसती हुई सन्ध्या बोली, "ये पर्दों के पीछे छिप छिप कर हमारी बातें सुनने की आदत आपकी कब से हो गई है?"

मैंने कहा, "इन पर्दों को हटा देना ही बेहतर है ताकि चोर को चोरी करने का मौका न मिले।"

रूठती हुई सी बोली, "चोरी कौन कर रहा था ? मैं तो आपकी प्रशंसा कर रही थी।" बोलते बोलते मुस्कान संध्या के चेहरे पर खिल उठी फिर बोली, "जो लोग अपनी प्रशंसा छिप छिप कर सुनते हैं वे बहुत दुष्ट होते हैं।"

मैंने कहा, "ऐसे दुष्टों को घर में मत आने दीजिए। ठीक है न ?" आंखों में रजनीगंधा के फूल महकाती हुई बोली, "दुष्ट लोग घर में पूछ कर थोड़े ही आते हैं, दबे पांव चुपचाप घुस आते हैं, किसी को कानों कान खबर तक नहीं हो पाती। ठीक है न वन्दना ?"

वन्दना बोली, "डॉक्टर साहिब ! नीरज बाबू, दुष्ट थोड़े ही हैं ? ये तो बहुत अच्छे हैं ?"

डॉक्टर सन्ध्या की आंखों में इन्द्रधनुष खिंच आए, अजीब सी रसभरी आवाज़ में बोली, "तुझे क्या पता वन्दना ? ये ऊपर से ही अच्छे दिखाई देते हैं, भीतर से बहुत दुष्ट हैं।"

वन्दना बोली, "बाहर भीतर से क्या आदमी अलग अलग होता है ? जो कुछ भीतर से होता है, वही तो बाहर से दिखाई देता है न ? कहते हैं व्यक्ति का चेहरा उसके मन का दर्पण होता है।"

डॉक्टर सन्ध्या की आंखों में शरारत नाच उठी। बोली, "तू ने उन दानवों की कहानी नहीं सुनी क्या, जो रहते कहीं थे और अपनी जान किसी और जगह सुरक्षित रखते थे। ये भी उन्हीं जैसे हैं। मन कभी अपने पास रखते ही नहीं हैं, इसीलिए इनका चेहरा दर्पण बनने से रह जाता है।"

वन्दना कहने लगी, "आप भी कैसी हैं ? मुंह पर इन्हें दानव कहती हैं, पीठ पीछे देवता कहती हैं।"

डॉक्टर सन्ध्या बोली, "मैंने कब कहा है ?" वन्दना बोली, "उस दिन बता नहीं रही थीं कि पृथ्वी अभी देवताओं से विहीन नहीं हुई है। हो गई होती तो वह पापी लड़की मर नहीं गई होती क्या ?"

मुझ से रहा नहीं गया, मैंने कहा, "पापी कहां थी ? वह तो ऐसी थी कि किसी को छू दे तो उसके जन्म जन्मान्तर के पाप धुल जाएं।" डॉक्टर सन्ध्या से मैंने फिर कहा, "यह आप की क्या आदत है ? किसी को अपने ही रंगों से उजला बनने दिया कीजिए। किसी के उजलेपन को निखारने के लिए दूसरे के मुंह पर कालिख पोत देना आप जैसे व्यक्ति को शोभा नहीं देता।"

वन्दना बोली, "पिता जी कहते हैं कि यही बात मेरे दादा जी भी कहा करते थे। वे कहते थे कि कोई भी इन्सान अपने आप में बुरा नहीं होता। माहौल, जिसमें कि इन्सान रहता है, इन्सान को अच्छा या बुरा बनाने में बहुत हद तक ज़िम्मेदार होता है। वे कहा करते थे, जब हम इन्सान को बुरा बनाने वाले माहौल को सुधारने की बजाए, इन्सान से नफरत करना शुरु कर देते हैं तभी शैतानी ताकतों के हाथ मज़बूत होते हैं। इन्सान आग नहीं है कि जिसे छूते ही हम जल जाएं, वह तो गंगा का पवित्र जल है जिसे छूते ही छूने वाला पाक हो जाता है। हां, कभी कभी ग़न्दगी जब हद से बढ़ जाती है तो यही पवित्र पानी तूफ़ान की सूरत इख्तियार करके तमाम ग़न्दगी को अपने साथ बहा ले जाता है। जब कभी इन्सान ने आग बन कर बरसने की कोशिश की है तभी इन्सानी तरक्की की मंज़िलें धुंधला गई हैं, बेचारी नाउम्मीद सी हो गई हैं। कभी कभी ये मंज़िलें सोचने लगती हैं कि क्या इन्सान हमेशा गढ़ों में गिरता रहेगा ? उन की आंखें पथरा जाती हैं, मंज़िलें सोचने लगती हैं कि कहीं इन्सान के उन तक पहुंचने तक वे हसरत भरी

नज़रों से तकते तकते बूढ़ी तो नहीं हो जाएंगी, कहीं मर तो नहीं जाएंगी ?"

मैंने देखा, लाख रोकने पर भी वन्दना की बात सुनते सुनते डॉक्टर सन्ध्या की आंखों में आंसू छलछला आए थे। मुझे यूं लग रहा था मानों वन्दना नहीं बोल रही, मैं किसी लाउडस्पीकर की आवाज़ सुन रहा हूं।

मैंने कहा, "तुम्हारे दादा क्या काम किया करते थे वन्दना ?" वन्दना बोली, "मुझे क्या मालूम ? पिता जी बताया करते हैं कि मेरे दादा अपनी जवानी में अमेरिका चले गए थे। खूब धन कमा कर घर लौटने की उनकी साध थी। घर लौट कर कुर्क हुई ज़मीन को, उधर से कमाए रुपए के आधार पर छुड़ाना चाहते थे। उधर अमेरिका में कुछ ऐसे लोग मिले कि उनके ख्यालात बदल गए। बहुत से लोगों ने मिल कर, गदर करके अपने देश को आज़ाद कराने की स्कीम बनाई थी। मेरे दादा भी उसी में शामिल हो गए, लेकिन वह कोशिश कामयाब नहीं हो सकी। मेरे दादा भी क़ैद कर लिए गए थे।"

मेरे दिमाग़ में वर्षों पहले की तस्वीर पूरी तेज़ी से घूम रही थी। मैंने पूछा, "क्या नाम था तुम्हारे दादा का ?"

वन्दना हैरान होती हुई बोली, "आप मेरे दादा को नहीं जानते ? उन्हें तो सारे इलाके के लोग जानते हैं। पिता जी तो कहा करते हैं कि बाबा दिलीप सिंह गदरी को इलाके का बच्चा बच्चा जानता है।" मेरी आंखों के आगे अनगिनत तस्वीरें बनने बिगड़ने लगीं। डॉक्टर सन्ध्या की उपस्थिति की बात मैं बिल्कुल भूल गया। यह भी भूल गया कि वन्दना से कुछ पूछ रहा हूं। मुझे तो यूं लगा कि मैं अपने आप से लगातार सवाल किए जा रहा हूं और खुद ही उनके जवाब दिए जा

रहा हूं। मैंने मानों अपने आप से ही पूछा, "फिर क्या हुआ? फिर क्या हुआ?"

वन्दना मानों सैंकड़ों मील दूर बैठी बोल रही थी, "पिता जी बताया करते हैं, वह सब झूठ था। दादा की राजनैतिक सरगर्मियों से तंग आकर उन्हें झूठे कत्ल के अपराध में क़ैद कर लिया गया था। पिता जी कहा करते हैं कि गांव के सब बुज़ुर्ग जानते हैं कि मेरे दादा बेकसूर थे। किसी औरत का कत्ल गांव के नम्बरदार ने करवा दिया था जिसके बदले मेरे दादा गिरफ्तार कर लिए गए थे। पिता जी स्कूल मास्टरी की मामूली सी आमदन में से मुक़दमे की पैरवी कहां तक करते? आखिर मेरे दादा को कत्ल के अपराध में आठ साल क़ैद की सज़ा दे दी गई थी। जेल की चार दीवारी से मेरे दादा जीते जी नहीं निकल सके। पिता जी जेल के दरवाज़े से दादा जी की लाश उठवा कर ही गांव तक ले आए थे। पिता जी बताया करते हैं कि आखिरी दिनों में दादा जी पागल हो गए थे, बहुत ऊट पटांग बोला करते थे, उन्हें जेल के अलग कमरे में बन्द कर दिया गया था।"

वन्दना अजीब ग़म में डूबी आवाज़ में बोली, "नीरज बाबू! मैं किसी क़ातिलों के खानदान की लड़की लगती हूं क्या? जिस लड़की के ख़ून में क्रूरता मिली हो वह क्या कभी अच्छी नर्स बन सकती है? भले ही डॉक्टर साहिब से पूछ लीजिए, मुझ से मरीज़ कैसे घुले मिले रहते हैं, कैसे अपने दिल की बातें करते हैं? मैं बेरहम होती तो क्या ये मरीज़ मुझ से यूं हिल मिल जाया करते?"

मुझ में कुछ भी बोलने की हिम्मत नहीं थी। मैं तो टकटकी बांधे वन्दना की बच्चों जैसी सरल आंखों में, बाबा दिलीपसिंह की कहानी पढ़ता रहा। वन्दना से यह भी नहीं कह सका कि मैं बहुत कृतघ्न हूं। अपने स्वार्थों में ही डूबा रहा। जिस दिल ने अपने सच्चे स्पर्श से

मुझे निखार संवार कर ऐसा बनाया है, उस दिल के नासूरों के इलाज की बात तो एक ओर, उसके लिए दिलासे के दो बोल तक न कह सका। जेल से निकलने के बाद मैंने एक दिन भी बाबा दिलीपसिंह की खोज खबर लेने की कोशिश नहीं की। अपनी ही ज़िन्दगी के दुःखों को बड़ा बना कर दिखाने की धुन में लगा रहा। अचानक दिमाग़ में बाबा दिलीपसिंह के वे शब्द गूंज गए जो उन्होंने जेल से बाहर आते समय कहे थे, "नौजवान! हम अपनी ज़िन्दगी में मंज़िलों को पा नहीं सके, ये ग़म लगातार दिल को कचोटता रहता है। हां, इस बात से ज़रूर कुछ सकून मिलता है कि हम लोगों ने अपनी उम्र फिज़ूल ही नहीं गंवाई, आने वालों के लिए मंज़िलों तक पहुंचने का रास्ता तैयार कर दिया है। मुकम्मिल और पक्का न सही, टेढ़ा मेढ़ा ही सही लेकिन बना ज़रूर दिया है। हम अपनी काट चले अब तो तुम लोगों की बारी है। मेरी आखिरी बात सुन लो, इसे गांठ से बांध लेना। विधवाओं के दिलों से उठी बददुआएं बहुत असर रखती हैं। इन मंज़िलों को इनसान के गले में जयमाला डालने से पहले ही कहीं विधवाएं न बना देना?" मैंने पहली बार बाबा दिलीपसिंह की बूढ़ी आंखों में नमी देखी थी। स्नेह से मेरी पीठ थपथपाते हुए बोले थे, "ग़म भी इनसान के लिए बहुत बड़ी ताकत साबित हो सकते हैं, लेकिन शर्त यह है कि वह मंज़िलों की बात न भूले, इन्सानियत का दामन न छोड़े।" मैंने अचानक ही कह डाला था, "बाबा जी! मैं मुलाकात के लिए आता रहूंगा।" बुढ़ापे की हंसी हंसते हुए बोले थे, "दुनिया इतनी मुख्तसर कहां है नौजवान कि लौट कर आया जा सके? फिर ऐसी तकलीफ भी क्या है जेल में, अब तुम तो देख ही चले हो, तुम से क्या कहूं? हां! तुम्हारे जाने के बाद कुछ अरसा दिल की बात किसी से कह पाने की कमी ज़रूर खटकेगी।" कहते कहते बाबा ग़म में बुझी हंसी हंस दिए थे।

देखा तो वन्दना कह रही थी, "पिता जी बताया करते हैं कि दादा जी ने कभी उनके छड़ी तक नहीं मारी थी। ऐसा आदमी कत्ल की हिम्मत जुटा ही कैसे सकता है ? मैंने तो पिता जी को भी कभी किसी बच्चे पर हाथ उठाते तक नहीं देखा। सच मानिये नीरज बाबू ! मैं इतने बुरे खानदान की लड़की नहीं हूं।"

पुनः बोली, "पिता जी बताया करते हैं कि बचपन से ही मुझे सेवा शुश्रूषा का बहुत शौक है। माता जी कभी बीमार होतीं तो मैं घण्टों उनके पास बैठी रहा करती थी। यह सब जान कर आप मुझ से घृणा तो नहीं करने लगेंगे न ?"

मैं केवल इतना कह सका, "घृणा में तुम्हारे समीप ठहर पाने की शक्ति नहीं है वन्दना ! पवित्र जल धारा में मलिनता कहां ठहर पाएगी।"

श्मशान में घूमते हुए किसी कवि की इस पंक्ति की ओर ध्यान चला गया था, "अपना अपनी बोलियां, सब बोल कर उड़ जाएंगे ?"

सोचने लगता हूं कि अपनी बोलियां बोल कर हम उड़ कहां जाते हैं ? जिन सुरों को हवा में गूंजता छोड़ गए थे, नए सिरे से फिर उन्हीं को आकर सुनते हैं, और साधना करते हैं, उन्हीं स्वरों को अधिक सशक्त, अधिक मधुर, अधिक सुरीला बनाते हैं, यही क्रम चलता रहता है, स्वर बजते रहते हैं, संवरते रहते हैं, सधते रहते हैं, सजते रहते हैं अमर होते रहते हैं। पक्षी उड़ कर कहां जाते हैं ? नए तिनके चोंचों में दबाए फिर नीड़ों की ओर आते हैं, गिरे तिनकों की जगह पुराने तिनके जमाते है, आंधी पानी से बिखरे घोंसलों को फिर बनाते हैं, फिर उन घोंसलों में नई तानें, नई ज़िन्दगी भरते हैं। चिता से आकाश की ओर उठता धुआं, मैले कपड़े छोड़ आता है, उधर

से नया प्रकाश बन कर उजले कपड़े लिए लौटता है। बाबा दिलीप सिंह के सुर मेरे कहां हैं? वन्दना में और अधिक सुरीले हो कर बज उठे हैं।

रेणुका ने एक बार कहा था, "विध्वंस में ही निर्माण के बीज छिपे रहते हैं।" आज रेणुका सम्मुख हो तो उसे कहूं, "तुम जिसे विध्वंस समझती हो वह विध्वंस कहां होता है? मानव यात्रा की कथा विध्वंस में से निर्माण की कथा नहीं है, निर्माण में से नव निर्माण की कथा है, निरन्तर सशक्त होते, सतत गति शील रहते निर्माण की कथा है। हम पुरानी कड़ियां उतार कर उनकी जगह नई लगा देते हैं, कमज़ोर ईंटों की जगह पक्की ईंटें लगा देते हैं, यही क्रिया हमें अपने अज्ञान के कारण विध्वंस दिखाई देती है। आस्था भी आत्मा की तरह अमर है। मरती है तो घृणा, ईर्ष्या, तृष्णा, लिप्सा ही भस्मासुर का सा भयकर, संहारक नृत्य नाच कर मरती है क्योंकि नई कड़ियों के, नई ईंटों के मकान में इस पुरानी किस्म के मसाले की ज़रूरत नहीं रह जाती।"

रेणुका की आज तक खोज खबर नहीं ली। न जाने बेचारी पर क्या बीती होगी? ऐसी ज़िद्दी लड़की है कि आज तक पत्र भी नहीं लिखा। सोचती होगी कि किसी दूसरे को अपने दुखों में, अपने बोए कांटों में क्यों घसीटूं? सुखी होती तो अवश्य लिखती। अवश्य कहीं दुखों की ज्वाला में अपने को तिल तिल करके जला रही होगी। वह उनमें से कहां है जो आधा दौड़ में थक कर बैठ जाती हैं?

लेकिन इस दौड़ का, इस निरुद्देश्य भटकने का अन्त कहां है? नरेन अब फिर मिलने लगा है। आत्म चिन्तन के बाद उस पर क्रोध बनाए रखना मुझ से नहीं हो सका। उसकी विक्षिप्त अवस्था देख कर दया हो आई। सोचा मेरी क्षमा की, सहनशीलता और दया की तस्वीर अगर इतनी बदसूरत बनी है तो इसमें मेरी योग्यता, निष्ठा

और सामर्थ्य को ही चुनौती है। मैं अपने निरन्तर प्रयत्नों से इसकी सारी बदसूरती मिटा डालूंगा। ऐसी नोक पलक संवारूंगा, ऐसे गहरे हलके टच्चिज़ दूंगा कि देखने वाला अनुमान भी न लगा सके कि यह तस्वीर कभी बदसूरत और भद्दी, ठुकराई और धूल भरी भी रही होगी।

रेणुका ने जाते समय कहा था, "मैं जानती हूं कि आपका क्रोध केवल उन्हीं पर है जो मुझे कलंकिनी बना कर छोड़ गए हैं। परन्तु कभी अपने अनुभव से उनके निर्दोष होने की बात आप जान सकें तो उन्हें अवश्य क्षमा कर दीजिएगा।"

रेणुका मानों कह गई थी कि आत्म चिन्तन का कोई अन्तिम छोर नहीं है, जो ऐसा समझ बैठते हैं वही दम्भी और अहंकारी बन जाते हैं। चिन्तन तो नित नूतन है क्यों कि यह उस जीवन का सखा है जो नित्य प्रवाहित है। चिन्तन की गति जब रुक जाती है तभी जीवन गंदला हो उठता है, ठहरे पानी पर काई छा जाती है। रेणुका अनायास ही उस भारी चट्टान को राह से हटा गई जिसने मेरे चिन्तन की धारा को रोकना प्रारम्भ कर दिया था, मेरे जीवन को गंदला बना दिया था।

अहंकार में भर कर सोचा था कि यह लड़की कांटों के अतिरिक्त मुझे कुछ भी तो देकर नहीं गई परन्तु जब चली गई है तो यूं लगा है कि उन्हीं कांटों भरी टहनियों पर महकते फूल भी हैं। अज्ञान वश कांटे चुभ जाने से उंगली लहूलुहान हो गई थी, उसे ही देख कराहता रहा, जब वह पीड़ा शान्त हुई तभी फूलों की ओर दृष्टि उठी। जब यह कहने का ख्याल आया है कि मैंने फुलवारी के यथार्थ को समझ लिया है, तो रेणुका इस आत्म प्रशंसा को सुनने से पहले दुनिया की भीड़ में न जाने किधर खो गई है? जैसे उसका खो जाना यथार्थ है उसी तरह फूलों का महकना भी सत्य है, महकते फूलों से मन और आत्मा सुरभिमय हुए बग़ैर कैसे रह सकते हैं?

रेणुका ने राह की चट्टान हटा दी तो ठहरा चिन्तन पुनः बह निकला। नरेन क्या सचमुच घृणा, क्रोध, अनादर और तिरस्कार का पात्र है? क्या जीवन की एक ही भूल, चाहे वह कितनी ही बड़ी क्यों न हो, व्यक्ति के सारे जीवन मूल्यों को डुबाने की क्षमता रखती है? रोगी को भयंकर रोग से घिरा देख क्या बन्धु बान्धव उसकी चिकित्सा ही बन्द कर देते हैं? रोगी नहीं बच सकेगा—यह जान लेने पर भी, क्या स्वजन, रोगी की अन्तिम श्वास तक, आशा का छोर पकड़े अपना धर्म नहीं निबाहते? कहीं ऐसा तो नहीं है कि व्यक्ति भूल के कारण उतना न डूबता हो जितना हमारी घृणा और थू थू के कारण डूबता हो? असाधारण भूल करने वाला व्यक्ति क्या असाधारण नहीं होता? साधारण व्यक्ति असाधारण कार्य कैसे कर सकता है?

मुझे याद है, नरेन के पास चुनाव के दिनों में, साम्प्रदायिक सीट से चुनाव लड़ने वाले एक धनी व्यक्ति के प्रतिनिधि आए। कहने लगे, "चाहें तो रुपए पेशगी ले लीजिये, हमारे लाला जी की प्रशंसा में एक बढ़िया सा गीत लिख दीजिए। आपको इसमें क्या हानि है? गीत आपके नाम से तो पढ़ा जाएगा नहीं, हम उसे ख़रीद जो लेंगे। आशा है आपको इस व्यवस्था में आपत्ति नहीं होगी। आप अपनी पसन्द की स्टेज पर भले ही अपने मन पसन्द गीत बोलिये?"

नरेन अजीब विश्वास में डूबी नज़रों से देखता हुआ उनसे बोला, "लाला जी, गीत जब बिकने लगते हैं तब गीत कहां रह जाते हैं? मुआफ़ कीजिएगा, जो औरत पाउडर सुर्ख़ी लगा कर बाज़ार में बैठ कर अपने रूप का सौदा बेचती है, भले ही लाचार हो कर ऐसा क्यों न करती हो, क्या आप उसे अपने घर की बहू बना कर लाने की बात सोच सकते हैं? देखिये, मेरी ग़रीबी का यूं मज़ाक न उड़ाइये। मैं ग़रीब ज़रूर हूं लेकिन औरतों की मण्डी का दलाल नहीं हूं। मैंने अपने घर की आखिरी ईंट तक बेच कर, जो भी थोड़ी बहुत पूंजी जुट

सकी, उसी के सहारे अपनी कुंआरी रचनाओं की डोली जन-संघर्ष के घर भेज दी है। मैं उसी घर में डोली से उतरी लड़की को जवान होते, फलते फूलते और बूढ़ी हो कर नई बहू को भण्डार घर की ताली सौंप कर सुख की गहरी नींद सोते देखना चाहता हूं। ग़रीबी का नाजायज़ फायदा उठाते हुए भले घर की ड्योढ़ी पर रुकने वाली डोली को किसी कोठे की चौखट पर मत रोकिये। लाला जी, मैं लड़कियों का बाप हूं, लड़कियों का दलाल नहीं हूं। बाप कितना भी ग़रीब क्यों न हो आखिर बाप होता है। घबराइए नहीं, अगर ज़हर खाने तक के पैसे आप ने मेरे पास नहीं छोड़े तब भी दुनिया भर के कूओं को आप नहीं ढंक सकेंगे। मैंने जिस घर की ड्योढ़ी पर अपनी रचनाओं की डोली उतारी है उस घर के लोग जान पर खेल कर भी लड़कियों की इज़्ज़त बचाना जानते हैं। मेरे मरने के बाद भी आप मेरी रचनाओं को, सिर पर कफ़न बांध कर लड़ने वाले सूरमाओं के घरों से निकाल कर बाज़ारी कोठों पर नहीं बैठा सकेंगे। लाला जी, चले जाइए, फिर कभी इस घर में क़दम मत रखिएगा।"

ऐसी एक नहीं अनेकों घटनाएं मस्तिष्क में मंडराने लगती हैं। किसान मोर्चे के दिनों की बात है। एक दिन बहुत से नोट दिखाता हुआ बोला, "मुझे ग़रीब मत कहना, देखो कितना अमीर हो गया हूं?" मैंने कहा, "कहां से उड़ा लाया है इतने सारे नोट? हमें तो आज तक नावल लिखने पर भी किसी ने इतने नोट नहीं दिए।" हंसता हुआ बोला, "डाका डाला है। मनोरमा के हाथ में सोने का कंगन था। बहुत देर से मेरी आंखों में खटक रहा था। आज उसे ही लूट कर ला रहा हूं।" रोती हुई बोली, "एक यही ज़ेवर तो घर में रह गया है?" मैंने कहा, "पत्नी का सब से बड़ा ज़ेवर तो पति होता है। न जाने तुम्हारी अक्ल को क्या हो गया है?"—"इस पिस्तौल से भला कौन हिन्दू औरत न डर जाती? सहमती हुई ने हाथ का आखिरी कंगन

उतार कर मेरे हवाले कर दिया।" फिर गम्भीर होता हुआ बोला, "बख्तावर सिंह को पोलीस पकड़ कर ले गई थी। बेचारों के घर पिछले चार दिन में सूखी भांग तक नहीं थी। इतने से कुछ दिन तो चल ही जाएगा।" अपनी गम्भीरता को खोखली हंसी से दबाने की कोशिश करता हुआ बोला, "हमने कौनसा ताजमहल खड़ा करना है जो इन हीरे जवाहिरात को सहेजते रहें ? अगर अपनी मुहब्बत इतनी ही जानदार होगी तो कोई सुसरा खुद ही कहीं से हमारी लाश ढूंढ कर उस पर ताजमहल खड़ा कर देगा। यह भी क्या हुआ यार ! कि तुम खुद ही अपनी मुहब्बत का ढिंढोरा पीटते फिरो ? मज़ा तो तब है कि तुम्हें अपनी मुहब्बत का अहसास तक न हो और लोग तुम्हारी मुहब्बत पर अक़ीदत के ताजमहल बनाते रहें, अपने सुच्चे आंसुओं के हीरे जवाहिरात दिलों की उजली संगमरमरी दीवारों में जड़ते रहें, लोगों के सच्चे जज़बात की आयतें रोशन ज़ेहनों के दरवाज़ों पर अमिट बन कर रह जाएं ?" मैंने हंसते हुए कहा, "अबे ! शाहजहां की वाहिद औलाद ! कभी तूने मुहब्बत की भी है जो ताजमहल के ख्वाब देखने चला है ?" अजीब सी आवाज़ में बोला, "यार ! किस सुसरे ने शाहजहां की तरह मुहब्बत करने की फ़ुरसत हमारे पास रहने दी है ? मुहब्बत करने की फ़ुरसत ही नहीं मिलती वर्ना नक्शा बांध कर रख देते। अच्छा यार ! कागज़ कलम तो दे ज़रा ? किसानों का आज दरबारे-आम लग रहा है न, उसी में बेताज शहन्शाहों के हुजूर में एक शानदार गज़ल अर्ज़ करनी है।"

एक दिन कहने लगा, "अपनी मां का ये सालू उठा लाया हूं। ड्रामे की प्रॉपर्टी में कम पड़ता था। घर पर भी सन्दूक में फिज़ूल ही पड़ा था। अब इसका बेहतरीन इस्तेमाल हो सकेगा।" मैंने कहा, "और कोट किस दुकान पर बेच दिया ?" हंसता हुआ बोला,

"पटियाला में एक शानदार कवि दरबार हो रहा है, उसी के राह ख़र्च के लिए शानदार तरीके से रुपए जुटाए हैं।"

एक बार मैं अचानक नरेन के कमरे में जा निकला। छोटे से कमरे में, जो कि किसी कबाड़िए की दुकान का नक्शा पेश कर रहा था, बीचों बीच दरी बिछाए महाराजा नरेन्द्रकुमार चीकट तकिए का सहारा लिए बैठे थे। साथ ही वायलनिस्ट, तबलची तथा एक और आर्टिस्ट गवैया उपस्थित थे। नये लिखे गीति नाट्य की रिहर्सल चल रही थी। गवैया सुर नहीं पकड़ पा रहा था। नरेन्द्र उसे एक सर्वप्रिय लोक गीत के सुरों में ढालना चाहता था जब कि गवैया महाराज पाश्चात्य धुनों से प्रभावित होने के कारण उसे रॉक एण्ड रोल किस्म की चीज़ बनाते जा रहे थे। तीन बार नरेन ने समझाया लेकिन तीनों बार गवैया महोदय उखड़ गए। नरेन सिगरेट के धूएं में, बादशाहों के खास हुक्कों का सा लुत्फ लेता हुआ बोला, "अबे तानसेन की नाजायज़ औलाद! मैं तुझे ज़मीन पर चलने को कह रहा हूं और तू असमान पर उड़ा जा रहा है? ये धुन उस वक्त की है जब लोग बाग ऊंटों और बैलगाड़ियों में सफ़र किया करते थे, आससान में घर्र घर्र करने वाले हवाई जहाज़ क्या उस वक्त तेरे बाप ने बनाए थे?" उसकी टाई की ओर इशारा करता हुआ बोला, "ला, ये गले का फन्दा उतार कर मुझे दे दे, इसने तेरे गले की रगों को बुरी तरह जकड़ लिया है। फन्दा कितना ही शानदार क्यों न हो उससे बचना ही चाहिये। ये अंग्रेज़ ऐसे फन्दे डाल गए हैं कि सुसरी सुरें तक चीख़ें बन गई हैं?" गवैया महाराज के होश उड़न छू हो गए। नरेन ने ख़ुद उसी गीत को गा कर बताया तो हम सब की आंखें भर आईं। गीत की नई बहू, अपने दूल्हे को कह रही थी, "हम भूखे रह लेंगे—लड़ाई में मत जा—तू मर गया तो मैं क्या रुपयों को आग लगाऊंगी?—अगर तेरी गोली से और कोई जवान

मर गया तो क्या उसकी नई नवेली के हाथों की मेंहदी खून के दाग़ों में नहीं बदल जाएगी—तू नहीं जानता औरत अपने मर्द को कितना चाहती है—अगर तू, मैं होता तो जानता कि औरत का प्यार क्या होता ?— तुझे मेरी कसम तू लड़ाई में मत जा—जवानियां तो ढोलकियों की थापों पर, अलगोज़ों की सुरों में नाचने के लिए, गेहूं बोने के लिए, रहट पर गीत गाने के लिए, पनघट पर बतियाने के लिए होती हैं ? बारूद बनने के लिए, हंसते घरों को उजाड़ने के लिए थोड़े ही होती हैं—तुझे मेरी भरी जवानी की कसम अगर अलगोज़े फेंक कर बन्दूक पकड़े ?"

नरेन गवैये को समझाता हुआ बोला, "सुर गले से नहीं निकलते भई, दिलों की गहराइयों से निकलते हैं। कितना खून आंसुओं की शक्ल में ढलता है तो गीत का एक बोल बनता है। जब कलाकार उन बोलों की क़ीमत बग़ैर चुकाए उन्हें उठाना चाहता है तो बोल छिटक कर उससे दूर जा बैठते हैं। जब आर्टिस्ट दिलों के सुरों पर गाता है तभी गीतों के बोल मुहब्बत के रस में सराबोर महबूबाओं की तरह सुरों के गले से आ लिपटते हैं। गले की आवाज़ों की कला-बाज़ियां तो लोग सिनेमा घरों में जा कर भी सुन सकते हैं फिर हमारी तुम्हारी क्या ज़रूरत ? आपने लोगों को गीत ही नहीं सुनाना है बल्कि इसके ज़रिये लोगों के दिमाग़ में जंग की खौफ़नाक और अमन की खूबसूरत तस्वीरें उभारनी हैं। आपका गीत सुन कर भी अगर लोग बन्दूकों और तोपों की तरफ, बमों और ज़हरीली गैसों की तरफ लपकते रहते हैं तो फिर गीत क्या खाक हुआ ? आपने अपने गले की लचक से लोगों को मुग्ध ही नहीं करना है बल्कि गोले उगलती खुली तोपों के मुंह पर हमेशा के लिए खोल चढ़ाने हैं ताकि मांएं सिसकें नहीं, बहनें विधवाएं बन कर न रह जाएं, बहुओं की आंखें इन्तज़ार करते करते पथरा न जाएं।"

नरेन की यादें दिमाग़ में उभरती हैं तो उभरती ही चली जाती हैं। उसके घर बार छोड़ने की, नौकरी ठुकराने की, मुसीबतों में भी क़लम और बोलों को बचाए रखने की, लाठियां खाकर मुस्कराने की, अपने को तिल तिल कर जलाने की, अपने आप को जला जला कर जन संघर्ष की ठिठुरन को दूर करने की अनगिनत तस्वीरें मस्तिष्क में घूमती रहती हैं। भूख में जी खोल कर हंसते, अपना दुःख भूल दूसरों के दुःख में रोते, मैंने नरेन को अनेकों बार देखा है। जेल से लौट कर जेल की बातें, घर की बातों की तरह कहते मैंने इसे सुना है।

और इसी नरेन्द्र को तो मैंने कहा था, "अब भूल कर भी मेरे घर में पांव मत रखना। तुम जैसे विश्वासघाती के लिए मित्रद्रोह करने वाले व्यक्ति के लिए मेरे घर के द्वार सदा के लिए बन्द हो चुके हैं।"

रेणुका यदि इन लौह द्वारों के आगे पड़ा बोझिल पत्थर उठा कर एक ओर न सरकाती तो कहां खुल सकते थे ये लौह द्वार ? बन्द कमरे में बैठ, कहां देख पाता मैं प्रकाश किरणों को ? उस घुप अन्धेरे में इस विश्वासघात और मित्र द्रोह के खोल में बन्द, शुभकामना, मित्र को असह्य ज्वालाओं से बचाने की भावना को देख पाना मेरे लिए सर्वथा असम्भव था।

नरेन्द्र को विश्वासघाती और मित्रद्रोही कहते हुए, अपने अहंकार के आवेश में आकर मैं यह बात भूल गया था कि बन्दूक छीनने वाला दिल किसी को बन्दूक मार कैसे सकता है ?

अच्छा किया, धूल भरे इस मित्र को पुनः उठा लिया। मित्रद्रोही तो मैं था जो ठोकर खाकर गिरे मित्र को, उठा कर सहलाने की अपेक्षा, उसे मुंह के भार गिरा देख कर अट्टहास करने चला था, उस की बेबसी का मज़ाक उड़ा कर आनन्द मनाने चला था। यह हमें

क्या हो जाता है ? कौन शक्ति हमारी दृष्टि को मलिन कर जाती है कि हमें सब कुछ धुंधला और अस्पष्ट दिखाई देने लगता है।

शुभकामना, विश्वासघात में क्यों बदल जाती है ? मित्र की सुख कामना, मित्रद्रोह में क्यों परिवर्तित हो जाती है ? यह हमारी दृष्टि का ही दोष है या सचमुच कोई राक्षसी शक्ति इन सुन्दर चेहरों पर, भयंकर और वीभत्स चेहरे चढ़ा चढ़ा कर, हमें डरते सहमते देख कर, अट्टहास किया करती है ?

होता शायद यूं है कि हमारी आंखों में, आदि काल से लेकर अब तक के मानव समाज में होने वाले असंख्यों परिवर्तनों के धूलि कण, बवण्डरों के कारण भरते रहते हैं। हमारे पुरखाओं द्वारा अर्जित बपौती में मिले संस्कारों के प्रबल झोंके हमें आंखें मल कर धूलि कण निकाल पाने का सुअवसर ही नहीं देते। उसी अवस्था में हम धूलि कणों से भरी आंखें लिए हाथों को इधर उधर हिलाते, अधखुली दृष्टि से देखते, चलते रहते हैं। विशेष वर्ग जो समाज पर काठी जमाए रहता है, हमारी इस बेबसी की हालत से पूरा लाभ उठाते हुए अपने वर्ग स्वार्थ के बकासुरों अघासुरों को मानव हित की पोशाकें पहना कर हमारे साथ कर देता है। हमारी उंगली उनके हाथ में देते हुए कहता—'ये रहे तुम्हारे संरक्षक। इनकी सुझाई राह पर चले चलो, शीघ्र ही मंज़िलों तक पहुंच जाओगे।" ये नमक हलाल बकासुर और अघासुर मानव-हित के आवरण लपेटे अपने स्वामी के सेवा कार्य में लगे रहते हैं। शुभकामना का गला घोंट कर कहते हैं, 'यह देखो ! विश्वासघात पड़ा है। दामन बचा कर निकल जाओ। इसको तो छूने से भी पातक लगता है।' मित्रता को यदि हम छूना चाहते हैं तो ये कहते हैं, 'अरे ! यह तो मित्र-द्रोह खड़ा है, बच कर भागो जल्दी से, नहीं तो यह तुम्हें मार डालेगा !"

हम इन्हीं असुरों की प्रशंसा किए जाते हैं, इन्हें ही परोपकारी जीव समझते हैं। अचानक राह में स्वस्थ चिन्तन की धारा आ जाती है। इन बकासुरों अघासुरों के लाख मना करने पर भी, मानव स्वभाव के अनुसार हम अपनी आंखों को स्वस्थ चिन्तन के जल से धो डालते हैं। आंखें साफ देखती हैं, दृष्टि निखरती है तो हम स्थिति को समझते हैं। कृष्ण बन कर इन असुरों का वध करते हैं, और तब उसे मुक्ति दिलाने चल निकलते हैं जिस कंस के ये दूत होते हैं।

मैं तो समझता हूं कि जब तक इस स्वस्थ चिन्तन की धाराएं मानव यात्रा की राह में हैं, बकासुर अघासुर मरते रहेंगे, कंस भूलुंठित होते रहेंगे, कृष्ण, धर्म की संस्थापना, साधुओं का परित्राण करते रहेंगे, वंशी में तान फूंकते रहेंगे।

अच्छा हुआ कि समय रहते शुभ कामना और मित्रता को मैंने आंखें धोकर, पहचान लिया। कहीं मेरे ही हाथों इनका गला घोंट दिया गया होता तो इस पाप से जीवन भर छुटकारा न मिल पाता, जीवन भर यह व्यथा मन को कचोटती रहती।

परन्तु मैं जो कुछ देख पाया हूं, वह अन्य लोगों की दृष्टि में कहां आया है? यही कारण है कि उन्हें मेरी बुद्धि पर सन्देह होने लगा है। डॉक्टर सन्ध्या उस दिन रिक्शा पर किसी मरीज़ के घर से लौट रही थीं। मैं और नरेन्द्र सामने से बातें करते आ रहे थे। यूं लगा मानों उन्होंने कोई भयंकर सपना देखा हो और आंखें खोले अभी तक उसी को याद करके कांप रही हों।

दो तीन दिन के बाद उधर जाना हुआ तो मेरे कुर्सी पर बैठते ही बोलीं, "खुशी की मिठाई बांटते इधर आ निकले हैं शायद? छोटी सी थाली में कहां समाएगी अतः झोली ही फैलाए देती हूं।"

मैंने कहा, "ऐसी अच्छी खबर, अभी तक तो सुनने में आई नहीं, जिसकी खुशी में मिठाई बांटी जाए।"

बोलीं, "सुनने में नहीं आई लेकिन देखने में ज़रूर आई है।" मैंने कहा, "आप तो पहेलियां बुझवा रही हैं। साफ साफ कहिये न क्या बात है?" कहने लगीं, "जब भी बन्धु-मिलाप होता है, लोग मिठाई नहीं बांटते हैं क्या? ऐसा ही तो बन्धु मिलाप मैंने अपनी आंखों से देखा है। मुझे ठगिएगा नहीं, मिठाई खाए बग़ैर नहीं मानूंगी?" मैंने कहा, "तो यह बात है? तब तो भई मुझे मिठाई लानी ही चाहिये थी। मुझे क्या मालूम था कि मेरा बन्धु मिलाप आपके लिए इतना अधिक महत्त्व रखता है?" क्रोधित होती हुई बोलीं, "मिठाई के बदले, ज़हर की गोली नहीं मिल सकेगी क्या? हॉस्पीटल की डिस्पेंसरी दूर नहीं है। वहीं से ला दीजिएगा।"

मैंने कहा, "यह हो क्या गया है आप को? कैसी बात कर रही हैं आप?" मेरी ओर देखती हुई बोलीं, "मुझे हो गया है या आपको हो गया है? मैं कहती हूं न जाने कब आप को अक्ल आएगी? आप तो 'पंचतन्त्र' के जानवरों से भी गए बीते हैं। वे जानवर भी एक बार धोखा खाकर संभल जाते थे और आप हैं कि धोखा खाने में उन जानवरों को भी मात पर मात दिए जा रहे हैं।"

मैंने कहा, "खुशकिस्मती समझिए डॉक्टर साहिब, कि धोखा खाते खाते बच गया हूं। सोने को पीतल समझ कर फेंकने चला था। फेंक देता तो बहुत पछताना पड़ता।" उसी मुद्रा में बोलीं, "सोना पीतल परखने की जांच हम औरतों में पुरुषों से कहीं अधिक होती है। अगर कभी ऐसी ही मुसीबत आ पड़े तो हमें याद किया कीजिए।" मैंने कहा, "परखने की जांच कहां होती है? सिर्फ पहनने की जांच होती है। कुछ औरतें ऐसी होती हैं कि पीतल भी पहन लेती हैं तो

वही सोना बन कर उनके शरीर पर जगमगा उठता है।" कहने लगीं, मुझे व्यर्थ में मत टालिये। यह बताइये कि आपके मन में क्या धुन समाई है? सौ में नव्वे, बल्कि निन्यानवें आदमी आपकी तरह नहीं होते, आपका ठीक उलटा रूप होते हैं। इतने बड़े धोखेबाज़ को, मैं समझ नहीं पाती कि आप कैसे अपने पास बिठा पाते हैं? घर में फिर कोई गुल खिलाने का इरादा है क्या? अपनेआप में शरीफ बने रहना ही काफी नहीं है, बदमाश और धोखेबाज़ों से बच कर चलना भी ज़रूरी है। व्यक्ति, समाज से अलग नहीं है कि मुंह उठाए जिस किसी के साथ घूमता रहे। व्यक्ति जिन लोगों के साथ उठता बैठता है, जिनके साथ चलता फिरता है उनके द्वारा भी उसकी सामाजिक ज़िन्दगी नापी जाती है।" मैंने कहा, "कुछ लोग होली के दिनों में, सभ्यता की दहलीज को लांघ कर, भले लोगों के कपड़ों पर अबीर गुलाल मलने की बजाए ग़न्दगी के छींटे उलीच देते हैं तो क्या वे भले लोग त्याज्य हो जाते हैं? जब वे गन्दे कपड़े उतार कर उजले पहन कर निकलते हैं तो क्या हम इसीलिए उनसे मिलना बन्द कर देते हैं कि कल उन्होंने गन्दे कपड़े पहने थे? फिर कई बार यूं होता है डॉक्टर साहिब! कि हम अपने गन्दे कपड़ों की वजह से दूसरे लोगों से नहीं मिल पाते। मेरे केस में शायद दूसरी बात ही ठीक है। उजले कपड़े पहने तो सोचा, चलो बन्धु बान्धवों से चल कर मिल लूं।" डॉक्टर सन्ध्या बोली, "होली के दिनों में जब आदमी खूब भांग पी लेते हैं न तब उनके दिमाग़ चकरा जाते हैं। फिर उनमें साफ़ और मैला पहचानने की तमीज़ नहीं रह जाती। लेकिन मेरा दिमाग़ ठीक है क्योंकि मैंने आपकी तरह भांग नहीं छानी है। आप चाहेंगे भी तो मैं बदमाश और धूर्त लोगों से आपको मिलने नहीं दूंगी। आप क्या मेरी भी निन्दा करवाना चाहते हैं?" मैंने कहा, "मेरे, धूर्त लोगों से मिलने पर आपकी निन्दा क्यों होगी? लोग मुझी को तो भला बुरा

कहेंगे ? आप को बीच में क्यों घसीटने लगे ?" तुनकती हुई बोलीं, "भांग पीकर यह बात समझ में कहां आएगी ? आदर्शवाद का नशा उतरने पर सोचिएगा तो समझ पाइएगा।"

मैंने कहा, "आदर्शवाद का नशा क्या मुझसे छोड़ते बनेगा ? और फिर आदर्शवाद कहां है ? व्यक्ति का स्वभाव बन जाता है। जब हम दूसरे के स्वभाव को अपने स्वभाव से कुछ अलग सा पाते हैं तो उसे ही तरह तरह के नामों से पुकारने लगते हैं।" डॉक्टर सन्ध्या की आवाज़ अचानक भर आई। रुंधे स्वर में बोलीं, "एक बात पूछूंगी तो सच सच बताएंगे न ?" मैंने कहा, "पहले कभी, क्या मैं असत्य भाषण के अपराध में पकड़ा गया हूं जो आप ऐसा कहती हैं ?" बोलीं, "कुछ लोग होते हैं कि उनकी बात बहुत बड़े बड़े वकीलों तक की समझ में नहीं आती। अपने बयान में अर्ध विरामों और पूर्ण विरामों की ऐसी गुञ्जाइश रखते हैं कि एक एक बयान के दस दस अर्थ निकल आते हैं।" मैंने कहा, "आपकी बात का खण्डन करूंगा तो फिर आप नाराज़ हो जाएंगी। पूछिये क्या पूछना चाहती हैं ?" संयत होती हुई बोलीं, "यूं लगता है कि परमात्मा के भण्डार में एक बार दिल समाप्त हो गए थे। उसने कुछ लोगों को दिल की जगह भी दिमाग़ दे दिया था। तभी शायद कहीं आपका नम्बर आया था।" मैंने हंसते हुए कहा, "बेचारे भगवान को क्या पता था कि उसके बनाए बन्दे चोरी करने लगेंगे ? कुछ लोगों को दिल इतने पसन्द आए कि उन्होंने दिमाग़ की जगह भी दिल उठा लिए। दूसरों को वही दिमाग़ उठा कर सन्तोष करना पड़ा जिन्हें चोर अधिक बोझ के कारण उठा पाने में असमर्थ रहे थे।" बोलीं, "अगर आप धूर्त लोगों से फिर मेल जोल बढ़ाएंगे तो मैं आप से मिलना कतई बन्द कर दूंगी।" मैंने कहा, "यही उचित है। मैं आता हूं तो नाहक आप को दिमाग़ी परेशानी उठानी पड़ती है। निन्दा की बात भी

आप की ठीक ही है। अब इधर आना नहीं हो सकेगा।" डॉक्टर सन्ध्या का गला रुंध गया, बोलीं, "जाने से पहले मुझ पर अहसान करते जाइएगा। मेरा गला घोंट जाइये ताकि फिर कभी इधर आने की ज़रूरत न रहे।" मैंने उत्तर दिया, "आप किसी तरह भी नहीं मानतीं? अब बताइये, इसका उपाय क्या हो?" उसी स्वर में बोलीं, "व्यर्थ का बोझ बने लोगों को ही इतनी आसानी से छोड़ा जा सकता है, परम मित्रों को कहां छोड़ा जा सकता है? साफ़ क्यों नहीं कहते कि मेरे साथ बात करते भी आप की सांस घुटती रहती है।" मैंने मन के आवेग को रोकने का प्रयत्न करते हुए कहा, "डॉक्टर सन्ध्या! ज़ोर व्यक्ति अपनेआप पर ही कर सकता है। मित्र में फिर भी कहीं न कहीं अन्य का बोध रह जाता है अतः उसकी प्रतिष्ठा रखनी पड़ती है। अब चलता हूं फिर कभी अपने बन्धु मिलन की सफ़ाई पेश करूंगा।" कहते कहते मैं उठ खड़ा हुआ। दरवाज़े से निकलते हुए भी डॉक्टर सन्ध्या की सिसकियां सुनाई देती रहीं।

कह आया, "अपनेआप पर ही ज़ोर चलता है।" स्वयं को तो ठगता ही हूं अन्य को भी ठगता हूं। कहां मैं, कहां डॉक्टर सन्ध्या? मुझे साफ साफ कह देना चाहिये, "डॉक्टर सन्ध्या, आप भावुकता में बह कर न जाने क्या क्या सोचने लगती हैं? आप को ऐसी बातें नहीं सोचनी चाहियें, कभी नहीं सोचनी चाहियें।" परन्तु यह भावुकता मुझे भी कहां छोड़ती है? मैं भी तो अपने मन में न जाने क्या कुछ सोचा करता हूं? यदि किसी के पास मन पर अंकित होने वाले चित्रों को देख पाने की क्षमता हो तो वह घिनौना रूप दिखाता हुआ कहे, "यही है तुम्हारी आदर्शवादिता? उजलापना यही है, जिस सभ्यता संस्कृति का दम्भ करते हो वह यही है? तुम अपनी नसीम को महसूस करने के लिए किसी हंसती खेलती ज़िन्दगी को हमेशा के लिए दफना देना चाहते हो? ज़रा अनुमान तो लगाओ उन

तरंगों का, जब सन्ध्या यह जानेगी कि वह सन्ध्या बन कर एक दिन भी नहीं जी सकी, तो उस बेचारी के दिल पर क्या गुज़रेगी? जब वह जानेगी कि उसकी ज़िन्दगी को नसीम के भूत ने शुरु होने से पहले गला घोंट कर मार डाला है तो उस पर क्या बीतेगी?"

डॉक्टर सन्ध्या कह रही थी, "मुझे गला घोंट कर मार डालो!" मैं इससे अधिक कर भी क्या सकता हूं, इससे अधिक मैंने किया ही क्या है? मैं तो खुद भूत बन कर रह गया हूं तभी मुझे श्मशान में घूमना अच्छा लगता है। जलते मुर्दे देख देख कर मानसिक सन्तोष होता है। भूत तो केवल वर्तमान को अपने में निगलना जानता है, इसकी भूख तो अनन्त है। भूत, वर्तमान को छू भले ही ले, वर्तमान बन कर कैसे रह सकेगा? मुझे सन्ध्या से साफ कहना चाहिये, "सन्ध्या! तुम वर्तमान हो, मैं भूत हूं। तुम्हारा मेरा मेल.कहां सम्भव है? वर्तमान तो वर्तमान के साथ ही घुल मिल कर रह सकता है। वर्तमान, भूत के साथ मिलने की बात, अपनी सत्ता को, अस्तित्व को समाप्त करके ही सोच सकता है। मेरे स्पर्श मात्र से तुम भूत बन जाओगी। तुम मुझ से इतनी दूर चली जाओ कि ये भूत के साए तुम्हारे जीवन की लहलहाती फुलवारी पर कभी अपनी मनहूस छाया न डाल सकें। तुम जिसे मेरा आदर्शवाद कहती हो, वह तो भूत की अपनी सीमाएं हैं, विवशताएं हैं। इनके छलावे में आकर अपने जीवन को यूं नष्ट न करो। मेरा आदर्शवाद देखने में चित्ताकर्षक भले ही लगे लेकिन उन खून पीने वाले पौधों की तरह है जिनके फूलों से आकर्षित हो नन्हीं नन्हीं मधुमक्खियां उनमें बन्द हो अपनी जान गंवा बैठती हैं। तुमने अनायास ही ठीक बात कह दी है, मुझे अब कभी तुम्हारे घर की ओर ये काले साए लेकर नहीं आना चाहिए।"

न जाने किस आधार पर सन्ध्या से अपनेपन की बात कह बैठा? ये निराधार बातें हम आदर्शवादियों के अतिरिक्त और सोच भी कौन

सकता है ? उस दिन कितने चाव से बता रही थी, "पुराना रेडियो अच्छी आवाज़ नहीं देता था, यह नया आठ सौ में ख़रीद लिया है ? सचमुच बहुत अच्छी आवाज़ है इसकी।" कार लेने की बात कह रही थी। उस दिन नए पर्दों की तारीफ में न जाने क्या कुछ बताती रही ? जब भी सुनो किसी न किसी नई चीज़ के खरीदने की बात किया करती है। ऐसी सन्ध्या से मुझ पुराने का मेल कहां बैठ पाता है ?

भावना में बह कर न जाने क्या अनाप शनाप बक जाती है ? अगर वह पत्थर से ठोकर खा कर गिरना चाहती है तो क्या मैं भी स्वार्थी बना रहूं ? बेवकूफ़ से बेवकूफ़ आदमी भी राह में पड़े पत्थर को एक ओर कर देता है ताकि कोई भोला भाला राही ठोकर खा कर न गिर पड़े। मैं तो अपने आप को ज्ञानियों की पंक्ति में खड़ा करता हूं! ज्ञानी क्या दूसरों को ठोकर खाने का मौका देते हैं ? अवश्य ही, शीघ्र ही डॉक्टर सन्ध्या की राह का पत्थर उठा कर एक ओर फेंक दूंगा।

अजीब लड़की है, पता नहीं कैसे मुझ निराश्रित के साथ जीवन बिताने की कल्पना करती है ? एक दिन भी रूखा सूखा खाने को मिले, फटा पुराना पहनने को मिले और कड़वा तीखा सुनने को मिले तो अक्ल आ जाए दूसरे दिन ? मैं समझता हूं इस सन्ध्या से तो यह वन्दना ही लाख दर्जे अक्लमन्द है। कह रही थी, "नीरज बाबू ! डॉक्टर सन्ध्या मुझे पर्दे लेने के लिए कह रही थीं। अजीब मज़ाक करती हैं। मैंने नहीं लिए। मेरे क्वार्टर में वे शानदार पर्दे टांग भी दिए जाएं तो क्वार्टर ही शर्म से पानी पानी नहीं हो उठेगा क्या ?" यही तो डॉक्टर सन्ध्या चाहती है कि मेरी बदसूरत ज़िन्दगी के चारों ओर ये शानदार पर्दे लटका दिए जाएं। इन खूबसूरत पर्दों से मेरी बदसूरत ज़िन्दगी ढंकी कहां जाएगी ? और भयानक सूरत में उभर कर लोगों के सामने आएगी !

इस नरेन्द्र की अक्ल भी घास चरने गई है। कह रहा था, "आपने मुझे क्षमा कर दिया यही मेरे लिए बहुत है। नीरज साहिब, आप मेरे लिए किसी की, किसी की क्यों अपनी खुशियों को यूं न मसलिये।" जब भी बात करता है सहमते हुए, झिझकते हुए। मुझे तो यूं लगता है कि मेरी क्षमा में ही कहीं कोई त्रुटि रह गई है। मेरी क्षमा भी अहंकार के हाथी पर सवार हो कर नरेन्द्र तक पहुंची है तभी शायद वह इसी के बोझ से दबता जा रहा है! मुझमें क्षमा करने की शक्ति कहां है? मैंने नरेन को क्षमा कहां किया है? क्षमा का गठ्ठर उसके सिर पर जा पटका है, तभी वह घबरा सा गया है। बात करते करते कांप जाता है।

एक दिन झिझकते झिझकते रेणुका की बात शुरु कर बैठा। बात कहने को रेणुका की थी, अपने जीवन की कटुता की कथा के पन्ने पलटता रहा। अपने गृहस्थ जीवन की बातें, पत्नी की चरित्रहीनता की कहानी, भाई के कलंकित चरित्र की गाथा बगैर रुके अबाध गति से यूं कहता रहा मानों भारी बोझ से दबा राही, तेज़ क़दमों से चलता घर की ड्योढ़ी पर पहुंच कर कंधे का बोझ पटक दे।

कहने लगा, "मुझे तो यूं लगता है नीरज साहिब! कि रेणुका से भी मुझे प्यार नहीं मिल सका? हम दोनों ही स्वार्थी थे अतः एक दूसरे को खूब जी भर कर ठगते रहे। पिछली घटनाओं पर दृष्टि दौड़ाता हूं तो मुझे यूं लगता है कि रेणुका किसी दूसरे के पाप को मेरा सहारा लेकर छिपाना चाहती थी। मैं जानता हूं कि आप मेरी बात पर यकीन नहीं करेंगे, कोई भी समझदार इन्सान नहीं करेगा लेकिन मुझे अपने मन की बात अपनेआप को हलका करने के लिए ही कहने दीजिए। मैंने उसकी ग़ैर हाज़री में एक बार उसके सामान को उलट पलट कर देखा था। सन्दूक में से कुछ ऐसे ही ख़त निकले थे।

मेरे पूछने पर उसने अपनी कसम दिला कर उस बारे में कुछ भी पूछने से मेरा मुंह बन्द कर दिया था।"

उसी बहाव में कहता गया था, "बहुत दिनों से मैं आपसे यह बात कहना चाहता था लेकिन झिझक कर रह जाता था। फिर सोचा कि आप यकीन करें चाहे न करें कम से कम मेरे दिल का बोझ तो हलका हो ही सकेगा। रेणुका को अबॉर्शन के लिए मजबूर करने में, मैं मानता हूं कि मेरी खुदगर्ज़ी, बुज़दिली भी थी लेकिन कहीं गहराई में छिपा मन का सन्देह भी था। मेरे मन में बैठा कोई कहता था कि यह मेरा पाप नहीं है। अबॉर्शन से पहले रेणुका लगातार मुझ से शादी करने की ज़िद करती रही लेकिन उसके बाद मेरे लाख कहने पर भी उसने साफ इन्कार कर दिया। मेरे मन में कहीं बहुत गहरे में यह बात घर कर गई है कि रेणुका भी मुझे ठीक उसी तरह ठग रही थी, जैसे मैं उसे ठग रहा था। फिर सोचा कि शादी के बाद तो वही ठगी और अधिक पनपेगी। ठगी में से नेकी कहां प्रगट होगी? अच्छा हुआ, हम दोनों की ठगी का बर्तन बीच चौराहे में फूट गया।"

कहने लगा, "ऐसा विवाह भी छलना से अधिक कुछ न होता। यह ठीक है कि विवाह के बग़ैर प्रेम करना कानून की नज़रों में बहुत बड़ा जुर्म है लेकिन मैं पूछता हूं कि प्रेम के बग़ैर शादी रचाना भी इख़लाक़ से गिरी बात नहीं है क्या?"

मैं कुछ देर तक नरेन्द्र की बात का जबाब न दे सका। मन ही मन में सोचता रहा, "प्रेम और विवाह का रूप, युग के परिवर्तनों ने, समय के उलट फेर ने, इतिहास के मोड़ों ने, संस्कृति के उतार चढ़ावों ने सदियों के संस्कारों ने इतना सरल कहां रहने दिया है कि उस पर इस आसानी से बात हो सके?"

मैंने नरेन को अपनी ओर उत्सुक दृष्टि से निहारते देख, मौन भंग करते हुए कहा, "नरेन, तुमने यदि इस गम्भीर समस्या पर चर्चा चलाई ही है तो हमें साधारण लोगों की तरह, भावनाओं के बहाव में बह कर, निष्कर्ष निकालने में शीघ्रता नहीं करनी चाहिये। मैं सोचता था कि यह चर्चा तुम्हारी ओर से प्रारम्भ हो तभी ठीक है। वही सुअवसर आज हाथ लगा है।

नरेन हंसता हुआ बोला, "मुझे तो यूं लगता है कि शीघ्रता न करने की धुन में नीरज साहिब, आपने टालमटोल करना सीख लिया है। निष्कर्षों से दामन बचा कर गुज़र जाने की आप की आदत सी हो गई है। आप इन निष्कर्षों के चक्कर में उलझे उलझे बूढ़े हो जाइयेगा तब भी ये निष्कर्ष नहीं निकल पाएंगे। बात घुमा फिरा कर न कीजिए, सीधी और साफ बात सुनने की मेरी आदत है। ठीक उसी तरह जैसे एक दिन आपने मेरे लिए घर के दरवाज़े बन्द होने की बात कही थी। ऐसे में चुभने की तकलीफ़ भले ही बनी रहे लेकिन साथ ही स्पष्टवादिता का सन्तोष भी बना रहता है।"

मैंने कहा, "स्पष्टवादिता कब अस्पष्टवादिता बन जाती है इसका हमें आभास भी नहीं हो पाता। अब देखो, दरवाज़े बन्द होने की बात कहते समय मैंने क्या कभी समझा था कि यही दरवाज़े पुनः खुलने में बदल जाएगी ? मैं तो समझता हूं कि गलत निष्कर्ष निकाल कर दीवारों से सिर फोड़ फोड़ कर लहूलुहान होने की अपेक्षा, सही निष्कर्ष निकालते निकालते बूढ़े हो जाना कहीं बेहतर है।"

नरेन बोला, "आप मेरी सुनेंगे नहीं, यह मैं अच्छी तरह जानता हूं लेकिन फिर भी कहने की आदत से मजबूर हूं इस लिए कहने दीजिए। ये आपके निष्कर्ष निरी दिमाग़ी कलाबाजियों के ज़रिये नहीं निकलेंगे। आप दरिया के किनारे बैठ कर पानी की गहराई का अन्दाज़ा निस्बत के कायदे से लगाएंगे तो लोगों को डूबते देर नहीं लगेगी।

ज़िन्दगी में जिन लोगों ने सही निष्कर्ष निकाले हैं उन्होंने गहरे पानी में कूद कर, तूफ़ानी लहरों से उलझ कर ही ऐसा किया है। बग़ैर पानी में उतरे क्या आप ख़ाक तैरने की बात जान सकेंगे।"

मैंने कहा, "नरेन! किनारे बैठने की बात तो तभी समाप्त हो जाती है जब मनुष्य जन्म लेता है। हमारे तो शास्त्रों तक में इसी भवसागर को तरने की बात कही गई है। शरत बाबू ने भी संसार के महासमुद्र की बात 'शेष प्रश्न' में कही है। तैरना तो सब को पड़ता ही है, किनारे कोई भी नहीं बैठ पाता, पलायनवादी भी नहीं बैठ पाता। अन्तर केवल तैरने तैरने में है। कई व्यक्ति ख़ूब छींटे उलीच उलीच कर, ख़ूब हाथ पांव चला चला कर तैरते हैं तो कुछ मुर्दों की तरह उलटे पड़े तैरते रहते हैं।"

नरेन ने कहा, "पानी के बहाव के साथ बहते रहना ही, तैरना बनने के लिए काफी नहीं है। पानी के बहाव को चीरते हुए दूसरे किनारे पहुंच जाने को मैं तैरने में शामिल करता हूं।"

मैंने उत्तर दिया, "यह संसार दरिया नहीं है नरेन, कि इसके दूसरे किनारे यूं ही तैर कर लगा जा सके, यह तो महासमुद्र है। इस महासमुद्र में आस्था और विश्वास के, सिद्धान्तों और निष्कर्षों के जहाज़ पर चढ़ कर ही यात्रा करनी होती है। जो लोग टूटे फट्टों के सहारे तैरते हैं अथवा पानी के बहाव और मौसम को बग़ैर सोचे समझे, दिग्द्योतक यन्त्र और प्रकाश स्तम्भों की सहायता के बग़ैर अपने जहाज़ों को बढ़ाते हैं, उनके जहाज़ कभी ठीक बन्दरगाहों तक नहीं पहुंच पाते। ऐसे लोगों के जहाज़ तूफानों में घिर कर अथवा जलमग्न चट्टानों से टकरा कर चूर चूर हो जाते हैं। साहस आवश्यक है परन्तु ज्ञान के अभाव में साहस भटक जाता है, किनारों तक पहुंचने की कल्पना कहानी बन कर रह जाती है।"

नरेन्द्र को चुप देख कर मैंने पुनः कहा, "मुझे यूं लगता है कि यहीं कहीं तुम ग़लती कर बैठे हो। प्रेम और विवाह जहाज़ के टूटे फट्टे नहीं हैं अपितु इन निष्कर्षों और सिद्धान्तों के जहाज़ के महत्त्वपूर्ण कल पुर्ज़े हैं। इनके बिगड़ते ही जहाज़ डूबते देर नहीं लगती।"

नरेन्द्र मेरी ओर यूं देख रहा था मानों समुद्र की भयंकर लहरों में टूटे फट्टे के सहारे तैरता आदमी, कहीं और छोर दिखाई न देने पर बुरी तरह हांफ रहा हो, भय और निराशा ने उसकी सामर्थ्य छीन कर उसे कहीं का न रहने दिया हो।

बोला, "आप अपनी बात कहिये। मैं इन दिनों ज़ेहनी कशमकश में बुरी तरह उलझ गया हूं। जहां तक मेरी स्मरणशक्ति साथ देती है मानसिक शांति गंवाए मुझे एक अरसा हो गया है। आपके पास इसी उम्मीद के सहारे चला आता हूं कि दिल को कुछ सकून मिल सकेगा।"

मैंने 'धर्म और समाज' का हवाला देते हुए कहा, "एक विवाह मानव स्वभाव नहीं अपितु सांस्कृतिक स्थिति है। प्रेम केवल ज्वाला से ज्वाला का मिलन नहीं है, आत्मा को आत्मा की पुकार है। प्रेम उच्चतम भावनाओं की प्रेरणा के कारण एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के प्रति आकर्षण है। विवाह प्रकृति द्वारा बनाए प्राणिशास्त्रीय नियमों और मनुष्यों द्वारा निर्धारित सामाजिक क़ायदे क़ानूनों के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने की प्रक्रिया है।"

नरेन कुछ देर चुपचाप बैठा रहा। उसके चेहरे पर व्यथा तथा व्यग्रता के, असन्तुलन और विक्षिप्तावस्था के उतार चढ़ाव आते रहे। एक लम्बी सांस भर, उठता हुआ बोला, "छुट्टी दीजिए नीरज साहिब, अब चलता हूं। मेरी तो ज़िन्दगी का सब हिसाब किताब गड़बड़ा गया है। आपकी बातें मुझे सकून नहीं देतीं, जलाती हैं, कचोटती हैं।

मैं तो दीपक राग गाने में ही उलझा रहा, शायद मेघ मल्हार गाने की फुरसत मेरी ज़िन्दगी में नहीं है। मैं दलीलें पेश करके आपको क़ायल नहीं कर सकता लेकिन मेरा दिल कहता है, ये सब शास्त्र और सिद्धान्त महज़ दिखावा है, कोरी बकवास है, पाखण्ड और मक्कारी है। ऑल रबिश—ऑल नॉनसैंस।" मेरी सुने बग़ैर उठ कर चला गया।

कभी कभी तो मुझे भी नरेन्द्र की बातों पर यक़ीन सा आने लगता है। कहीं हम अनजाने, अनचाहे ही इन नियमों और सिद्धान्तों की भूल भुलैया में फंस कर चकरा तो नहीं जाते? कहीं, पाखण्ड और धूर्तता के जाल में हमें बहेलिये फंसाते तो नहीं रहते?

डॉक्टर सन्ध्या से, राह का पत्थर न बनने की बात साफ साफ कह आया। अवश्य मुझे पाखण्डी समझती होगी। रुंधी आवाज़ में कह रही थी, "एक बार फिर सोच लीजिये? कहीं ऐसा न हो, यह हटाना ही रखना बन जाए? मेरी ठोकर की छोड़िये, अपनी सोचिये। अगर इस अद्भुत हटाने से ही ठोकर खा कर गिर पड़ी तो मुझे जीते जी कहां उठा पाइएगा?"

मैंने गुरुजनों के बनाए सिद्धान्तों का प्रश्रय लेते हुए कहा, "आप जब सोचती हैं दिल से सोचती हैं। दिमाग़ से भी कभी काम लिया कीजिये। क्यों अपनी ज़िन्दगी को नरक बनाना चाहती हैं?"

संयत होने का प्रयत्न करती हुई बोली, "आप ही तो कहते हैं कि मैं दिमाग़ की जगह भी दिल उठा लाई हूं। सचमुच नीरज बाबू, भगवान की बहुत कृपा है कि उसने हम औरतों को दिमाग़ की जगह भी दिल ही दे दिया है। जब से आप लोगों ने अपने दिमाग़ों से हमारे दिलों को चमकाना शुरू किया है तभी से हम औरतों की दुःख गाथा प्रारम्भ हुई है।"

मैंने कहा, "आप भावना में बहे बग़ैर यथार्थ को देखें परखेंगी तो

उन्हीं निष्कर्षों पर पहुंचेंगी जिन पर मैं पहुंचा हूं। डॉक्टर साहिब ! कहां आप और कहां मैं ? आपके जीवन से मेरे जीवन का कहीं भी तो मेल नहीं बैठ पाता ? पश्चिम और पूर्व क्या आपस में आज तक मिले हैं ? जो आज तक नहीं मिले वह अब कैसे मिलेंगे ? समझ से काम लीजिए।"

उन्हें चुप देख मैंने कहा, "महाभारत जैसे महाकाव्य में भी महर्षि व्यास ने 'ययोरेव समं वित्तं—ययोरेव समं बलम्' की नीति सुझाई है। वे लोग मूर्ख नहीं थे जो ऐसी नीति सुझा गए हैं। उन प्रकाण्ड पण्डितों ने, महाज्ञानियों और मनस्वियों ने समाज के नीति नियम बनाने से पहले बहुत छान बीन की थी। हम यदि उद्दाम भावनाओं के बहाव में बह कर उन नीति शास्त्रों की अवहेलना करेंगे तो ठोकर खा कर गिरने के अतिरिक्त अन्य किसी भी सुख की प्राप्ति न हो सकेगी ?"

डॉक्टर सन्ध्या कांपती हुई आवाज़ में बोलीं, "आप जा सकते हैं नीरज बाबू ! ये नीति शास्त्र सुनने की मुझे इस समय फ़ुरसत नहीं है। मेरा दिमाग़ इन अनमोल मणि मुक्ताओं को सहेजने के लिए बहुत छोटा पड़ेगा। अगर कभी ऐसी आवश्यकता हुई तो आपको बुला भेजूंगी। जानती हूं कि आप बुलाने पर इस नीति प्रचार का लोभ संवरण नहीं कर पाएंगे।" कहते कहते डॉक्टर सन्ध्या अन्दर के कमरे में उठ कर चली गईं। मैं भी बैठ नहीं पाया, उठ कर चला आया। फिर बहुत दिनों तक उधर जाना नहीं हो सका।

समझ में नहीं आता कि यह जीवन क्या है ? ज्यों ज्यों इन गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं, ये और अधिक उलझती जाती हैं। समाज शास्त्रियों ने प्रेम विहीन विवाह को अनैतिक और विवाह विहीन प्रेम को अवैध कहा है। होगी ! उस समय जीवन की गति इतनी सरल और सपाट होगी कि ऐसे नियम बनाए जा सकें। आज के मानव जीवन में ये कायदे कानून फिट नहीं बैठते। समाज

शास्त्रियों ने आज के जीवन को देख परख कर यदि नियम बनाने हों सिद्धान्त गढ़ने हों तो कोरे कागज़ छोड़ कर भाग खड़े हों, अन्धेरी गुफाओं में पहुंच मूर्छित होकर गिर पड़े।

सारे मामले का दो टूक फैसला करने के बाद सोचा था कि डॉक्टर सन्ध्या के मन का आवेग कुछ दिनों में स्वतः शान्त हो जाएगा। कुछ देर के लिए वह प्रेत लोक में भटक गई थी, भ्रमजाल के, रहस्यमयता के समाप्त होते ही पुनः मानव लोक में पहुंच जाएगी। उसके जीवन की राहें जो बीहड़ जंगल में भटक गई हैं पुनः राजमार्ग से जा मिलेंगी। परन्तु ऐसा कहां हुआ? उस दिन सिनेमा हाल की बालकनी से उतर रही थीं तो अचानक भेंट हो गई। नमस्ते का प्रत्युत्तर देते हुए उन्होंने जिस दृष्टि से देखा उसे भूल पाना कहां सम्भव है? यूं लगा मानों 'शरत् बाबू' की 'पारो', 'देवदास' का मृत्यु समाचार सुन कर पगला गई हो।

श्मशान की ड्योढ़ी लांघ कर जहां जलाने से पहले मुर्दा रखते हैं उसी बरामदे में दो एक भित्ति चित्र बने हैं। एक चित्र व्यंग्यात्मक रूप में नए पुराने का कम्पैरिज़न कन्ट्रास्ट है। भित्ती चित्र के आधे भाग में श्रवणकुमार अन्धे माता पिता की बहंगी उठाए चला जा रहा है, दूसरे भाग में सूटिड बूटिड नवदम्पत्ति एक बग्घी में बैठे हैं। बग्घी को जीवन के चौथेपन में पहुंचे रोगी और निर्बल माता पिता खींच रहे हैं।

मुर्दे को तख्ते पर रखते समय दारुण शोक से धुले नेत्रों वाले सगे सम्बन्धी इस भित्ती चित्र को देखते हैं। कलाकार की गहरी सूझ बूझ के बारे में दुःख भरी आवाज़ में बातें करते हैं। प्रत्येक अपने अन्तर में झांक कर देखता है कि वह अपने जीवन में बहंगी उठाए है अथवा बग्घी में बैठा है? उस भित्ती चित्र को देख किसी की आंखों में भय कांप जाता है, किसी की आंखें छलछला आती हैं।

मैं क्योंकि अब इसी मरघट का वासी हो गया हूं अतः स्थितप्रज्ञ बन कर इस या उस भित्ती चित्र की मीमांसा किया करता हूं। मरघट के निवासी पगला जाते हैं अतः मैं भी पगला गया हूं। इन भित्ती चित्रों को देख देख कर मुझे हंसी आया करती है और अपने विशेष दृष्टिकोण से इन व्यंग-चित्र को परखा करता हूं। कई बार जी चाहता है कि यदि कलाकार मिले तो उससे कहूं, "मेरी राय मानिए! यह चित्र अधूरा मत छोड़िये इसे पूरा कर दीजिए। आप महान कलाकार हैं अतः शरीर का चित्र खींचना ही पर्याप्त नहीं है, मन का भी चित्र खेंचिये। इसे चार भागों में विभक्त कर दीजिए तभी व्यंग यथार्थवादी बनेगा, अधिक निखरेगा। दो खानों में तो यही जैसे का तैसा रहने दीजिए। दूसरे दो हिस्सों में इसका उलट दिखाइये। एक में पुराने श्रवण कुमार पालकी में बैठे हैं जिसे अन्धे माता पिता कन्धों पर उठाए हुए हैं, दूसरे में आधुनिक माता पिता बग्घी में भारी भरकम सन्दूक रख बैठे हैं और सूटिड बूटिड दम्पति पसीने में नहाए हांफते हुए उस बग्घी को खींच रहे हैं।"

जानता हूं कलाकार को मेरे पागलपन पर तरस आ जाएगा। वह कलाकार होने के नाते मुझ पर अपनी दृष्टि की दया बरसाता हुआ कहेगा, 'अच्छा!' और इस निष्प्रयोजन 'अच्छा' को फेंक पुनः अपने नए चित्रों में उलझ जाएगा। वह कौनसा मुझ जैसा स्थितप्रज्ञ है? होता, तो मेरी बात को गम्भीरता पूर्वक सुनता, मनन करता और तब क्रियाशील होता। मुझे भी चैन नहीं है अतः जब मरघट के मुर्दे मेरी बात नहीं सुन पाते तो अपनेआप को सुनाने लगता हूं।

जो मैं समझता हूं, चित्र का सही रूप वही है। मैं चित्र में पैठी आत्मा को देखता हूं तभी ऐसा कहता हूं। फिर, जब से अजन्ता एलोरा की गुफाओं के भित्ती चित्रों को, पाषाण प्रतिमाओं को जिनमें मन और आत्मा तक झलक उठे हैं, देख कर, परख कर, सोच समझ कर लौटा

हूं तब से उन चित्रों में मुझे आनन्द नहीं आता जिनमें केवल व्यक्ति के बाह्य का चित्रण हो, अन्तर का चित्रण न हो।

श्मशान का भित्ती चित्र बनाने वाले कलाकार को भले ही मेरी राय खोखली लगे परन्तु जो मैं समझता हूं यथार्थ शायद वही है। यह भी हो सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति का भिन्न दृष्टिकोण हो, भिन्न यथार्थ हो परन्तु मैं तो अपने दृष्टिकोण की बात जानता हूं अतः अपने यथार्थ की ही बात कहता हूं। सचमुच ये मटिड बूटिड नए लोग भारी भरकम बग्घियां खींचते हैं, खींचते खींचते बेचारे हांफने लगते हैं, कमज़ोर लोग हांफते हांफते लड़खड़ा जाते हैं, दम तोड़ देते हैं।

हमारे माता पिता सदियों के संस्कारों का, शताब्दियों की मान्यताओं का, सहस्राब्दियों की परम्पराओं का बोझ हम पर अनजाने ही लादते चले जाते हैं। अचानक जब हमारे सिर पर इन संस्कारों, मान्यताओं और परम्पराओं से ठसाठस भरा भारी भरकम बन्द सन्दूक लाद दिया जाता है तो हमें बोझ से दबे होने के कारण इतनी फ़ुरसत भी नहीं मिलती कि इस सन्दूक के ज़ंग लगे ताले को खोल लें, तोड़ दें, सन्दूक में से बेहूदा और गला सड़ा सामान निकाल फेंकें, उसे कुछ हल्का कर लें, उसमें नया और काम आने वाला कीमती सामान संजोने की गुञ्जाइश निकाल लें। बताइये हम इन जंगाल लगे बन्द सन्दूकों से भरी; भारी बग्घियों को; जिनको हमारे माता पिता हिफाज़त से संभाले बैठे रहते हैं, खींचते हैं या नहीं?

अगर नरेन जैसे, रेणुका जैसे या डॉक्टर सन्ध्या जैसे लोग सन्दूक का ताला तोड़ बेहूदा सामान फेंकने की कोशिश करते हैं तो उन्हें ठग, लुटेरे, चोर, डाकू, नाना नामों से अलंकृत करके क़ायदे कानूनों के, नैतिकताओं और संविधानों के सींखचों के पीछे बन्द कर दिया जाता है।

सन्ध्या अपनी सहेली स्नेहप्रभा के प्रेम सम्बन्धी दुःखान्त नाटक के यवनिका-पतन की बात कह रही थी। स्नेह प्रभा अभी कमअक्ल है अतः झूठी आशा की ऐनकें पहने कंटीले बाड़े की कल्पना करती है। यह बाड़ा कहां है ? यह तो बन्दीगृह है, जिसकी मोटी सलाखों के पीछे निरपराधी बन्दी आजीवन कारावास का दण्ड भोगते हुए, गलता रहता है, सड़ता रहता है, जलता रहता है, मरघट की राख की तरह खुले आकाश में उड़ता रहता है।

सचमुच मरघट की राख की तरह उड़ने की स्वच्छन्दता हमें प्राप्त है। मैं भी इसी राख की तरह उड़ रहा हूं। विवाह विहीन प्रेम अवैध था अतः समाजशास्त्रियों की नेक राय मानते हुए उसे त्याग दिया, प्रेम विहीन विवाह दार्शनिकों के कथनानुसार अनैतिक था और मेरा प्रेम क्योंकि नसीम और सन्ध्या के बीच की खाई में कहीं डूब गया था अतः ऐसे विवाह को भी दिल से निकाल दिया। चलो अच्छा हुआ, पढ़ी गुनी शिक्षाएं काम आ गईं, नरेन्द्र और रेणुका की तरह ठोकर खाकर गिरा नहीं।

परन्तु गिरा तो बुरी तरह हूं, न गिरने का तो दम्भ मात्र किया है। प्रेम डूब गया, विवाह की कामना त्याग दी फिर भी क्या है जो छोड़ते नहीं बनता ? यह 'क्या' अपने आप में महत्त्वहीन होते हुए भी कितना शक्तिशाली है, कितना सामर्थ्यवान है ? ऐसी क्षमता है इस 'क्या' की कि जिसे एक बार जकड़ लेता है, वह फिर इसकी जकड़ से नहीं निकल पाता, जीवन की अन्तिम श्वास तक नहीं छूट पाता !

यह सन्ध्या, सन्तप्त मरुस्थल की इस अन्त हीन यात्रा में, बदली की तरह न जाने कहां से छा आई है ? इसकी छाया नहीं है, छाया का भ्रम भले ही हो। जानता हूं कि मरुस्थल के तपे आसमान की बदली इधर उधर उड़ती भले ही फिरे परन्तु कभी नहीं बरसेगी। फिर भी

इसकी ओर से आंखें हटाए नहीं हटतीं, लगातार इसकी ओर देखे जा रहा हूं, चलता जा रहा हूं।

किसी को मन से निकाल पाना व्यक्ति की सामर्थ्य से बाहर है। जो बग़ैर पूछे, अपना घर समझते हुए बेझिझक मन तक चला आया है वह तो घर समझ कर ही मन में ठहरता है, निकाले नहीं निकलता। हम कहते हैं, "बहुत सुस्ता लिए, अब चलते नज़र आओ।" तो पलट कर उत्तर मिलता है, "तुम कौन हो मुझे मेरे घर से निकालने वाले? ज़रा होश से बात करो।" उसकी ऐसी बातें सुन कर हम सहम जाते हैं, बोल नहीं पाते। 'डिवाइना कॉमेडिया' जैसे महाकाव्य का रचयिता 'दान्ते' बेचारा यदि अन्त समय तक 'बियेट्रिस' को दिल से नहीं निकाल सका तो नीरज बेचारे की सामर्थ्य कहां कि सन्ध्या को दिल से निकाल बाहर करे?

तभी तो कहता हूं कि इन नीति शास्त्रों के रचयिता महानीतिज्ञों ने, नियम बनाने वाले स्मृतिकारों ने हम जैसे लोग देखे ही कहां थे? वे बेचारे कहां से देख पाते, हम तो इस नये दौर की, नये माहौल की पैदावार हैं न? यदि देख पाते तो बेचारे हमारे लिए अलग 'कोड' लिख जाते। हम जैसे भी हैं, अच्छे-बुरे, धूर्त-साधु, खरे-खोटे अपने आप में नए हैं, इसी में हमें सन्तोष है, गर्व है। हम आधुनिक स्मृतिकारों के लिए, नैतिक मानदण्ड स्थापित करने वाले समाजशास्त्रियों के लिए नये प्रश्न चिह्न बन कर खड़े हैं। वे आएं, इन प्रश्नों को समझें और इनका उत्तर दें। हम जैसों को सलाखों के पीछे बन्द करना, प्रश्नों से बचना है अपनी खोखली योग्यता का प्रदर्शन करना है। और फिर इन सलाखों में इतनी शक्ति कहां है कि हमें कैद कर छोड़ें? हम तो अपनापन लिए मरघट की राख बन कर उड़ते हैं, हवाओं में घुल मिल जाते हैं, बादलों में घुल मिल कर बरसते हैं, ज़मीन पर एक एक के हज़ार हज़ार, लाख लाख बन कर उगते हैं, ज्यों ज्यों

हम कटते हैं त्यों त्यों हम बढ़ते हैं। हम से आप आंखें न चुराइये, हमें विशाल हृदय से देखिये परखिये, हमारी ज़िन्दगियों के आइनों में अपना चेहरा देखिए, अपनी ग़लतियां दुरुस्त कीजिए ताकि हम वैसे न रहें, जैसा आपने हमें तपा तपा कर, सुलगा सुलगा कर, घुला घुला कर, जला जला कर बना डाला है।

हैदराबाद कान्फ्रेंस से लौट रहा था। लुधियाना स्टेशन पर वन्दना मिल गई। मिल कहां गई? उसी ने स्टेशन की रेल पेल में मुझे पहचान लिया। बोली, "यहीं ठहरिये न आज?" मैंने कहा, "यहां कहां?" बोली, "होश्यारपुर से मेरा ट्रान्सफर हो गया है?" मैंने कहा, रुकने को जी तो बहुत चाहता है लेकिन रुकूंगा नहीं क्योंकि छुट्टी ख़तम है। और तुम जानो, छुट्टी का और नौकरी का बहुत गहरा रिश्ता है। फिर नौकरी और पेट का रिश्ता उससे भी कहीं अधिक गहरा है।" हंसती हुई बोली, 'अच्छा, फिर कभी इधर आइये तो दो चार फालतू छुट्टियां लेकर आइयेगा। और हां! इस नौकरी और पेट के चक्कर में फंस कर कहीं असली रिश्ते की बात मत भूल जाइयेगा?" मैंने पूछा, "कौन से रिश्ते की बात कहती हो?" हंसती हुई बोली, "डाक्टर साहिब आजकल जालन्धर आ गए हैं। उन्हें मिलना मत भूलियेगा। मिलेंगे न?" मैंने कहा, "वक्त मिलने पर डिपैन्ड करता है। कोशिश करूंगा।" अचानक इंजन की सीटी सुन कर और गार्ड की झंडी फरफराती देख कर अपने कम्पार्टमैंट की तरफ लपका। लपकते लपकते क्षण भर रुका, वन्दना का हाथ थपथपाते हुए बोला, "अपनी खोज खबर का ख़त ज़रूर लिखा करो। किसी चीज़ की ज़रूरत पड़े तो मुझे अवश्य पता देना।"

यह मन भी ऐसा है कि जिधर से मोड़ो, उधर ही भागता है। इस मन से कहा, "व्यर्थ ज़िद मत करो, डॉक्टर सन्ध्या से मिलने के चक्कर में पड़े तो ड्यूटी से पिछड़ जाओगे।" मचलता हुआ बोला, "अगर

मैंने प्रोटैस्ट कर दिया तो ड्यूटी धरी धराई रह जाएगी। मेरी कही मान लो, चुपचाप चीं चां किए बग़ैर जालन्धर स्टेशन पर उतर पड़ो।" मेरा बस न चला, मैंने मन का कहा मानने में ही कल्याण समझा।

जालन्धर में डॉक्टर सन्ध्या से मिला तो ड्यूटी से फारिग होने को थीं। मुझे देखा तो यूं चौंकीं मानों कोई मुर्दा देख लिया हो। नमस्ते करने की, कुर्सी की ओर इशारा करते हुए अपनी आदत के अनुसार बैठने को कहने की सुध भी उन्हें न रही। बस फटी फटी आंखों से मेरी ओर देखती रहीं। मैंने खुद ही कुर्सी सरका कर बैठते हुए कहा, "कहिये कैसी हैं?" मेज़ पर पड़े रजिस्टर को बन्द करती हुई बोलीं, "जैसी आप को दिखाई देती हूँ, वैसी ही समझ लीजिये।" मैंने कहा, "अजन्ता, एलोरा की गुफाएं देख कर लौटा हूँ अतः मन पर वही नशा सवार है। मुझे तो आप अजन्ता की किसी मनमोहक पेन्टिंग में खड़ी सी दिखाई दे रही हैं।" मेरी ओर निर्निमेष नेत्रों से देखती हुई, मेज़ पर पड़े स्टैथस्कोप को उंगलियों से छूती हुई बोलीं, "चित्र देखने में एक लाभ रहता है। आप मन चाहे दृष्टिकोण से उसे देख कर आनन्द प्राप्त कर लेते हैं। चित्र बेचारा आपसे कोई गिला शिकवा नहीं कर पाता। बेजान जो ठहरा? मन की कह बैठेगा, ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता।" मैंने कहा, "आप उन पेन्टिंग्ज़ को देख कर यह बात नहीं कह सकतीं। वे चित्र तो सदियों पहले की तरह आज भी उसी तरह बोलते हैं, आपसे मन की बातें कहते हैं। उनकी तो आत्मा तक उनमें झांकती आप देख सकती हैं।" बुझी सी हंसी हंसती हुई बोलीं, "आप उनकी कही को ग़लत समझ कर ग़लत कहते रहें तब भी उनमें शिकायत करने की सामर्थ्य कहां होती है?" पुनः बोलीं, "आज इधर ही ठहरेंगे न?" मैंने उत्तर दिया, 'ठहरना नहीं हो सकेगा।" कुछ देर मेरी ओर अजीब सी नज़रों से देखती रहीं, गहरी सांस लेती हुई बोलीं, "अजन्ता की गुफाओं को भी तो आप देख कर ही चले आए

होंगे, वहां भी ठहरे तो होंगे नहीं। यहां नहीं ठहर सके तो यहां भी क्यों कर ठहर सकेंगे ?" फिर बोली, "आप तो ठीक से हैं न ?" मैंने मुस्कराते हुए कहा, "अच्छा खासा पहलवान बनता जा रहा हूँ। देख नहीं रही हैं आप, पहले से कितने पाउण्ड वज़न बढ़ गया है ? जिस्म हल्का करने को कोई दवा तजवीज़ कीजिए।" डॉक्टर सन्ध्या बोल नहीं सकीं, उनकी पलकें भीग गईं।

ऐसी ही बातचीत चलती रही। मैंने पूछा, "जीवन में क्या यूं ही स्थिरता बनी रहेगी ?" बोलीं, "स्थिरता कहां है ? दौड़ तो रही हूँ। कल होशयारपुर थी, आज जालन्धर आ गई हूँ, और परसों तरसों इंग्लैण्ड जाने की सोच रही हूँ।" मैंने कहा, "दौड़ कर भी आप कहां दौड़ पाती हैं, एक ही धुरी पर चक्कर खाए जा रही हैं।" अजीब सी ग़म में डूबी हंसी हंसते हुए बोलीं, "क्या सिर्फ मुझ से झगड़ने के लिए ही यहां तक चले आए थे ?" मैंने कहा, "झगड़ता कहां हूँ ? आप बात टालती हैं तो यही सुझाता हूँ कि टालना समस्या का समाधान नहीं है।" बोलीं, "कहिये क्या कहना चाहते हैं ?" मैंने कहा, "डॉक्टर संध्या ! अपने जीवन को यूं ही न टालिये, कोई अच्छा सा वर ढूंढ़ कर शादी कर डालिये।" यूं बोलीं मानो किसी गहरी खाई में से कोई बोल रहा हो, "नीरज बाबू ! अब उम्र ही कितनी रह गई है ? पैंतीस छत्तीस साल यूं ही कट गए, अब रह ही क्या गया है, और भी दो चार साल कटते क्या देर लगेगी ? फिर मज़े से अन्तिम शादी रचाने की प्रतीक्षा करूंगी।" कहते कहते जिन आंखों से डॉक्टर सन्ध्या ने मुझे देखा, उसकी उपमा मेरे पास नहीं है। मन ने यही अनुभव किया कि उन आंखों में मीलों दूर तक रेगिस्तान फैलते चले गये हैं, तपते हुए, दहकते हुए सांय सांय करते हुए। मुझे लगा कि मैं उन दहकते रेगिस्तानों में राह भटक गया हूँ, प्यास के मारे मेरा गला सूखा जा रहा है, मेरे तलवे

जले जा रहे हैं, पता नहीं कौन से पल थक हार कर गिर पड़ूं, रेगिस्तानी गिद्ध मेरी लाश को नोचने लगें ?

अचानक मैंने अनुभव किया कि हमें इसी तरह चुप चाप बैठे वर्षों बीत गए हैं। उस खामोशी को मैंने ही भंग किया, "डॉक्टर सन्ध्या, इन्सानी ज़िन्दगी बरसों के पैमाने से नहीं नापी जा सकती। न जाने आप जीवन में इतनी निराशावादी क्यों बन गई हैं ? जीवन में कुछ पल, कुछ दिन ऐसे आ जाते हैं कि लम्बे लम्बे वर्ष भी उनके सामने छोटे पड़ जाते हैं। आप को जीवन के प्रति यूं निराश नहीं होना चाहिये।"

डॉक्टर सन्ध्या, कहीं दूर देखती हुई बोलीं, "निराश कहां होती हूं ? दिन रात ही तो रोगियों की देख भाल में लगी रहती हूं। रही विशेष पलों और दिनों की बात सो वैसी भाग्यशालिनी मैं नहीं हूं।" मैंने कहा, "जीवन भर अविवाहित रहने का निर्णय कर लिया है क्या ?" बुझी सी आवाज़ में बोलीं, "भाग्य की लिखाई इतनी स्पष्ट कहां होती है कि उसे आसानी से पढ़ा जा सके ? मैं तो पढ़ पढ़ कर हार चली, मुझ से यह लिखत नहीं पढ़ी जाती। तंग आकर मैंने तो इसे पढ़ना ही छोड़ दिया है।" पुनः अपने आप को धोखा देने का प्रयत्न करती हुई बोलीं, "क्या नीरस सी बातें ले बैठते हैं आप भी ? कोई और भली सी बात कीजिए न ? इन मनहूस बातों के लिए मैं ही क्या कम हूं ? आप को इन झंझटों में फंसता देखती हूं तो मन अधिक दुखी होता है। मुझे मेरे हाल पर रहने दीजिए।" मैंने कहा, "इससे अधिक करने की मुझ में शायद सामर्थ्य भी नहीं है। फिर भी अपने को हलका करने के लिए ही कुछ कहना चाहता हूं, वही कहने दीजिए। अपने जीवन में दम्भ की शिक्षा ग्रहण करने का सुअवसर मुझे कभी नहीं मिला। न ही कोई योग्य शिक्षक मिला अतः अनगढ़ सी बातें ही कहता हूं। व्यक्ति, सौन्दर्य को निहार, गुणों को परख, उनके

प्रति आकर्षित न हों यह असम्भव है। लोग आपको क्या समझते हैं मैं नहीं जानना चाहता। अपनी बात कहूं तो सौन्दर्य और गुणों के मैंने आप में पूर्ण रूपेण दर्शन किए हैं। परन्तु यह भी भुला नहीं पाता कि सुन्दरता और गुणों को स्वार्थ के लिए मलिन कर देना, मिटा डालना शैतानियत के सिवाय कुछ भी नहीं है।"

कुछ रुक कर मैंने कहा, "मुझे आज मन की बात कहने दीजिए, फिर शायद यही बात मन में घुट कर रह जाए। नसीम की प्रतिभा और सौन्दर्य की प्रशंसा करते समय मैंने सूर्यकान्त मणि की उपमा दे डाली थी। उसी सूर्यकान्त मणि की तरह आप भी दिपदिपा रही हैं। इस सूर्यकान्त मणि को सहेज पाने की क्षमता मुझ कंगले में नहीं है, अपने घर में इसे रखने की बात तो मैं सोच भी नहीं सकता। केवल एक वायदा आप से लेना चाहता हूं। मेरी प्रार्थना है कि आपके जीवन में कभी कष्ट के क्षण न आएं परन्तु कभी आ पड़ें तो मुझे अवश्य याद कीजिएगा। नहीं करेंगी तो मुझे बहुत दुःख होगा।"

डॉक्टर सन्ध्या दीर्घ निश्वास छोड़ती हुई बोलीं, "आप जैसे महापुरुषों की प्रार्थनाओं को टालने की शक्ति तो ईश्वर में भी नहीं है अतः मेरे जीवन में कष्ट रह ही कहां सकेंगे?" फिर किसी भयंकर आग में जलती हुई बोलीं, "पैंतीस बरस यूं ही हंसते खेलते गुज़र गए हैं, पांच दस और यूं ही हंसते खेलते गुज़र जाएंगे!" कहते कहते डॉक्टर सन्ध्या की आंखों में फिर वही दहकते असीम रेगिस्तान भांय भांय कर सुलग उठे। मैं ठहर नहीं सका, नमस्ते तक नहीं कर सका, डॉक्टर सन्ध्या के निर्जीव से हाथ को अपने बेजान हाथों में दबा कर चला आया।

श्मशान में जाकर बैठ जाता हूं तो सोचता हूं कि किस्मत ने जलाना ही है तो इन धधकती चिताओं की तरह क्यों नहीं जलाती? तिल तिल करके जलाने में इसे क्या मज़ा आता है? मैं बहुत कृपण

हूं तभी दुःख मुझे जलाता है। उस गुमनाम सेठ की तरह सब कुछ झाड़ कर निश्चिन्त हो कर बैठ जाने से दुःख क्या लेने आएगा मेरे पास ? सुख को देख कर ही तो यह उसका सगा दौड़ा आता है ! क्यों रखूं इस सुख को अपने पास ? परन्तु उस धनपति सेठ जैसा विशाल हृदय कहां है मुझमें ? उसने तो जीवन की एक एक पाई इसी मरघट पर लगा दी मुझसे तो ये फूटी कौड़ियां तक छोड़ते नहीं बनता। जो कुछ आज तक संजोया है संचित किया है उसी को त्यागते नहीं बनता। ज्यों ज्यों अन्तर में बैठा कोई त्यागने की सलाह देता है त्यों त्यों स्वार्थी और लोभी बन कर गांठों पर गांठें दिए जाता हूं। बड़ा बनने की साध मेरी कहां मिटी है ? यह तो और बढ़ती जा रही है। डॉक्टर सन्ध्या और नरेन के कहने पर भी यह आदर्शवाद की अतुल सम्पत्ति मुझसे कहां त्यागते बनती है ?

नरेन मुझसे लाख दर्जे खुशकिस्मत है। जो सोचता है, करता है। कुछ संचित नहीं करता अतः नींद भी उसे अच्छी आती है। बड़ा बनने की साध उसकी नहीं है। इन कड़वी मीठी स्मृतियों की दौलत सहेजने की फुरसत उसके पास नहीं है। मैंने ही अपने अस्वस्थ विचार उसके दिमाग़ में भर दिए हैं तभी शायद बेचारे का दिमाग़ चकरा गया है। मिलेगा तो कहूंगा, "मैंने तुम्हें कूड़े कर्कट के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिया। यह कूड़ा कर्कट ही उजले आवरणों में लपेट कर तुम्हें ठग लिया है। फेंक दो इस व्यर्थ के भार को। मेरे पास आस्था और निष्ठा की मणियां कहां हैं ? बस कांच के टुकड़े हैं, फेंक दो इन कांच के टुकड़ों को। नहीं फेंकोगे तो जीवन भर मेरी तरह भटकते रहोगे, दहकते रहोगे।

अच्छा हुआ ! ये कांच के टुकड़े कहीं डॉक्टर सन्ध्या की झोली में डाल बैठता तो बेचारी ठगी जाती। पैंतीस साल की होने को आई लेकिन पांच साल की बच्ची से बड़ी नहीं बनी। अभी तक कांच और

मणि मुक्ताओं में अन्तर नहीं जान पाई। इसे तो जब चाहे कोई झूठे मोती, सुच्चे मोती कह कर ठग ले!

क्या गर्व से कह आया, "मैं दम्भी नहीं हूं।" दम्भ, छल-कपट, धोखे और मक्कारी के सिवा मेरे पास है ही क्या? वही तो जी खोल कर मैंने इस सरल हृदया बालिका को दिया है। कहता हूं कांच के टुकड़े नहीं दिए, यही तो उसकी झोली में भर आया हूं!

अब मिलूंगा तो साफ साफ कह दूंगा, "डॉक्टर साहिब! आप जिन्हें सुच्चे मोती समझ कर सहेज रही हैं वे तो कांच के टुकड़े हैं, इन्हें फेंक दीजिए। मेरे पास झूठे मोतियों के सिवाय था ही क्या जो मैं आपको दे पाता? मुझसे अपराध हुआ, क्षमा कीजिये। मैं अपराधी हूं परन्तु आप तो क्षमा की देवी हैं। रेणुका जैसी पापी आपके स्पर्श से तर गई है, मेरे लिए भी क्षमा का वर दीजिए।"

ऐसा स्वार्थी हूं कि मांगने के अतिरिक्त कुछ भी तो नहीं सीखा। श्मशान में बैठ कर भी मांगने की, संचित करने की ही सोचता हूं? पाप की, छल कपट की गठरी बांधी है तो बदले में जलन, तपन, घुटन ही तो मिलती? जो कुछ संचित किया है उसी के अनुरूप मिला भी है। अच्छा हुआ सन्ध्या इस श्मशान में धू धू करती ज्वाला के निकट नहीं आई। कहीं उसे इस चिता की लपटें छू जातीं तो अबोध बालिका जल जल कर राख हो जाती!

● ● ●

★ नरेन्द्र

आज तक 'किंग लियर' के 'ऐडमंड' को ही आदर्श मान कर जीवन की दौड़ दौड़ता रहा हूं। इसीलिए तो 'ऐडमंड' के से अक्षय सुख मुझ पर बरस रहे हैं? जब कभी नीरज ने 'ऐडगर' बनने की सलाह दी है मैंने उसे सिरफिरा और बेवक़ूफ़ कह कर उसकी हंसी उड़ाई है। जब कभी उसने अन्तिम परिणामों की ओर संकेत किया है मैंने उन्हें सार हीन समझा है। मैंने सोचा था कि सौ दिन सुख के जी कर एक दिन दुःख उठा लेना क्या कठिन है? उस समय क्या ख़बर थी कि वही एक दिन सौ दिनों पर भारी बैठता है। अपने स्थान पर ध्रुव तारे सा अचल अटल वही है। उसी के चारों ओर ये सैंकड़ों हज़ारों दिन परिक्रमा करते रहते हैं। हमारे अनजाने अनचाहे ही वही एक दिन सैंकड़ों हज़ारों दिनों को मात दे बैठता है। उसकी एक नज़र के स्पर्श से पलक झपकते ही हज़ारों दिनों के सुख; दारुण व्यथा, असहनीय कष्ट, भयंकर पीड़ा बन जाते हैं। यह एक दिन ऐसा है कि जब हज़ारों दिनों की ओर आंख उठा कर देखता है तो उन हज़ार दिनों की आंखें शर्म से भय से झुक जाती हैं। उसके तेज, उसकी मर्यादा, महानता, अजेयता की ताब झेलते नहीं बनती। वह सिंह सा जब गरजता है तो हज़ारों दिन भय से कांप जाते हैं, बिलों में कन्दराओं में, झाड़ियों और टहनियों में जा दुबकते हैं। वही एक दिन जब प्रलय बन कर बरसता है तब ये अनन्त सुखों के चन्दोबे और छतरियां गले कागज़ बन कर रह जाती हैं। सोचा था जब मज़बूत छतरी पास है तब वर्षा का भय कैसा? अब यह आंधी तूफान, ओले और मूसलाधार झड़ी जान निकाले दे रहे हैं तो कोई भी तो छतरी या छत काम नहीं आती!

'एडमंड' की तरह राज्य लोलुप, सुखाकांक्षी, महत्त्वाकांक्षी बन कर जीवन जीने के सपने देखे थे। उन सपनों की तावीर 'गोनरिल' और 'रीगन' के सिवा हो भी क्या सकती थी? इन्हीं 'गोनरिल' और 'रीगन' के चक्कर में फंस कर मैंने अपने आप को समाप्त कर डाला है, समाप्त करता जा रहा हूँ। आज, जब कि 'गोनरिल' और 'रीगन' की लाशें सामने पड़ी हैं और वही 'एक दिन' अपनी तलवार लिए सिर पर खड़ा है तो ख्याल आता है कि काश नीरज का कहा मान कर 'एडगर' की भी ज़िन्दगी जीने का मौका मिल पाता!

नीरज की बातें सुन सुन कर मेरा तो दिमाग़ फटने लगता है। मुझे तो यूं लगता है कि ये बातें नहीं हैं बल्कि सनसनाते कोड़े मेरी पीठ पर बरस रहे हैं, भारी भारी हथौड़े मेरे दिमाग़ को चूर चूर किए दे रहे हैं, आग में तपे लाल लाल चिमटों से मेरी बोटी बोटी नोची जा रही है। उस असहनीय व्यथा को झेल नहीं पाता तो चीख़ने लगता हूं, जान बचा कर भाग खड़ा होता हूं। नीरज मेरी ओर जब भी करुणा-मयी दृष्टि से देखता है तो मुझे यूं लगता है मानों कोई तीखा बरमा मेरे कलेजे में गहरा उतरता जा रहा हो। मेरे घावों पर मरहम रखने का प्रयत्न करता है तो महसूस होता है कि जैसे कोई बढ़ई तेज़ बसूले से शरीर को छील रहा हो।

रेणुका ने कहा था, "तुमने नीरज बाबू के क्रोध को देखा है, क्षमा तो मुझ पापिन के हिस्से में आई है। किसी दिन उस क्षमा के पात्र बनोगे तो उसकी अनन्त शक्ति को जान पाओगे?"

आज मुझे वही क्षमा मिल गई है अतः मैं इसकी सामर्थ्य को भली प्रकार अनुभव कर रहा हूं। यह क्षमा जल जैसी ताप नाशक, निर्मल करने वाली कहां है? यह तो तेज़ाब जैसी दाहक है, सब कुछ जला डालने वाली है। इतनी बुरी तरह तो मैं 'विश्वासघात' और 'मित्रद्रोह'

की आग में भी नहीं जला, जिस बुरी तरह इस 'क्षमा' की आग में जल रहा हूं।

इस क्षमा ने तो मुझे बुरी तरह अपने भार से दबा डाला है। जैसा भी था, लड़खड़ाता सा चला जा रहा था परन्तु इसने तो वह शक्ति भी नहीं रहने दी। ये ऊपर से ठण्डे लगने वाले शब्द भीतर में अंगारों की तरह दहकते हैं, इन्हें छूते ही व्यक्ति बुरी तरह जल जाता है।

रेणु के पाप की बात कही तो बोला, "प्रेम का रूप, युग के परिवर्तनों ने, समय के उलटफेर ने, इतिहास के मोड़ों ने, संस्कृति के उतार चढ़ावों ने, सदियों के संस्कारों ने इतना सरल ही कहां रहने दिया है कि उस पर इस आसानी से बात की जा सके?"

मुझे यूं लगा, मानों कह रहा हो, "ऐडगर" का दिल तो 'ऐडगर' बन कर ही समझा जा सकता है। 'ऐडमंड' बन कर 'ऐडगर' के दिल को समझने की कोशिश न करो।" जी चाहा कि उसके मुंह पर तड़ाक फड़ाक चांटे जड़ दूं और कहूं, 'ये कोरे आदर्शवाद की बातें अपने पास रखो, मुझे यथार्थ की नज़रों से इस दुनियां को देखने परखने दो। मैं तुम जैसा गधा नहीं हूं कि दुनिया भर के पोथों को पीठ पर लाद कर चलता रहूं? जब तुम्हारी तरह गधा बनने की धुन सवार होगी तो तुम्हारी नसीहत पर अमल कर देखूंगा, फिलहाल तो मुझे इन्सान बनने से ही फुरसत नहीं है। ज़िन्दगी में आदर्शों का बोझ ढोने के लिए तुम जैसे गधे बहुत हैं, मुझे लोहे को सोना कह कर खुद को ठगने की आदत नहीं है।"

लेकिन कुछ भी न कह सका। किसी के गाल पर चांटे जड़ने की बात तो दूर, इस बोझ ने तो मुझमें हाथ हिलाने तक की शक्ति नहीं छोड़ी है। बस पैरेलिसिस का मरीज़ बन कर रह गया हूं। दिल में उठी प्रचण्ड लहरें, मुंह तक आते आते समुद्र तट की झाग बन कर रह जाती हैं।

इस से तो 'विश्वासघात' और 'मित्र द्रोह' के फ़तवे ही भले थे। कम से कम उनका भीतर बाहर एक तो था ? यह 'क्षमा' तो ऐसी है कि बाहर से कुछ भीतर से कुछ ? राख में दबी चिनगारी सी है यह नीरज की क्षमा। 'ऐडगर' बन पाता तो शायद असीम कष्ट और व्यथाएं ही मेरे लिए अनन्त सुख, अपरिसीम आनन्द बन जातीं ? नीरज तभी तो कहा करता है "दारुण दुःख में से होती हुई ही सुख तक राह चली गई है।" यदि यही सत्य है तो फिर नीरज को क्यों सुख नहीं मिल पाया ? मैं 'ऐडमंड' सही लेकिन वह तो 'ऐडगर' है ? उसे किस अगाध सुख की प्राप्ति हुई है ? बोलता है तो यूं महसूस होता है मानों चक्रव्यूह में उलझा अभिमन्यु, महारथियों से जूझते जूझते हार चला हो ! अपने मन की पीड़ा को ही आदर्शवाद के झिलमिलाते आवरण में लपेट कर उसे मुग्ध कहता नहीं अघाता। लोहे को सोना कह कह कर ही खुद को छलता रहता है। दम्भी वह भी है दम्भी मैं भी हूं। महामूर्ख है ! व्यक्ति दम्भ का प्रश्रय लेकर अन्य को ठगे इस में कुछ सार भी है, अपने आप को ठगने में भला क्या तुक है ? उसे लोहे को सोना कह कर संतोष भले ही होता हो, मुझे तो यह सरासर आत्मवंचना प्रतीत होती है। जो है ही लोहा, उसे मैं सोना कैसे मान लूं ? यदि मुझे आत्मदाह मिला है तब भी कोई चिन्ता नहीं। मेरा यह आत्मदाह कम से कम यथार्थ की ठोस धरती पर तो खड़ा है, कल्पना के आकाश में तो नहीं उड़ रहा ?

मैं समझता हूं कि मेरा यह आत्मदाह ही मुझे किसी दिन सही मंज़िलों तक पहुंचाएगा, जब कि नीरज की आदर्शवादी आवरण में लिपटी आत्मवंचना उसे अन्तिम श्वास तक जलाती रहेगी। नीरज सुख की मरीचिका में भले ही भटक ले, सुख नहीं पा सकेगा। मुझे घबराना नहीं चाहिये। सारी स्थिति का विश्लेषण करना ही ठीक होगा। इसी आत्मदाह में शायद कहीं कुछ ऐसा भी हो जिसकी रोशनी

में, मेरी राहों का सारा अंधियारा ही मिट जाए। मैं आदर्शवाद का लबादा कभी नहीं ओढ़ूंगा। हक़ीक़त की नज़रों से एक एक घटना की तह तक पहुँचूंगा ताकि मेरी समझ निखर सके। नीरज लाख धिक्कारे, मुझे अपने 'ऐडमंड' होने पर ही गर्व है क्योंकि 'ऐडगर' कोरा आदर्श है जब कि 'ऐडमंड' यथार्थ है। यथार्थ कितना ही कटु क्यों न हो परन्तु सत्य वही है अतः वही ग्राह्य है। नीरज की ऊल जलूल बातों के चक्कर में आकर शायद मैं अपने आत्मदाह का केवल एक पक्ष देखना ही सीख गया हूं, यही कारण है कि मैंने अपने आपको अकिंचन और अधम न जाने क्या क्या समझना शुरू कर दिया है? आज से नीरज की तरफ कभी नहीं जाऊंगा। उसकी 'क्षमा' मात्र छलना है, उससे बचा जाए, इसी में कल्याण है। आज मैं अपने जीवन का सही सही विश्लेषण करूंगा।

रेणुका से मैंने उन खतों की हक़ीक़त जाननी चाही थी जो उसे मुझ जैसे ही किसी पापी ने लिखे थे। शायद उसी के लिए रेणु के मन में मुहब्बत थी। मुझे तो वह सिर्फ अपने बचाव के लिए इस्तेमाल करना चाहती थी। स्कूल से लौटी तो मुझे कमरे में बैठा देख कर अचानक चौंक गई थी। आते ही मेरी चारपाई पर बैठने लगी तो मैंने पूछा, "यह प्रवीण साहिब कौन हैं, जो तुम्हें लम्बे लम्बे मुहब्बत के पैग़ाम भेजा करते हैं?" यह सुनते ही रेणुका के चेहरे पर भय की छाया नाच उठी। संभल कर मेरे कन्धे पर अपना सिर रख कर, मेरे हाथ को अपने हाथ में लेती हुई बोली, "वहम का कोई इलाज नहीं। ज़रूर किसी ने मेरी मुहब्बत से जल कर तुम्हें उल्टी सीधी पट्टी पढ़ा दी है। कहो तो पक्के कागज़ पर लिख दूं कि मैंने सिवाय तुम्हारे किसी से मुहब्बत नहीं की?" रेणुका का यह कपट व्यवहार देख कर मेरा मन उसके प्रति घृणा से भर उठा। मेरा रोम रोम सुलग उठा। मैंने उसे परे हटाते हुए कहा, "अगर प्रवीण साहिब खुद

आकर तुम्हारे मुंह पर अपनी मुहब्बत की बात कह दें तब तो तुम्हें शायद हकीक़त को मानना ही पड़ेगा ?" रेणु के गुलाबी चेहरे पर कालिमा पुत गई। आंखों में सन्देह नाच उठा। फिर भी अजीब अदा से बोली, "कहीं आज तुम फिर पी कर तो नहीं आए हो ? क्या बे सिर पैर की बातें किये जा रहे हो ? मैं क्या ऐसी ही कमीनी हूं कि तुम्हें धोखा देती रहूं ? मैं क्या बाज़ारी औरत हूं कि हर किसी से मुहब्बत का नाटक करती रहूं ? तुमने मुझे समझ क्या रखा है ?" मैंने नफरत से उसकी ओर देखते हुए कहा, "समझा कहां था, अब ही तो समझने का मौका मिला है। शराब के नशे में धुत हो कर ही तो मैं तुम्हारे नाटक को हक़ीक़त समझता रहा। घबराओ नहीं रेणु, आज मैं नशे में नहीं हूं आज तुम्हारा नाटक नहीं चलेगा।" मेरी आंखों में जलती घृणा की लपटों से सहमती हुई बोली, "ज़रूर आपको किसी ने बहुत कुछ ग़लत शलत कह दिया है। आप साफ साफ क्यों नहीं कहते ? आखिर आप कहना क्या चाहते हैं ?" मैंने गुस्से में आकर उसके मुंह पर एक चांटा जड़ते हुए कहा, "कहने की बच्ची ! कहना मैं नहीं चाहता, कहना तो प्रवीण साहिब चाहते हैं। मैं इस काबिल कहां हूं कि तुम जैसी नेक-दिल और नेक-चलन औरत से कुछ कह सकूं ?" कहते कहते मैंने जेब से प्रवीण के ख़त निकाल कर उसके आगे पटक दिये। गुस्से में उबलते हुए मैंने कहा, "इन मुहब्बत के पैग़ामों के आगे मुझ में इतनी हिम्मत कहां कि कुछ अर्ज़ कर सकूं ? मुझ जैसा शराबी कबाबी, धोखेबाज़ और मक्कार एक नेक-दिल और नेक-चलन औरत के सामने बोलने की जुर्रत कर ही कैसे सकता है ? ये नेक-दिली और नेक-चलनी के सर्टिफिकेट्स संभाल कर रखिये, न जाने इनकी कहां कहां ज़रूरत पड़ेगी ?" रेणु का सिर से पांव तक कांप गई। डर से सहमती कांपती बोली, इन्हें इस तरह चोरी से देखने की क्या ज़रूरत थी नरेन ? मैं तो

सभी कुछ तुमसे खुद ही कह देती। चाहती थी कि कहने से पहले तुम इस योग्य बन जाओ कि मेरे कहे को समझ सको। यही कारण था कि आज तक चाहती हुई भी कह न सकी।" बोलते बोलते रेणुका की आवाज़ रुंध गई, "मैं तुमसे क्षमा प्रार्थना नहीं करूंगी नरेन! अपराध किया ही नहीं तो क्षमा क्यों मांगूं? मैंने अपने आत्म सम्मान का गला नहीं घोंटा है। तुम जो चाहे समझ सकते हो क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को हमारे समाज में स्वतन्त्र चिन्तन का सुअवसर प्राप्त है।" मुझे गुस्से से अपनी ओर घूरते देख पुनः बोली, "इस सन्देह के स्पर्श मात्र से मंगल कामना को अपराध, पाप, कलंक और भी न जाने क्या क्या बनते विलम्ब नहीं होता। तुमने मेरे सन्दूक की तलाशी लेकर जो कुछ खोज निकाला है, गंवाया उससे कहीं अधिक है। बदचलन हूं न? इसीलिए तुम्हारी इस हानि को देख कर मुझे दुःख होता है।" मैं अपनी आवाज़ में नफ़रत का तेज़ ज़हर घोलते हुए बोला, "ये खूबसूरत अदाएं दिखा कर मुझे अभी और ठगना चाहती हो? काफी बेवकूफ बन चुका हूं। तुम समझती हो कि इस घिनौने रूप को देख कर भी मैं तुम्हारे मायाजाल में उलझा रहूंगा?" संयत होती हुई बोली, "ठगे तो तुम उसी समय गए थे जब तुमने मुझ पर सन्देह किया था। मायाजाल में तो तुम उसी समय उलझ गए थे जब मेरी अनुपस्थिति में मेरे सन्दूक की तलाशी लेने का विचार तुम्हारे मन में उठा था। मेरी चरित्रहीनता के जब प्रत्यक्ष प्रमाणपत्र मौजूद हैं तो मैं मुहब्बत का दावा भी नहीं करना चाहती। फिर भी क्योंकि तुम्हारे अहसानों के, तुम्हारी कृपाओं के बोझ से लदी हूं अतः चाहती हूं कि तुम मयाजाल से बच निकलो। जो कुछ तुम अपनी नासमझी के कारण ठगा बैठे हो वह तुम्हें फिर मिल सके।"

मैंने नफरत में सनी आवाज़ में फिर कहा, "रेणु! मैं दूध पीता

बच्चा नहीं हूं जो तुम मुझे अपनी मीठी मीठी बातों में उलझा सको। जब हक़ीक़त से पर्दा उठ ही चुका है तो यूं बनने की कोशिश मत करो। मेरा कहा मानो, इस हक़ीक़त को तसलीम करके मुझे और अपने आप को इस दोज़ख़ की आग से बचा लो। यह मत भूलो कि मैंने आंखें खोल कर दुनिया को देखा परखा है। मुझे तो उसी दिन शक गुज़रा था जब मैंने पत्थर की सिल की तरह ठण्डे तुम्हारे ओंठों को चूमा था। मैं नादान नहीं हूं कि मुझे लौटाने की आड़ में तुम मेरी रही सही पूंजी भी लूट लो? मुझे मायाजाल से छुड़ाने की आड़ में तुम मुझे अपने फरेबों के जाल में उलझा कर मार सको, इतनी होशियार अभी नहीं बनी हो। अपने प्रवीण से कहना कि वह कुछ दिन तुम्हें बक़ाया तालीम देने में सर्फ़ करे?"

रेणु बोली, "तुम्हारी आशंका निर्मूल है। अब ऐसा कुछ भी तो शेष नहीं रह गया है जिसे मैं स्वार्थिन ठग सकूं? तुम्हें लुटे पिटे देख कर मेरा तो मन भर आता है। ठगे तो तुम उसी दिन गए थे जब सन्देह की अतुल सम्पत्ति छोर से बांध कर प्रणय का व्यापार करने चले थे। मैं अपनी ओर से कुछ नहीं कहती, जानती हूं कि मुझ पापिन और कलंकिनी के शब्दों में कपटजाल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। तुम्हारे मित्र नीरज की पुस्तक में से पढ़ी बात ही दोहरा रही हूं। उन्होंने एक स्थल पर लिखा है—प्रेम क्रय विक्रय नहीं है, प्रेम तो आत्म समर्पण है। सन्देह, स्वार्थ, अविश्वास, और मलिन वासना के धन से जब हम प्रेम का सौदा करने निकलते हैं तभी प्रेम के बदले घृणा, कटुता, निराशा और आत्मदाह लिए लौटते हैं।—नरेन! क्या तुम इसी सन्देह की पूंजी लेकर प्रेम पाने के लिए निकले थे? अपने उन्हीं मित्र से जाकर पूछना, शायद तुम्हें नेक राय दे सकें।"

मैं चीख़ उठा, "ख़बरदार रेणु! अगर फिर तुमने अपनी इस मैली ज़ुबान से मेरे दोस्त का नाम लिया तो मुझसे बुरा कोई न

होगा । उस नेक-दिल इन्सान का नाम ज़ुबान पर लाने से पहले अपनी औक़ात मत भूला करो ! तुम जैसी बदचलन, पापिन और तिरिया चरित्रों की जीति जागती ज़हरीली नागिन को कोई हक़ नहीं कि मेरे दोस्त का नाम ज़ुबान पर भी लाए। तुम्हारी तो आवाज़ तक में ज़हर है। न जाने कब, कौन इस ज़हर के असर से अपनी जान से हाथ धो बैठे !"

रेणु कुछ भी बोल नहीं सकी। कई मिनट अपने आप में खोई कुछ सोचती रही। मैं अपने हृदय की समस्त घृणा अपने नेत्रों से उस पर उंडेलता रहा। कब्रिस्तान की सी खामोशी को तोड़ती हुई बोली, "नरेन ! हम औरतें जीवन भर प्रेम, दया, क्षमा, सहनशीलता, सहिष्णुता, त्याग और बलिदान के अतिरिक्त कुछ भी तो नहीं संजो पातीं ! तुम लोग हम पर कृपा दृष्टि करते हुए जब अपने अक्षय वरदानों से हमारी झोली घृणा, छल, कपट, चरित्रहीनता, कटुता और तिरिया-चरित्रों से भर देते हो तो तुम्हारी कृपाओं से कृतकृत्य होकर हमसे वह सब कुछ भी फेंकते नहीं बनता। उसी को संजोने में हम ऐसी तल्लीन होती हैं कि हमारी जीवन भर की संचित सम्पदा अनजाने ही धूल में मिल जाती है।"

मैंने कहा, "इस फ़िज़ूल की लैक्चरबाज़ी का जादू प्रवीण पर चलाना। मुझे साफ साफ बताओ कि उसका नाम तुम्हारे चाहने वालों की मंज़ूरशुदा फहरिस्त में कब से है ?" रेणुका रुंधी आवाज़ में बोली थी, "मैं चरित्रभ्रष्टा ही सही नरेन, लेकिन फिर भी तुम्हारी प्रेम पात्र तो रही ही हूं। तुम्हें मेरी कसम यह सब कुछ मुझसे अभी मत पूछो। तुम इस समय यह सब कुछ समझ सकने की मानसिक स्थिति में नहीं हो। किसी दिन मैं तुम्हें सब कुछ बता दूंगी, कुछ भी नहीं छिपाऊंगी। तुम्हें मेरी कसम है नरेन, आज कुछ मत पूछो। कहीं ऐसा न हो कि मेरी सचाई तुम्हारे सन्देह को छूकर जन्म भर की दारुण व्यथा बन जाए, दावानल बन कर भड़क उठे।"

मैंने गुस्से से दांत पीसते हुए कहा था, "तेरे जैसी बदचलन औरत की कसम की भी मुझे कद्र है। सारी ज़िन्दगी में फरेब खाने के सिवाय मैंने और कुछ किया ही क्या है? जहां हज़ारों हैं; वहां यह भी एक और सही। आज से समझ लेना कि तेरे लिए नरेन हमेशा के लिए मर गया।" कहते कहते मैं दरवाज़े में खड़ी रेणुका को एक ओर धकेल उस नरक द्वार से निकल भागा था!

सचमुच रेणुका उसी दिन से मेरे लिए मर गई थी। मरी कहां थी? 'गोनरिल' की तरह उसने अपने पापों के चमचमाते छुरे को अपने ही छल कपट के हाथों, अपने प्रेम के कलेजे में भोंक दिया था। अच्छा हुआ रेणु मेरी दुनिया से चली गई। उस प्रेम की लाश को कंधों पर उठाए फिरना कहां की अक्लमन्दी थी? सोचता था जाते समय मुझे पता ठिकाना बता कर क्यों नहीं गई? लाशें भी क्या कभी मुंह से कुछ बोलती हैं? अच्छा हुआ इस प्रेम की लाश को अपने ही हाथों इस महासमुद्र में बहा आया! अब सोचने से क्या लाभ?

वह तो कभी की इस संसार के महासमुद्र के गहरे पानी में रहने वाले मगरमच्छों और घड़ियालों के पेट में पहुँच चुकी होगी?

और यह मनोरमा ही कौनसी जीवित है? मां उस दिन कह रही थी, "बेटा! तू महीनों घर से कहां गायब रहा करता है? क्या इसी तरह घर बसेगा? लच्छो बेचारी तेरी बाट जोहती जोहती थक जाती है। उसकी ज़िन्दगी क्यों खराब करता है? इस से तो बेहतर है कि लच्छो को इसके मायके छोड़ आ। मुझ से नहीं देखा जाता इस बेचारी का दुख।"

घर तो जीवित प्राणियों से बसता है। मुर्दे भी क्या कभी घर बसाया करते हैं? मां बेचारी को क्या खबर कि मनोरमा तो कब की 'रीगन' की तरह धोखे का ज़हर पीकर मर चुकी है। न जाने कब से

यह लाश मेरे घर के सेहन में पड़ी है। कभी किसी हवा के झोंके से अचानक इसके माथे पर लटें उड़ने लगती हैं, या आंचल सरक जाता है तो मां बेचारी को उसी में जीवन के लक्षण दिखाई दे जाते हैं। मैं तो मां की तरह विक्षिप्त नहीं हूं, शोकाच्छन्न नहीं हूं। मैं मृत को जीवित कैसे मान लूं? मां कह रही थी, 'लच्छो को मायके छोड़ आ।' लाश को कहीं भी उठा कर रख दो उसमें कुछ फर्क नहीं पड़ता! सोमेन को अगर इसी लाश से मुहब्बत हो गई है तो मैं उसके सुख को क्यों नष्ट करूं? अगर वह मरीचिका में ही वास्तविकता का सा आनन्द प्राप्त करने की कला सीख गया है तो मैं उसे ऐसे आनन्द से वंचित क्यों करूं?

यह भी क्या खबर कि सोमेन की कठिन साधना से मृत ही पुनः जीवित हो उठा हो। भक्त की निष्ठा का स्पर्श पाकर तो विष भी अमृत बन जाता है? उस अमृत के प्रभाव से मृत ही जीवित हो जाए तो आश्चर्य नहीं। असुरों ने कितना छल किया, कितने रूप धरे फिर भी अमृत कहां हाथ आया? सोमेन देवता है, यदि उसे अमृत प्राप्त हुआ है तो मुझे दुःख क्यों हो? मैं तो जीवन भर असुरों की सी छल नीति में उलझा रहा, मुझे अमृत कहां से प्राप्त होता? यह मुझे क्या होता जा रहा है? क्यों मैं राहू की तरह सोमेन्द्र के सुख को ग्रस रहा हूँ? मुझे इस घर में अब कदम भी नहीं रखना चाहिये। घर तो सोमेन्द्र का है, मैं इस घर का क्या लगता हूँ? जितनी जल्दी हो सका मैं अपनी राहू जैसी काली छाया को लेकर, इस घर से बहुत दूर चला जाऊंगा, फिर कभी लौट कर इधर नहीं आऊंगा।

अपराध और अनैतिकता के अतिरिक्त जीवन में कुछ भी तो हाथ नहीं लगा! रेणुका से प्रेम किया बग़ैर विवाह के अतः वह अपराध हो उठा। मनोरमा से विवाह किया बग़ैर प्रेम के अतः वह अनैतिक हो उठा। महापुरुषों और समाज शास्त्रियों द्वारा निर्धारित नीति का

अनुसरण न करने का यही दुष्परिणाम तो निकलता ? नैतिकता और न्याय का अनुसरण तो सोमेन्द्र ने किया है, फिर मुझे उससे ईर्षा क्यों होती है ? सोमेन और मनोरमा को विवाह के पवित्र बन्धन में बंध जाना चाहिये, यह बात क्यों नहीं मैं गला फाड़ फाड़ कर लोगों से कहता ?

नीरज कहा करता है, "स्वार्थ और अज्ञान ही घृणा और ईर्षा को जन्म देते हैं ।"

यह तो ठोस हकीक़त है, इसमें आदर्शवाद कहां है ? यह मेरी क्या आदत बनती जा रही है ? अपने अज्ञान के कारण नीरज के अटल यथार्थ की भी, आदर्श कह कर हंसी उड़ाने लगता हूँ । मैं कहां हंसी उड़ा पाता हूँ ? यह यथार्थ ही मेरी बेवकूफी की हंसी उड़ाया करता है ।

यदि मनोरमा और सोमेन एक दूसरे से प्रेम करते हैं तो इसमें बुरा क्या है ? जहां पवित्र प्रेम है वहां विवाह होना ही चाहिये । मुझे यह स्पष्ट स्थिति मान लेने में हिचक क्यों होती है ? मैं ग़लत समझता हूँ, रेणुका 'गोनरिल' सही लेकिन मनोरमा 'रीग़न' नहीं है । मैं अपनी दूषित दृष्टि के कारण ही शायद 'कॉर्डेलिया' को 'रीग़न' समझ बैठा हूँ । 'एडमंड' बन कर मैं ही अपने स्वार्थ के कारण 'कॉर्डेलिया' और 'ड्यूक आफ फ्रांस' के पवित्र प्रेम को मौत के घाट उतारने का प्रयत्न कर रहा हूँ ।

मैं व्यर्थ ही नीरज की क्षमा को दोष देता हूँ । मेरे मन की मरुभूमि में ही नीरज की क्षमा और दया का नन्हा सा स्रोत सूख कर रह जाता है । वह मेरी आंखों से पट्टी खोलने का प्रयत्न करता है तो मैं अपने स्वार्थ में अंधा हुआ, स्वार्थ को ही यथार्थ समझ कर अपने परम मित्र की योग्यता को आदर्श कह कर उसका मज़ाक उड़ाने लगता हूँ । मैं अब ऐसा नहीं करुंगा, इस 'एडमंड' के भूत को अपने में से मार

भगाऊंगा ताकि सोमेन और मनोरमा के जीवन नाटक का अन्त 'कॉर्डेलिया' और 'ड्यूक आफ फ्रांस' जैसा न हो। मैं तो अज्ञान के कारण अंधा हो गया था। आज से नीरज की आंखों से यथार्थ को समझने परखने का प्रयत्न करूंगा।

उस दिन अपनी अज्ञानता के कारण, कितनी बड़ी भूल कर बैठा? स्वार्थ और घृणा में बहक कर कैसे कैसे कठोर शब्द अपने क्षमाशील, दयालु मित्र को कह बैठा? यह नीरज को क्या हो गया है? मैं उसे अपमानित करता हूं तो सह क्यों जाता है, कठोर प्रत्युत्तर क्यों नहीं देता?

उस दिन बहस चल निकली तो बोला, "मुझे तो यूं लगता है नरेन कि तुम जैसे महाज्ञानियों के हाथ में यह 'मार्क्सवाद' आ गया है तभी इसकी खूब पूजा हो रही है। जिधर देखो लोग जय जयकार कर रहे हैं।"

मैं क्रोध में भरा घर से लौटा था। घृणा मेरे रोम रोम से फूट रही थी। मैंने अपनी आंखों से मनोरमा और सोमेन को एक दूसरे की बांहों में बंधे देखा था। मैं समझ नहीं पा रहा था कि मनोरमा के दो रूप क्यों हैं? मेरी ही पत्नी मेरे पास आ कर मर क्यों जाती है? वही सोमेन के छूते ही जी कैसे उठती है? मेरे दिल और दिमाग़ में अजीब कशमकश चल रही थी। मैंने कहा, "पूजा, हमारे मार्क्स-वाद की कहां हो रही है, तुम्हारे गांधीवाद की हो रही है। इस देश के लोग केवल मरे लोगों की ही जय जयकार करना जानते हैं, ज़िन्दा लोगों को तो ज़हर पिलाने की, गोलियों से भूनने की ही तुम्हारी आदत है। तुम्हारा गांधीवाद मर चुका है अतः पूजित है, हमारा मार्क्सवाद क्योंकि अभी ज़िन्दा है अतः इसकी खूब पिटाई हो रही है।"

नीरज हंसता हुआ बोला, "भई, इस मार्क्सवाद की जायदाद को यूं ही हड़प न करो। हमारा हिस्सा हमें भी ले लेने दो। देखो, हम अपने गांधीवाद में से तुम्हें जी खोल कर दे रहे हैं कि नहीं? फिर तुम तो समानता के समर्थक हो, तुम्हें यह बन्दर बांट शोभा नहीं देती।"

मैंने कहा, "तुमने अपना कूड़ा कर्कट दूसरों की झोली में डाल कर उनकी जेबों से हीरे जवाहिरात निकालने के सिवाय सीखा ही क्या है? तुम्हें तो दूर से ही सलाम करना चाहिये। तुमसे तो बात करने में भी भय लगता है। इस श्वेत खादी के नीचे तुम लोगों ने बहुत काले दिल छिपाए हुए हैं। मेरे बड़े भाई साहिब भी आजकल सफेद टोपी पहनने लगे हैं तभी उनकी फराख़दिली बढ़ती जा रही है।"

नीरज गला फाड़ कर हंस पड़ा। कुछ ठहर कर बोला, "भई, हम तो शत प्रतिशत घाटे में हैं। कपड़े दिखा कर गांधीवादियों की पंक्ति में बैठते हैं तो वे हमारे मार्क्सवादी दिमाग़ से डर कर हमें अपनी पंक्ति में से उठा देते हैं और अगर तुम लोगों की लाइन में अटैंशन होते हैं तो वर्दी अनफिट करार देकर हमें निकाल दिया जाता है। हम तो दोनों वादों के बीच उछलते कूदते, पिटते पिसते कुछ नई किस्म के ही बनते जा रहे हैं। यही वजह है कि हमारा फ्यूचर बड़ा डार्क है।"

मैंने तिलमिलाते हुए कहा, "तो इसमें बुरा क्या है? पशु पक्षियों के युद्ध में दोनों ओर लपकने वाले चमगादड़ों की भी यही दुर्गत बनी थी। तुम लोगों को भी वैसा ही सबक मिलना चाहिये।"

नीरज मुस्कराता हुआ बोला, "नरेन! यह पशु पक्षियों का युद्ध कहां है? यह तो इन्सानों की लड़ाई है। सुना यही है कि इन्सान पशु पक्षियों से अधिक समझदार होते हैं। जब पशु पक्षी बन कर हमें समझने की कोशिश की जाती है तभी हमारे बारे में चमगादड़ों

का सा वहम होने लगता है। भई, हम तो राजकुल के पुरोहित हैं। हमें तो मामूली शिकार के पीछे भाई भाई को आपस में व्यर्थ की छीना झपटी, हाथा पाई करते देख दोनों के बीच में खड़े हो कर अपने ही सीने में खंजर भोंकना आता है। अपनी तरफ से कोशिश किए जा रहे हैं कि किसी तरह इन व्यर्थ के वादों में उलझ कर होने वाली हाथापाई रुक जाए, अगर कोई कुछ नहीं सुनेगा तो फिर आखिरी इलाज तो करेंगे ही।" कहते कहते नीरज अत्यन्त गम्भीर हो गया।

मेरे मन में नीरज की बातें सुन कर अजीब खलबली मच गई। मैं समझ न सका कि बहस किसी सिद्धान्त पर हो रही है या मेरे घरेलू मामलों को लेकर वह मुझे कुछ समझा रहा है? फिर ख्याल आया कि मेरे घरेलू मामलों की नीरज को क्या खबर? मैंने तो हमेशा ही घरेलू कशमकश की बात नीरज से छिपाई है। मैंने संभलने की कोशिश करते हुए और यह दिखाते हुए कि मैं केवल सिद्धान्तों पर बहस कर रहा हूं, अपनी बात को आगे बढ़ाया, "नीरज साहिब! पानी और आग इकट्ठे कैसे रह सकते हैं?" नीरज बोला, "भई, हमें तो आग कहीं दिखाई देती नहीं। इलाहाबाद गया था तो त्रिवेणी का संगम बहुत भला लगा। मन उसमें ऐसा लीन हुआ कि उठने को जी ही नहीं चाहता था। हम तो इस गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम के इच्छुक हैं, उसी में प्रयत्नशील हैं। आग कहीं दिखाई दे तो आग पानी की बात भी करें। बस, ये वादों की अड़चनें संगम का सा दृश्य उपस्थित नहीं होने देतीं।" फिर अजीब हंसी हंसते हुए बोला, "भई नरेन, हमें तो डर लगता है। ये गांधीवाद, मार्क्सवाद, समाजवाद, साम्राज्यवाद, नाज़ीवाद और न जाने क्या क्या वाद, बस यही आग की तरह दहक रहे हैं। इनकी गर्मी से खौल खौल कर गंगा, यमुना और सरस्वती सब का ही पानी कहीं

तुम्हारे मार्क्सवाद के फलसफे के मुताबिक़ भाप बन कर न उड़ जाए इसी का हमें डर है। अगर कहीं इस महा परिवर्तन के बाद पृथ्वी जल विहीन हो गई तो सारी मानवता प्यास के मारे छटपटा कर मर जाएगी। ज़रूरत सिर्फ इन आग के गोलों को परे फेंकने की है, फिर संगम का सा भव्य दृश्य उपस्थित होते विलम्ब नहीं होगा।" कहते कहते नीरज के मुंह से लम्बी सांस निकल गई।

मैंने कहा, "नीरज साहिब, आप न जाने कैसे, मार्क्सवाद को दूसरे वादों के साथ फिट बैठाने की बात सोचते हैं? मार्क्सवाद दुनिया के आज तक के फलसफों में सबसे बड़ा फलसफा है। इन्सान ने जिस बलन्दी तक पहुँच कर देखा है आप उसे उस बलन्दी से फिर नीचे धकेलने की बात सोच रहे हैं।"

नीरज बोला, "यही बात तो दूसरे फलसफों के, दूसरे धर्मों के समर्थक भी कहते हैं। अपने को छोटा तो कोई भी नहीं मानता। सभी एक दूसरे के सिर पर पांव रख कर बड़ा बनने का प्रयत्न कर रहे हैं। ले दे कर अकेला मार्क्सवाद ऐसा था जो कृष्ण की तरह इस जनता जनार्दन के राजसूय यज्ञ में लोगों की जूतियों को सहेज सहेज कर भी महान बना हुआ था सो उसे भी तुम लोग अपनी अजीबोग़रीब दूरन्देशी के कारण लोगों के सिर पर बैठाए दे रहे हो।" कुछ देर सोचते रहने के बाद पुनः बोला, "नरेन! मार्क्सवाद जड़ नहीं है, जैसा कि तुम इसे स्वार्थान्ध हो कर बनाए दे रहे हो। इसकी यही विशेषता है कि यह चेतन है, जागृत है, प्रवाहित है निरन्तर गतिशील है क्योंकि यह अन्य वादों की तरह सर्वहारा की पीठ पर बैठ कर नहीं चलता अपितु इसकी पीठ पर सवार होकर मानवता तैरती है, दूसरे किनारे लगती है। एक ऐसे किनारे जहां रेगिस्तानों की सांय सांय नहीं होती, लहलहाते गेहूं और धानों के खेतों की मीठी मीठी सरगोशियां होती हैं, अल्हड़ और जवान लड़कियां

जहां चूड़ियां तोड़ कर नहीं सिसकतीं अपितु गोल बांध कर फसल के ढेरों के गिर्द किलकारियां मार कर नाचा करती हैं। मार्क्सवाद तो गुह निषाद की तरह है, जनता जनार्दन के राम जब इसकी नैया पर सवार होते हैं तो पहले उनके चरण पखारता है, कृतकृत्य होता है तब उन्हें दूसरे किनारे तक पहुंचाता है। तुम जब इसे गले का पत्थर बना कर लोगों को पहनाने लगते हो तभी इसका अभाग्य शुरु होता है। इसे गले का पत्थर न बनाओ नहीं तो सभी कुछ डूब जाएगा, इसे अपने स्वस्थ और मुक्त चिन्तन की लहरों पर प्रवाहित रहने दो। यदि इसने वोलगा और आमू के तट देखे हैं, यांगत्सी के किनारों को छुआ है तो इसे उसी तरह प्रवाहित रहते गंगा और यमुना के किनारों तक भी पहुंचने दो, काशी मथुरा के घाटों पर डुबकी लगाने दो, वृन्दावन और अयोध्या की मिट्टी में रमने दो ताकि इसकी सूरत इस देश के लोगों की सी बन जाए। इस देश के लोग इसे अपना कह कर गले से लगा लें, बेगाना समझ कर अपने घरों के दरवाज़े बन्द न कर छोड़ें।"

मुझे यूं लगा मानों नीरज की दृष्टि अनदेखी, अनचीन्हीं सीमाओं को देख रही है। तो क्या मैं जिसके सहारे बढ़ता रहा हूं, वह दूषित है, त्याज्य है? सोचते ही मेरा दिमाग़ बुरी तरह झन्ना उठा।

मैंने कहा, "तो आप चाहते हैं कि जिसका हाथ पकड़े हम आज तक चलते रहे हैं उसका गला घोंट कर उसे मार दिया जाये और तब आपके इस नए फरिश्ते की उंगली पकड़ कर, ज़मीन को छोड़ कर आसमान में उड़ा जाये?"

नीरज शान्त भाव से बोला, "तुम बहुत जल्दी भूल जाते हो। अभी तो मैंने कहा है कि हम दूसरों को मारना कहां जानते हैं? हमें तो अपने कलेजे में ही खंजर उतारना आता है। ऐसा आदमी गला घोंटने की नेक राय कैसे दे सकता है? हम तो यही चाहते हैं कि आप

जिसका हाथ पकड़े चल रहे हैं उसी की आंखों पर पट्टी मत बांधिये, उसे आंखें खोल कर चलने दीजिए ताकि आपकी मंज़िलें गहरे गढ़े खाइयों में पहुंच कर खतम न हों !" फिर हंसता हुआ बोला, "भई ! अब तो आदमी चांद से हाथ मिलाने को है। अगर उसने हमारे फरिश्ते की उंगली पकड़ ली तो कोई बड़ी बात नहीं कि वह बरसती चांदनी में आसमान पर नाचता रहे और आकाश गंगा के दूध धुले पानी में तैरता रहे।" कुछ ठहर कर बोला, 'भई, जब तक महफिल न जमी हो, तब तक गवैये को भी गाने का लुत्फ नहीं आता। इस महफिल को यूं ही जमी रहने दो ताकि तुम्हें गाने का लुत्फ आ सके और दूसरे कलाकार भी तुम्हारे गुणों को देख परख सकें, प्रशंसा कर सकें, नई प्रेरणा ले सकें।"

मैंने कहा, "नीरज साहिब ! राजनीति गवैयों की महफिल नहीं है, रणक्षेत्र है। इसमें तो तलवारें चमकती हैं, सिर, धड़ से जुदा होते हैं, ताण्डव मचता है तभी विजय की देवी वरमाला डालती है।"

नीरज वेदना भरी आवाज़ में बोला, 'वरमाला कहां डालती है ? वन्दिनी होकर शक्तिशाली क्रूर और निर्दयी लोगों के साथ कांपती सहमती चल देती है। वरमाला डाल दे तो फिर उस घर की चौखट से जीते जी बाहर कदम न रखे। तुम तो इस विजय की देवी को अपनी सम्पत्ति मान कर लौंडियों की तरह महलों में कैद कर देते हो। तभी तो पुनः युद्ध होते हैं, पुनः रक्त बहता है, पुनः मानवता लड़खड़ाती है गिरती है। इस विजय को नृशंस और अत्याचारी लोगों की रखैल मत बनाओ मानवता की चिरसंगिनी बनाओ ताकि यह युग युगान्तर तक मानवता के घर को सजाती संवारती रहे, पल्लवति पुष्पित करती रहे, असंख्यों दीपावलियां मनाती रहे, फाग मनाती रहे, नाचती गाती रहे।"

नीरज के मीठे शब्द मेरे दिल के ज़हर में घुलते रहे। घुल घुल कर ज़हरीले होते रहे, ज़हरीले होकर निकले, "नीरज साहिब ! बन्द कीजिये

अपनी बकवास। मुझ में आप से ज्यादा अक्ल है। इन सुनहले ख्वाबों ने मुझे बहुत ठगा है। जब ये हकीकत की ज़मीन पर उतरते हैं तो इनकी ताबीर बदल जाती है। मैं आप को बेवकूफों का सरताज समझता हूं, आप मेरा दिमाग मत चाटिये। अपनी इस उपदेश धारा को संभाल कर रखिए। मैं इसमें डूबना नहीं चाहता।"

लेकिन फिर भी कहां बचा हूं? अपने दिल के तेज़ाब भरे तालाब में बुरी तरह डूबा हू। विजय की देवी ने मेरे गले में जयमाला कहां पहनाई है? मैंने ही क्रूर बन कर उसे वन्दिनी बना कर अपने महलों में कैद किया है! मनोरमा मेरे गले में जयमाला डालती तो क्या यूं ही सोमेन के हरम में उठ कर चली जाती?

रेणुका ने कहा था, "लेकिन हम तो तुम लोगों की अचल सम्पत्ति हैं न? तुम लोग चाहे कितने ही महान सिद्धान्तों की बात करो लेकिन तुम्हारी रगों में न जाने कितनी सहस्राब्दियों का खून बह रहा है। तुम्हारी सम्पत्ति पर कोई दूसरा अधिकार कर ले, चाहे वह तुम्हारा भाई ही क्यों न हो, तुम इस लूट को कैसे सहन कर सकते हो?"

नीरज से इन सिद्धान्तों पर न जाने क्या क्या लम्बी चौड़ी बहसें किया करता हूं? सचमुच मैं तो बहुत बड़ा ठग हूं। इन सिद्धान्तों की खाल ओढ़ने से अधिक मैंने किया ही क्या है? मनोरमा को अचल सम्पत्ति मान बैठा हूं तभी तो मेरा हृदय क्रोध और ईर्षा से भर उठा है। यदि मैं अपने जीवन में मनमानी कर सकता हूं तो दूसरे को वैसा करते देख मुझे दुःख क्यों होता है? यह हमें क्या हो जाता है? हम अपने और दूसरों के कार्यों को विभिन्न प्रमापों से क्यों नापते हैं? दूसरों को पापी, कलंकी, अपराधी और चरित्रभ्रष्ट प्रमाणित करने वाले मानदण्ड हमें निष्पाप, पवित्र, निरपराध और चरित्रवान घोषित कैसे कर देते हैं? जी चाहता है कि इन सब मानदण्डों को तोड़ फोड़ कर आग में झोंक दूं, इन सब बाटों को बोरी में बांध दरिया में बहा आऊं ताकि

इस हिसाब किताब में जो सदियों से धोखा धड़ी चलती आ रही है वह एक बार ही हमेशा के लिए समाप्त हो जाए। यही बाट और तराज़ू तो हैं जिन्होंने रेणुका और मनोरमा को पापी घोषित किया है और मुझे निष्पाप कहा है!

उस रात अचानक नींद खुल गई। सोमेन और मनोरमा साथ के कमरे में बातें कर रहे थे। बग़ैर हिले डुले उनकी बातें सुनता रहा। खुले दिन के प्रकाश में महानता, साधुता, त्याग और बलिदान की जिस उज्ज्वल वेष भूषा को पहन कर लोगों से प्रशंसा वसूल किया करता हूं वह उतर कर न जाने कहां जा गिरी? लोगों को यह कह कह कर ठगा करता हूं कि हम तो अपने जीवन में ही इतने व्यस्त हैं कि हमारे पास दूसरों की निन्दा चुगली, वाह वाह थू थू सुनने का अवकाश ही नहीं रहता। अब अवकाश मिला तो खूब दत्तचित्त हो कर साथ के कमरे में चल रहे भागवत प्रसंग को सुनने लगा। नीरज को आत्मवंचक कहता हूं परन्तु मैं तो उससे कहीं बड़ा आत्मप्रवंचक निकला।

नीरज ठीक ही कहता है, "अभी हम त्यागी, निरहंकारी, साधू और महान कहां बने हैं? नाटकों के पात्रों की तरह हमने अपने आपको इन रंगारंग की पोशाकों से दर्शकों के मनोरञ्जनार्थ सजा लिया है।"

दर्शक क्योंकि अपने घरों में मज़े से खर्राटे भर रहे थे अतः मुझे नाटक की चिन्ता नहीं थी। रंगारंग की पोशाक उतारी, अपने असली कपड़े पहने और कान लगा कर ज्ञान चर्चा सुनने लगा।

सोमेन कह रहा था, "मुझ से तो तू झूठ मूठ का प्यार करती है। दिल से तो अब भी जरनैल को चाहती होगी। मुझे जरनैल की तरह गीत लिखने कहां आते हैं?"

मनोरमा की फुसफुसाहट सुनाई दी, "आग लगे इसके गीतों में।

शकल न अकल। तू न होता तो मैंने कभी का ज़हर खा लिया होता। ये तो मुझे फूटी आंखों भी नहीं सुहाता। आज तक कभी चार चूड़ियां तक तो बाज़ार से लाकर दीं नहीं उलटे उस दिन हाथ का कंगन उतरवा कर ले गया। कहता था—'मेरे होते तुझे किस चीज़ की कमी है?'—आज तक मुझे मिला ही क्या है जो कमी खटके? दुख ही दुख तो मेरे हाथ लगा है। न जाने कौनसी बुरी घड़ी थी जब मेरे बापू ने मेरा रिश्ता इस कंगाल से किया था?" मनोरमा सिसकने लगी।

सोमेन उसे चुप कराता हुआ बोला, "समझ ले कि मैं ही तुझे ब्याह कर लाया था। जरनैल की बातें न सोचा कर। जी छोटा मत कर। इस बार चार रुपए बचे तो तुझे एक के दो कंगन बनवा दूंगा। इस बार फसल भी अच्छी दिखती है।"

मनोरमा बोली, "ये चोरी चोरी मिलना कब तक चलता रहेगा? मुझे तो डर लगता है। गांव की पंचायत बुला कर साफ साफ क्यों नहीं कहता कि तेरा भाई इस लायक नहीं है। मैं तेरी हां में हां मिला दूंगी। जब और कोई घर नहीं मिलता तो इसे मेरी सूझती है। एक दिन तू खेतों पर गया था, मां बाहर गोबर थाप रही थी। अकेले में मुझे पकड़ कर कहने लगा—मनोरमा! तू नहीं जानती मैं तुझे कितना प्यार करता हूं? मेरे गीतों की आत्मा तू ही तो है। तू समझ नहीं सकती कि मैं किन किन मुश्किलों में घिरा रहता हूं। फिर भी तेरी याद तो हमेशा ही दिल में रहती है।—बड़ी मुश्किल से पीछा छुड़ाया मैंने। मैं इन गीतों को ओढ़ूं कि पहनूं? आज तक हल की मूठ तक तो पकड़ी नहीं, खेतों के क्यारे तक मोड़े नहीं और चला है मेरा जो न सो बनने? मुझे जब छूता है तो मुझे तो घिन आने लगती है। न जाने कौन से तेल फलेल लगा कर रखता है?"

सोमेन बोला, "मुझसे तुझे घिन नहीं आती क्या? मुझे तो इसकी तरह कपड़े पहनने भी नहीं आते?"

अचानक चारपाई की आवाज़ सुनाई दी, फिर रुक गई। थोड़ी देर बाद मनोरमा की आवाज़ सुनाई दी, "तू भी मुझे छोड़ मत देना। तूने भी ठुकरा दिया तो मैं कहीं की भी नहीं रहूंगी? यह तो न जाने कहां कहां की धूल फांकता रहता है? फैशन चाहे ज़माने भर के बनवा लो लेकिन शकल सूरत तो वही मुरदों की सी रहेगी। मुझे तो इसके दिल में खोट दिखाई देता है।"

सोमेन बोला, 'मेरे दिल पर तुझे भरोसा है कि नहीं?'

मनोरमा बोली, "अपने गांव की परसन्नी है न? पता है मुझे एक दिन कूएं पर क्या कहने लगी?" सोमेन ने पूछा, "क्या?"

मनोरमा अजीब रस भरी आवाज़ में बोली, "कह रही थी कि प्यार करने वालों के दो दिल नहीं रहते। दोनों दिलों को मिला कर भगवान एक कर देते हैं।"

फिर खामोशी सी छाई रही कोई आवाज़ नहीं आई। केवल सोमेन और मनोरमा की ऊंची ऊंची सांसें सुनाई देती रहीं।

मुझे सहस्रों बिच्छू डंक मार रहे थे। हज़ारों नागिनें चारों ओर से डंस रही थीं। मैंने दबे पांव आलमारी से शराब की बोतल निकाली थी और घर से बाहर आ गया था। अचानक रेणु की याद हो आई थी और मैं अपना साइकल उठा उसी ओर चल पड़ा था। रास्ते में मनोरमा की रस भरी बातें मेरे कानों में ज़हर टपकाती रही थीं।

क्या खूब विश्लेषण करने बैठा हूं? अतीत की घटनाओं को ज्यों ज्यों याद करता हूं त्यों त्यों राहें और भटकती जा रही हैं और उलझती जा रही हैं।

खुद ही तो बड़े बड़े फलसफों की डींग हांका करता हूं। खुद ही तो कहा करता हूं कि विवाह सम्बन्ध में प्रेम, शरीर में आत्मा की तरह आवश्यक है। प्रेम नहीं रहेगा तो विवाह निर्जीव शव की तरह रह

जाएगा। मुर्दे को जलाना ही श्रेयस्कर है। आत्मा जब शरीर में नहीं रहती तो उसी शरीर से; जिसे हम पल भर के लिए भी आंखों से ओझल होने देना नहीं चाहते, जिसे हम प्यार करते नहीं अघाते; हमें भय लगने लगता है। हम सोचते हैं जितनी जल्दी हो सके इस मिट्टी को चिता पर रख कर अन्त्येष्ठि संस्कार कर देना चाहिए। मुर्दे से प्यार करने की बात तो एक ओर उसके स्पर्श मात्र से दिल दहल जाता है।

मनोरमा को अनपढ़ गंवार कह कर कितनी ही बार उसकी हंसी उड़ाया करता हूं, कितनी ही बार उसे ताने उलाहने दिया करता हूं, उसके मां बाप की कटु आलोचना, तीव्र भर्त्सना किया करता हूं। लेकिन यह मनोरमा तो मुझसे कहीं अधिक समझदार निकली। मैं तो यथार्थवाद का खोल ओढ़े हूं, इसने तो उसे जीवन में अपनाया है।

बहुत बुद्धिमती निकली! मैं जिस विवाह के मुर्दे को घर में सहेजे बैठा था, जिस दुर्गन्ध के मारे घर भर का सिर फटा जा रहा था, उसे ही यह मनोरमा सोमेन की सहायता से चिता पर फेंक आई। घृणा, अरुचि, अनादर, अभाव, अमंगल, अनिष्ट और अवहेलना की ज्वालाओं में यदि उस मृत-विवाह का शव जल गया तो उसमें अन-होनी क्या हुई? मनोरमा को विक्षिप्त समझा था, विक्षिप्त तो मैं था तभी तो मुर्दे को घर में लिए बैठा था।

मैंने समझा था कि मनोरमा 'रीग़न' की तरह ज़हर पीकर मौत की नींद सो गई है। परन्तु वह तो 'कॉर्डेलिया' थी 'रीग़न' कहां थी? मैं ही उसे मारने चला था। अच्छा हुआ नीरज ने इस 'ऐडमंड' को यथासमय बेनक़ाब कर दिया वर्ना इसके हाथों निरपराध 'कॉर्डेलिया' व्यर्थ ही अपनी अनमोल जान गंवा बैठती। यह कैसा यथार्थवाद है? यथार्थवाद है या यथार्थवाद की मात्र मरीचिका है जो अच्छे भले समझदार इन्सान को क़ातिल बना छोड़ती है?

खुद ही तो उन स्मृतिकारों की प्रशंसा किया करता हूं जिन्होंने नीति की नोक पलक संवार कर विधवा विवाह को धर्म संगत तथा न्यायोचित कहा है। मुर्दा-विवाह को चिता पर रख देने के बाद मनोरमा विधवा ही तो हो गई थी ! क्या जीवन भर यूं ही वह बेचारी दुख, निराशा, घुटन, मानसिक यन्त्रणा और अभाव तथा रिक्तता की आग में बैठ कर सती होती रहती ? यदि उसने सोमेन को अपना लिया, मुर्दा-विवाह से चिपटे रहने की मूर्खता नहीं की तो बुरा क्या किया ? मैं जिसे मूर्खा समझ बैठा था उसने तो यथार्थवाद का चेहरा निखारा संवारा है। शायद मेरे मन की ईर्षा ने ही मुझे जला जला कर मार डाला है, मुर्दा बना डाला है। मुर्दे जीवित प्राणियों के जीवन प्रवाह को समझ ही कैसे सकते हैं ?

शाहज़ादा सलीम की अनारकली, सलीम के शहन्शाह जहांगीर बनने पर भी मुर्दा सलीम की यादों से चिपटी रही और शहन्शाह जहांगीर, नूरजहां के साथ अमन चैन से सुख की बंसरी बजाते रहे ? शहन्शाह को यही सकून रहा कि अनारकली की रूह दीवार में भी उनके लिए तड़पती होगी। कल के जहांगीर आज अगर बहिश्त या दोज़ख़ से ज़मीन पर आ निकलें और अनारकली को किसी दूसरे सलीम की बाहों में जकड़ा देखें तो बेचारे बेहोश होकर गिर पड़ें, बेचारे कि दिल की धड़कन रुक जाए। मनोरमा अनपढ़ ही सही लेकिन सामन्तवादी युग की अनारकली नहीं है, समाजवादी युग की परिस्थितियों से प्रभावित प्रेमिका है। अगर उसने जहांगीर को किसी नूरजहां के साथ चैन की बंसी बजाते देख, अपनी राहें बदल ली हैं, दीवार की खूनी ईंटों में घुट घुट कर मरने की बजाय किसी और सलीम को चुन लिया है तो कौनसा अक्षम्य अपराध किया है ? अपराधी तो मैं हूं जो यथार्थवाद का लबादा ओढ़ कर युग के रथ को सामन्तवाद की गहरी खाइयों में पुनः धकेलना चाहता हूं। यह अनोखा समाजवाद या साम्यवाद है मेरा ! चाहता हूं

कि मेरे चारों ओर तो अनार की कलियों का जमघट लगा रहे लेकिन कोई भी अनारकली इस मुर्दे को छोड़ किसी जीते जागते सलीम की ओर आंख उठा कर न देखे ?

नीरज ठीक ही कहता है, "नरेन ! तुम्हारा स्वतन्त्र चिन्तन मुझे स्वतन्त्रता का लंगड़ा रूप प्रतीत होता है।"

स्वतन्त्र चिन्तन तो जीवित व्यक्ति ही कर सकता है ? मैं तो 'ऐडमंड' की तरह कब का अपने पापों का, विश्वासघातों का बोझ लिये मर चुका हूं ? मैं तो उसी दिन मर गया था जब मनोरमा ने मेरे मुर्दा विवाह की शवयात्रा सोमेन के कन्धे से कंधा मिला कर निकाली थी। मरा तो मैं उस दिन था जिस दिन अपनी प्रियतमा के घावों पर मरहम रखने की बजाए, उसे दुःख में कराहता छोड़, रेणुका की ओर वासना पूर्ति के लिए लपका था।

यह अहंकार ऐसा है कि मरते मरते भी नहीं छूटता ! 'ऐडमंड' कह कर अपने को ठगना चाहता हूं। 'ऐडमंड' राज्य लोलुप और महत्त्वाकांक्षी भले ही रहा हो, कायर और डरपोक तो नहीं था। मैं तो 'रामगुप्त' की तरह भीरु और कायर निकला। तभी तो सोमेन ने मेरे प्रेम की हत्या करके, मुझे मार कर, मेरी पत्नी पर अपना अधिकार कर लिया ? 'चन्द्रगुप्त द्वितीय' अपने भाई 'रामगुप्त' को मार कर अगर अपने भाई की पत्नी 'ध्रुवदेवी' से विवाह सम्बन्ध स्थापित कर सकता था, 'कुमार गुप्त' के रूप में 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवदेवी' की वंश बेलि फैल सकती थी तो नरेन को मार कर सोमेन और मनोरमा की वंशबेल नूतन के रूप में क्यों नहीं फैल सकती ? मेरे भाई और पत्नी ने बुरा क्या किया है, पुरानी परम्पराओं को ही तो ये लोग आगे बढ़ा रहे हैं ?

यदि चन्द्रगुप्त द्वितीय पराक्रमी बन कर ध्रुवदेवी की रक्षा न करता, उससे विवाह न करता तो भी वह बेचारी किसी शकराज के महल की

शोभा बढ़ा रही होती, रामगुप्त जैसे कायर पति के पास तो वह फिर भी न रहती क्योंकि रामगुप्त ही तो अपनी पत्नी को शकराज को सौंपने के लिए तैयार हो गया था !

तभी तो स्मृतिकारों ने स्मृतियों की कड़ी में एक और नई कड़ी जोड़ी थी । यही तो उन्होंने कहा था कि जो कायर और निर्बल पति अपनी पत्नी की शत्रु से रक्षा न कर सके, वह पत्नी अपनेआप को विधवा समान मानती हुई किसी अन्य तेजस्वी, बलवान और पराक्रमी से विवाह कर सकती है ।

छोटा भाई बड़े को मार दे यह तो फिर भी कुछ बुरा सा लगता है क्योंकि हमारे हिन्दू समाज में अपने से बड़ों का आदर करना सिखाया जाता है । परन्तु बड़ा भाई तो छोटे को हमेशा कान पकड़ कर ठीक राह पर चलाने का अधिकार अपने पास सुरक्षित रखता आया है । 'चन्द्रगुप्त' ने अगर बड़े भाई 'रामगुप्त' को मार दिया तो समझदार लोगों को आपत्ति हो भी सकती है लेकिन सोमेन अगर नरेन को मार दे तो इसमें किसी को क्या एतराज़ हो सकता है ? सोमेन ने सौ फी सदी हिन्दू शास्त्रों के उपदेशों पर स्थिर रहते हुए, स्मृतिकारों द्वारा प्रदर्शित पुनीत राह पर चलते हुए यदि अपने कायर और निर्बल भाई द्वारा अरक्षित पत्नी की रक्षा की है, ग़ैरों के महलों की शोभा न बनने देकर अपने ही घर की शोभा बना लिया है तो इसमें बुरा क्या किया है ?

मां को कहने चला था कि मनोरमा तो कब की मर चुकी, किसे मायके छोड़ने की बात कहती हो ? मनोरमा मरी कहां थी ? वह तो 'ध्रुवदेवी' की तरह मेरे भाई सोमेन के पास सुरक्षित थी । मरा तो मैं था क्योंकि मैं कायर था, डरपोक था, निर्बल था, असहाय था । 'एडमंड' कह कर अपनेआप को ठगने चला था, अपने को शूरवीर और पराक्रमी प्रमाणित करने की धुन मुझ पर सवार थी ! मैं 'एडमंड'

भी तो नहीं बन सका, अगर वही बन सकता तब भी शायद कुछ सन्तोष मिल पाता ! मैं तो जीवन की दौड़ में 'रामगुप्त' बन कर रह गया तभी तो 'रामगुप्त' का सा सन्दिग्ध भविष्य मुंह फाड़े सामने खड़ा है ? कायर और भीरु भी क्या कभी यथार्थवाद के समर्थक हो सकते हैं ?

नीरज को अहंकार में डूब कर कह आया कि हम तो शेरों की तरह सीधे तैरना जानते हैं, मुर्दों की तरह तैरना हमें नहीं आता। शेर के पास कायरता और भीरुता फटकती नहीं तभी तो वह सीधा तैरता है। मुझ जैसा बुज़दिल और डरपोक क्या खाक सीधा तैरेगा ? नीरज ही मुझसे अधिक यथार्थवादी है। भले ही मुर्दे की तरह तैरता हो, तैरता तो है ? मैं तो मुर्दा हूँ, बस मुर्दों की तरह तूफानी लहरों के प्रबल थपेड़े जिधर बहाए ले जा रहे हैं, निर्जीव काष्ठ खण्ड की तरह उधर ही बहता जा रहा हूं !

सोचा था रेणुका मगरमच्छों और घड़ियालों के पेट में चली गई होगी। वह तो मर कर भी जीने की कला जानती है, शायद जीवन की साध लिए कहीं भंवर में फंसी लहरों से जूझ रही होगी। ये मगरमच्छ और घड़ियाल उसे क्या खाएंगे ? ये तो मुझे खाए जा रहे हैं क्योंकि मैं ही निर्जीव सा पानी में बहा जा रहा हूं, मिटा जा रहा हूं।

रेणुका यदि मरी होगी तो मेरी ही कायरता और भीरुता से शापित हो कर मरी होगी। मैंने ही तो उसका सम्बल उससे छीन लिया। छीन कहां लिया ? बोटी बोटी करवा कर उसके आगे फेंकवा दिया ! खूब उपहार दिया उसके प्यार का ! कितनी बार तो उसने अपने प्रेम का विश्वास दिलाया था परन्तु मुझ जैसे सन्देह की खान के पास रेणुका का पवित्र प्रेम क्यों कर ठहर पाता ? मेरे सन्देह की आग में बेचारी का पवित्र प्रेम जल कर राख हो गया।

रेणुका ने कहा था, "नरेन ! तुम मुझ से मेरे कलेजे के टुकड़े को मत छीनो। मैं तो इसी पाप की निशानी को सीने से लगा कर दुनिया भर की निन्दा थू थू सहन कर लूंगी। तुम नहीं जानते कि नारी जब मां बनती है तो कितनी सामर्थ्यशाली हो उठती है ! तुम मुझे मां बनने का गौरव प्राप्त करने तो दो मैं ज़माने भर के प्रहारों को दुनिया भर के ईंट पत्थरों को मुस्कराते मुस्कराते सह जाऊंगी। हम ने जो कुछ किया है, वह पाप नहीं है नरेन ! पाप तो अब तुम इसे बना रहे हो। तुम कायरता और भीरुता छोड़ कर मेरे साथ आओ तो सही, इस पाप को पुण्य बनते देर नहीं लगेगी। पाप के पास इतनी शक्ति कहां कि मां के आगे ठहर सके ?"

मैंने गुस्से में भर कर रेणुका के गाल पर थप्पड़ जड़ दिया था। कायर और बुज़दिल, औरत पर हाथ उठाने के सिवाय कर भी क्या सकता था ? मेरी भीरुता और कायरता ने, मेरे सन्देह और अविश्वास ने मेरी आंखों पर पट्टी बांध दी थी। मैं कहां का सत्यवादी हरिश्चन्द्र था कि मेरे हाथ की तलवार को स्वयं भगवान पकड़ लेते, आंखों से पट्टी खोल देते, तारा और रोहित मुझे पुनः मिल जाते ? मैं तो दम्भ और असत्य की खान था तभी तो पट्टी बंधी रही, रेणुका अपने पुत्र को खो बैठी। पागलों की तरह प्रलाप करती न जाने किन गलियों की ख़ाक छानती फिरती होगी ? मैं अपने ही हाथों अपने बच्चे को मार बैठा, रेणुका से मैंने मां बनने का सौभाग्य छीन लिया ! उस महापाप की ज्वालाओं में जल रहा हूं तो अब चीख़ता क्यों हूं ?

मान भी लूं कि रेणुका पापिन थी, कलंकिनी थी लेकिन, वह नन्हा सा फूल जिसे फूल बनने से पहले ही मैंने बेरहमी से मसल दिया, क्या जन्म से पहले ही पापी और कलंकी बन गया था ? रेणुका के अपराध का दण्ड उसे क्यों मिला ? पाप कोई करे और उसका दण्ड कोई और भुगते यह कहां का न्याय है ?

नीरज की बातों की हँसी उड़ाया करता हूं। वह यही तो कहता है, "नरेन ! व्यक्ति यदि मृतक को अपने सम्पूर्ण विज्ञान के कला कौशल से, अपनी समस्त विद्याओं के प्रभाव से भी जीवित नहीं कर सकता तो उसे जीवितों को मृतक बनाने का क्या अधिकार है ? हम तो अपने आप में ही अपूर्ण हैं। पूर्ण बनने का दम्भ करके जब हम दूसरों को दण्ड देने के लिए लालायित होते हैं तो मुझे इस अज्ञान पर रुलाई आने लगती है। किसी को दण्ड देते समय हम भूल जाते हैं कि उस दण्ड की असहनीय व्यथा अन्ततोगत्वा मानव समाज को ही सहन करनी होती है। क्या वे पुरुष जिन्हें हम दण्ड देते हैं, केवल इसी लिए दण्ड के पात्र हैं क्योंकि उन्होंने हमारे द्वारा स्थापित मर्यादाओं का उल्लंघन किया है ? जब हम ही अपूर्ण हैं तो हमारे द्वारा स्थापित मर्यादाएं ही क्यों कर अपने आप में पूर्ण हो सकती हैं ? मैं कहता हूं तुम बस अपने अन्तर में झांक कर अपने आप को समुज्ज्वल किए जाओ, विकसित किए जाओ, मिटाने का पुनीत उत्तरदायित्व उसी पूर्ण के हाथों में रहने दो जिसके पास बनाने की क्षमता है। इसी में कल्याण है।"

मैं यदि रेणुका के निष्पाप पुत्र को जीवित करने की सामर्थ्य नहीं रखता तो मुझे क्या अधिकार था कि मैं उस पवित्र आत्मा को जन्म लेने से पहले ही गला घोंट कर मार देता ? अपनेआप को निरापराध प्रमाणित करने के लिए, निर्धारित मर्यादाओं के पालनकर्ता का ढोंग रचने के लिए, क्योंकि मैंने यह जघन्य पाप किया है अतः अन्ततोगत्वा उस निरपराधी के दण्ड की असहनीय मानसिक यन्त्रणा मुझे ही जला रही है।

नीरज ठीक ही तो कहता है, 'नरेन ! हम इन्सानों की औलाद हैं न ? तभी तो सोने से खूबसूरत दमकते जिस्मों को, फूल से महकते मासूमों को, प्यार में डूबे दिलों को, आग में मकई के भुट्टों की

तरह भूनना जानते हैं! हमें किसी को आग में से निकालना कहां आता है? हमें तो बस आग में फेंक कर तड़पा तड़पा कर जलाना आता है!"

यह मैं क्या कर बैठा? मासूम फूल को जल्लादों के हवाले करके मैंने क्यों कहा कि इसके टुकड़े टुकड़े कर डालो? अच्छा हुआ रेणुका मुझ हत्यारे के चंगुल से निकल गई। मुझे तो केवल लोगों को आग में झोंकना आता है, प्रेम करने की सामर्थ्य मुझ में कहां है? इस प्रेम की पवित्र थाती को तो मैंने अपने ही हाथों, घृणा, ईर्षा, स्वार्थ और सन्देह की आग में फेंक कर जला डाला है। रेणुका के प्रेम पर सन्देह करने चला था? उसने ठीक ही तो कहा था, "क्या यही सन्देह की अतुल सम्पत्ति गांठ में बांध कर प्रणय का व्यापार करने निकले थे?"

प्रेम को ही जला कर राख कर डाला तो प्रेम की पवित्र निशानी कैसे बच पाती? जिसे जन्म लेने से पहले मैंने समाप्त कर दिया न जाने वह कैसा फूल था? प्रेम का फूल भला ज़हरीला कैसे हो सकता था? वह समय से पहले स्वार्थवश मसला गया फूल, यदि पूर्ण रूपेण विकसित होता, मीठी मीठी धीमी धीमी हवाओं की गोद में महकता तो क्या जाने व्यास बनता या भीष्म बनता, पुरु बनता या इरावण बनता?

व्यास जैसे महर्षि और भीष्म जैसे दृढ़व्रती की जन्मगाथा भी तो इसी पाप पंक में डूबी हुई है। वे भी तो अविवाहित अब्राह्मण कन्याओं के पुत्र थे। पराशर और शान्तनु जैसे प्रकाण्ड विद्वानों और महा-बलशालियों की भूल थे। यदि पराशर उस अविवाहित अब्राह्मण कन्या को, पुत्र जन्म के समय ही उस नन्हीं सी जान का गला घोंटने पर विवश कर देते जो बड़ा होकर व्यास बना, महाभारत जैसे अमर काव्य का रचयिता बन कर समस्त भारत भूमि को अपनी सुगन्ध से महका गया तो कौन महर्षि बनता, कौन महाभारत रचता, कौन दिग-दिगन्तों को अपने ज्ञान के, अपनी साधना के प्रकाश से आलोकित करता? यदि

भीष्म के जन्मते ही माता उसका गला घोंट देती तो कौन पितामह बन कर सहनशीलता और शौर्य के अनुपम चरण चिह्न छोड़ जाता, कौन तीरों की शैया पर सो कर मुस्करा मुस्करा कर उपदेश देने की सीख दे जाता, कौन मानव गाथा के पृष्ठों पर लिखता कि मनुष्य चाहे तो मृत्यु को भी प्रतीक्षा के लिए बाध्य कर सकता है ?

यह मैंने क्या किया ? अपने पाप को छिपाने के लिए लोगों के हाथों से गीता छीन ली, महाभारत जैसा अमर काव्य जला डाला, शूरवीरता और सहनशीलता के गीतों में आग लगा दी ? यह मैंने क्या किया, यह मैंने क्या किया ? 'पराशर' और 'शान्तनु' न बन कर 'रामगुप्त' क्यों बन गया ?

नीरज उस दिन कह रहा था, "यह तुम्हें क्या होता जा रहा है नरेन ? तुम्हारे गीत कहां खो गए हैं ? तुम्हारे सुर कहां बिसर गए हैं ? जब भी पूछता हूं —— कुछ नया लिखा कि नहीं ? — तो वही रटा रटाया उत्तर मिलता है — लिखने में मन ही नहीं रमता ।—और कुछ नहीं तो कोई नया नाटक हो लिख डालो । मैं कहता हूं आखिर कितने दिन चलेगा यह अलेखन व्रत ?"

मैं नीरज को कैसे बताऊं कि मेरे सब गीत जल चुके हैं, सब सुर घुट घुट कर मर गए हैं, मेरे नाटकों के पन्ने तेज़ आंधियों में उड़ उड़ कर न जाने कहां खो गये हैं ? कैसे कहूं नीरज को कि मेरी ज़िन्दगी खुद एक बेसुरा गीत बन कर रह गई है जिसे मैं किसी को भी सुनाना नहीं चाहता । किसी को क्या, मैं इसे खुद भी सुनना नहीं चाहता । जो भी इस गीत को सुनता है उसके कानों के पर्दे फटने लगते हैं, दिल जलने लगता है, आंखों में कड़वाहट का धूआं भर जाता है, दिमाग़ दर्द के मारे फटने लगता है । मैं किसी को ये बेसुरे गीत नहीं सुनाना चाहता, लेकिन खुद तो चाह कर भी बच नहीं पाता ? लाख न

चाहने पर भी ये बेसुरे गीत मेरे दिल को जलाए जा रहे हैं, दिमाग़ पर भारी भारी हथौड़ों की तरह बजते जा रहे हैं।

यह मन का सितार जिसके तारों को छूते ही कभी मीठी मीठी रागनियां बहा करती थीं, जिन तारों से टकरा कर हवाएं मधुर तानें बन कर लौटती थीं, जिन तारों पर कभी स्वर-लहरियां अठखेलियां किया करती थीं अब उस सितार के वही तार किसी के छूते ही फटे बांस की तरह बज उठते हैं। अब इन तारों को छूते ही मीठी रागनियां, कर्ण कटु चीखें बन जाती हैं, तानें दिल कंपा देने वाली प्रेतध्वनियां बन जाती हैं, स्वर लहरियां, चक्करदार गहरे गहरे भंवर बनाती हुई लोगों को अपने में डुबोने लगती हैं। मन वही है, तार वही हैं, उंगलियां वही हैं, दिल वही है केवल प्रेम आग में जल कर राख हो गया है। जी चाहता है अब इस सितार को भी उठा कर आग में फेंक दूं ताकि कोई इसे छू कर अपने आप को ठगा न बैठे, दिल को शान्त करता करता दिल को रुला न बैठे ?

यही तो उस दिन हुआ। नीरज ने मधुर संगीत सुनने की इच्छा से जब इन तारों को छुआ तो इनमें से तीखी चीखें निकलने लगीं। बेचारा आंखें फाड़े इस सितार की ओर देखता रहा। उसे मैं कैसे कहता कि नीरज, सितार के तारों को जब तक मुहब्बत भरा दिल न छुए तब तक ये रूठे रहते हैं, कभी नहीं मानते, कभी नहीं मानते !

घूमते घामते उस दिन नीरज के घर जा निकला। यूं मिला जैसे वर्षों से बिछुड़े मित्र मिले हों। फिर अचानक मेरी ओर देखता हुआ बोला, "अबे यार ! यह क्या सूरत बना रखी है ? यूं लगता है जैसे जनाब ताजिये पीटते चले आ रहे हों ? भई मैं कहता हूं कि अगर भगवान ने खूबसूरत सा चेहरा अता फरमाया ही है तो क्यों उस बेचारे को मुफ्त में बदनाम कर रहे हो ? सच कहता हूं मैं

तुम्हारे इन खामोश मुज़ाहरों से तंग आ गया हूं। कुछ लिखा विखा है कि नहीं ?"

मैंने कहा, "नीरज साहिब ! आप मुझे परेशान मत किया कीजिये, मुझे मेरे हाल पर छोड़ दीजिये। अगर कहीं भूल से चार मिनट सुस्ताने आपके पास आ ही निकलता हूं तो मारे बोरियत के मेरी जान निकलने लगती है।"

नीरज मेरे मूड को समझते हुए बोला, "अरे भई, डर क्यों रहे हो ? कहो तो किसी अहदनामे पर दस्तखत करके दे दूं कि आज का दिन किसी फलसफे पर, किसी जटिल समस्या पर, किसी पोलिटीशियन पर या पॉलिटिक्स पर बहस नहीं होगी। मैं तो तुझे एक खुशखबरी सुनाने वाला था। कई दिन से राह तकते तकते आंखें पथरा गई थीं, दिल ही दिल में परवरदिगार से दुआएं मांग रहा था कि या खुदा ! मेरे कम्बख्त दोस्त को कुछ और अक्ल दे ताकि घूमता घामता कहीं इधर आ निकले। सो आज हमारी फरियाद अल्लाह की दरगाह में क़बूल हुई है। गो खुशखबरी कुछ पुरानी हो गई है, फिर भी कहो तो उसे ही झाड़ पोंछ कर अर्ज़ करूं ?"

मैंने कहा, "जानता हूं, दोस्तों का दिमाग़ चाटना आप की हॉबी है। यह भी जानता हूं कि आप लाख अहदनामों पर दस्तख़त कर दें लेकिन खुशखबरी किसी न किसी फलसफे में लपेट लपाट कर ही पेश की जाएगी। खैर, चाय का एक कप मिलने से काम चल जायगा। आप खुशखबरी इरशाद फरमाइये, और हां ! ज़रा फलसफे के बग़ैर इरशाद हो तो मैं आप का बहुत अहसान-मन्द हूंगा।"

नीरज बोला, "तुम देखते जाओ, अगर भूल कर भी फलसफा पास फटक गया तो मुझे कहना ......।"

मैंने बीच ही में बात काटते हुए कहा, "देखिये ! फलसफा न छांटने की सफाई में ही आपने फलसफा छांटने की कोशिश शुरु कर दी है । मैं सिर्फ खुशखबरी सुनना चाहता हूं जो अभी तक आपके दिल से उछल उछल कर आपके गले में अटक रही है। और कुछ नहीं फक़त, खुशखबरी इरशाद ।"

नीरज बोला, "कुछ दिन हुए डॉक्टर सन्ध्या मिली थीं ।" मैंने पूछा, "क्या तुम्हारे घर आई थीं ?" कहने लगा, "हमारे घर आतीं तो चन्द मिनटों में उन्हें यू-डी-कॉलोन की पूरी शीशी अपने रेशमी रुमाल पर उंडेलनी पड़ती । मैंने सोचा उन्हें क्यों मुफ्त की फिज़ूलख़र्ची में उलझाया जाए, इसलिए मैं ही उनके खूबसूरत बंगले तक हो आया ।" मैंने कहा, "फिर ?" बोला, "फिर क्या ? बहुत खुश नज़र आ रही थीं । उस दिन रिक्शा पर आते हुए उन्होंने, मुझे तुम्हारे साथ बातें करते सड़क पर टहलते हुए देखा था न ? बन्धु मिलन की खुशी में मिठाई खाने की बात कह रही थीं ।" मैंने कहा, "नीरज साहिब ! ये अमीर लोग अपनी किस्म आप होते हैं । जब देखो हड़पने की बात किया करते हैं । आप ऐसे लोगों का ज़िक्र तक मुझ से न किया कीजिये । सच कहता हूं मुझे आपकी इस लेडी डॉक्टर से सख्त नफरत है । मैंने तो मुश्किल से शायद एक आध बार उसे देखा है लेकिन वही ज़ेहनी कोफ्त के लिए काफी है । उसकी सूरत से मुझे तो मक्कारी, चालाकी, खुदगर्ज़ी और नव्वाबी टपकती नज़र आती है ।" नीरज ने कहा, "देखो भई, अब इस फलसफे की शुरुआत तुम्हारी ओर से हुई है इसलिए मैं भी इसका सहारा लेने के लिए पूरे तौर पर आज़ाद हूं । बात दरअसल यह है नरेन कि लोग बाग आज कल बहुत चोर हो गए हैं इसलिए होशियारी से काम लेना पड़ता है । डॉक्टर सन्ध्या भी अपने पवित्र मन की दौलत को इन मक्कारी, खुदगर्ज़ी और नव्वाबी के भारी भारी तालों में बन्द करके रखती हैं । ज़माने के

साथ साथ चोर भी चोरी में सिद्धहस्त हो रहे हैं और हम चूंकि ग़रीब होने के कारण, और इन्कलाब करने की हिम्मत न जुटा पाने के कारण चोरी करने में माहिर हो गए हैं इसीलिये उन भारी भारी तालों को चुपके से तोड़ कर तमाम दौलत चुरा कर मालामाल हो गए हैं। अगर वहां अब सिर्फ मक्कारी, खुदगर्ज़ी और नव्वाबी के ताले लटकते रह गये हैं तो इसमें बेचारी डॉक्टर सन्ध्या का दोष नहीं है, दोष तो हमारा है। उस बेचारी को लुटने की सज़ा मत दीजिये, हमें चोरी की सज़ा दीजिये, तभी समाज का उद्धार हो सकेगा।" मैंने पूछा, "ये जनाब ने, डॉक्टर सन्ध्या की वकालत कब से शुरु कर दी है? "नीरज हंसता हुआ बोला, "जब से चोरी कर बैठे हैं तभी से यह सज़ा भुगत रहे हैं।" मैंने कहा, "हमेशा फलसफा मत छांटा करो कभी कभी हकीकत को परखने की भी कोशिश किया करो? यह बूर्जुआ और प्रोल्तारी दोस्ती बहुत दिनों तक नहीं निभ सकेगी। जितनी जल्दी तुम्हारी आंखों से आदर्श की पट्टी उतर जाए उतनी ही बेहतरी समझो। मैं झख नहीं मार रहा हूं, किसी वक्त हम जैसे बेवकूफों की भी राय मान लिया करो वर्ना फिर पछताओगे।"

नीरज बोला, "देखो नरेन, तुम्हें एक बड़े मार्के की बात बता रहा हूं, ज़रा ग़ौर से सुनना।" मैंने कहा, "बोर मत कीजिये साहिब, साफ साफ कहिये क्या कहना है?" कहने लगा, "रुपया जानते हो न रुपया? ज़रा बताओ तो यह रुपया बुर्जूआ होता है या प्रोल्तारी?" मैंने कहा, "तुम्हारा सिर होता है।" हंसता हुआ बोला, "अपने सिर की कसम नरेन, आज तक यह मसला सुलझ नहीं सका। बिल्कुल इस रुपये से मिलती जुलती समस्या इस बदनसीब औरत जात की है। यह न बुर्जूआ होती है न प्रोल्तारी, बस फक़त औरत होती है।" बोलते बोलते नीरज स्वभावानुसार एकदम गम्भीर हो गया। फिर ठहर कर बोला, "यह भी रुपए की तरह बेजान है, कम से कम अक्लमन्द लोग यही मानते हैं,

बुर्जूआ और प्रोल्तारी तो सिर्फ आदमी रहा है, औरत तो बस रुपये की तरह इस्तेमाल होती है। अगर हम जैसे कुछ सिरफिरे इसे जानदार समझ बैठते हैं तो तुम जैसे लोग हमें नेक राय से पीटने पर उतारू हो जाते हैं। हम तो समझते हैं कि नारी चाहे धनिक वर्ग की हो चाहे दरिद्र वर्ग की सहस्रों वर्षों से शोषित ही चली आई है।"

मुझे यूं लगा कि नीरज ने सनसनाता कोड़ा मेरी पीठ पर मार दिया है। मानों नीरज ने कोड़ा मार कर कहा, "नेक राय देने से पहले अपने गिरेबान में नज़र डाल कर देखो कि तुम क्या हो ? मनोरमा और रेणुका को या और औरतों को, जिनके पास तुम मन बहलाने के लिये जाते हो कभी तुमने जानदार समझा भी है ? जानदार समझते तो क्या आज मनोरमा इस अन्धेरे गर्त में गिरती, रेणुका क्या पाप की खाई में गिरती ? तुम तो इन्हें बेजान मिट्टी के खिलौने समझ कर, इनसे मनमाने ढंग से खिलवाड़ करके कूओं और खाइयों में फेंक देते हो ? मुझे नेक राय देने से पहले ज़रा इन्सान की औलाद तो बनो, शैतानियत को तो परे झटको, सन्ध्या की फिक्र करने से पहले अपने प्रोल्तारी वर्ग की मनोरमा और रेणुका को तो संभाल लो ? तुम्हारे मुंह में राम और बगल में छुरी है और चले हो मुझे नेक राय देने ?"

मैंने चीखते हुए कहा, "तुम और सन्ध्या दोनों जाओ जहन्नुम में, मुझे इससे क्या ? अपनी फिज़ूल की लैक्चरबाज़ी बन्द करो। तुम्हें तो सलाह देना भी बेवकूफी है, सरासर अहमकपन है, पाजीपन है।"

नीरज बोला, "यार, यही तो दुःख है कि हालात ने अजीब करवट बदली है। हमें तो जहन्नुम तक में इकट्ठे रहने की गुन्जाइश नहीं है। ये समाजशास्त्री तो हमें जहन्नुम तक में इकट्ठे रहने की इजाज़त नहीं देते। अगर एक भी मौका दे दें तो दोस्त, हम तो नरक में भी स्वर्ग के से नज़ारे पेश कर दें। यही तो दिक्कत है कि हमारी नैया के इन कर्णधारों के आशीर्वाद भी तुम्हारी बददुआओं से बुरे हैं।"

कुछ रुक कर बोला, "तुमसे मिलता हूं न ? इस बात को लेकर डॉक्टर सन्ध्या ने बस आसमान सिर पर उठा लिया है। कह रही थीं—धूर्त और पाखण्डी लोगों से नहीं मिलना चाहिए।—तुम भी अभी यही सलाह दे रहे थे। समझ में नहीं आता कि तुम दोनों ही इतने पवित्र और उज्ज्वल होते हुए भी मक्कार और धूर्त क्यों कर बन जाते हो ? धूर्त और मक्कार क्या कभी किसी दूसरे के हित की बात सोचा करते हैं ? लेकिन तुम दोनों तो जब सोचते हो मेरे हित की ही सोचते हो। फिर भला तुम्हें धूर्त और मक्कार कैसे मान लूं ? मुझे तो यूं लगता है कि तुम दोनों को किसी राक्षस ने क्लोरोफार्म सुंघा कर बेहोश कर दिया है और बेहोशी में ही तुम्हारे दूध से धुले दिलों को, मक्कारी और फरेब से रंग दिया है। इन मटमैले रंगों को छुड़ाते ही फिर वही उजलापन चमक उठेगा।"

मैंने झुंझलाते हुए कहा, "वह आपकी लेडी डॉक्टर भले ही धूर्त और मक्कार न हो लेकिन मैं ज़रूर धूर्त और मक्कार हूं। आप मेरी खातिर उस बेचारी का दिल न दुखाइए। किसी नेकदिल को परेशान करना, उलझनों में डालना कहां की अक्लमंदी है ? आप मुझे मेरी किस्मत पर छोड़िये और उसकी फिक्र कीजिये। ऊंचे लोगों के साथ उठिये बैठियेगा तो चार भले लोगों में इज़्ज़त भी होगी। मुझ जैसे बदमाश और बदचलन को पास रख कर बदनामी और जग हंसाई के सिवाय क्या मिलेगा ?"

नीरज बोला, "यही तो मुश्किल है। मुझसे न तुम्हें छोड़ते बनता है न उन्हें छोड़ते बनता है। सोचा था कि उन्हें छोड़ देना ही ठीक रहेगा क्योंकि कुछ देर के लिए मैं भी उनके नवाबों के से ठाठ को ही सब कुछ समझ बैठा था। जब हक़ीक़त खुली कि एक बदकिस्मत है, और दूसरी सदियों के शाप से शापित, तो समझ में आया कि मुझसे दोनों में से किसी को भी छोड़ते नहीं बनेगा ? दोनों ही मेरे साहस

और मेरी निष्ठा को परखने की खरी कसौटियां हैं अगर इन्हें फेंक दूंगा तो अपने साहस और निष्ठा के खरे खोटेपन को कैसे परख सकूंगा ?"

मैंने फिर कहा, "नीरज साहिब, कसौटी तो एक ही खरी होती है। बस उसे ही संभाल कर रखिए। कहीं ऐसा न हो कि आप इन कसौटियों को बटोरने के चक्कर में खरे खोटे में तमीज़ करना भूल जाएं। जो ठीक है उसे ही सहेजिये, जो ग़लत है उसे उठा कर परे फेंकिये।"

नीरज हंसता हुआ बोला, "भई, अजीब मुसीबत है। पहले सोने की एक ही किस्म होती थी इसलिए सुनार उसी से काम चला लेते थे। अब ये कम्बख्त बीसियों किस्में निकल आई हैं तो इनके लिए कसौटियां भी मुख्तलिफ रखनी पड़ती हैं। लालची जो ठहरे, इसलिए इसी फिक्र में रहते हैं कि खोट में कहीं ग़लती से सोना भी न गंवा बैठें ! ऐसी ऐसी मिलावट की है मिलाने वालों ने कि कई बार कसौटी तक पर शक गुज़रने लगता है ! अपने यकीन के लिए ही दूसरी पर परख कर देख लेते हैं। अगर दूसरी न होगी तो क्या ख़ाक परखेंगे ! फिर हम तो लालची नम्बर एक हैं, बस जहां भी गुञ्जाइश होती है चुरा कर उड़न छू हो जाते हैं।"

मैंने कहा, "नीरज साहिब, आप अहमकपन छोड़िए, मेरी बात मान लीजिए। मुझे यह लेडी डॉक्टर चाल चलन की भी ठीक दिखाई नहीं देती। एक दोस्त के नाते आपको ग़लत राह पर जाते देख, रोकना मेरा फ़र्ज़ बनता है।"

नीरज हंसता हुआ बोला, "भई, चाल चलन के मामले में हम भी कुछ ऐसे दूध धुले नहीं हैं। बस किसी ऐसी ही लड़की की तलाश में थे जो हम जैसी हो। दुनिया वाले अपने चालचलन की दौलत को अपने बहिश्त के लिए संभाल कर रखें, हम तो बदचलन ही अपने दोज़ख़ में अपने इसी सरमाया के सहारे जी लेंगे। भई, तुम्हारा लाख लाख शुक्रिया जो तुमने जैसे को तैसा मिला दिया।" कहते कहते नीरज

अचानक ग़म में डूब गया। कुछ रुक कर बोला, "नहीं नरेन! बात ऐसी नहीं है। डॉक्टर सन्ध्या तो इतनी उजली हैं कि छुए से भी मैली होती हैं। राह चलते बेचारी के कपड़ों पर शायद शरारती लोगों ने गंदे छींटे उलीच दिए हैं। उनका और मेरा मेल नहीं है। हम तो सोना इकठ्ठा करने में ही दिन रात एक किए देते हैं और वे तो उतार उतार कर लोगों में बांटती फिरती हैं। मुझ जैसे स्वार्थी से उन जैसी त्यागी का मेल कहां बैठेगा? बदचलन औरत नहीं होती नरेन, हम ही अपनी बदचलनी उतार-उतार कर उसे पहनाते रहते हैं।"

मैं इस भयंकर मार से तिलमिला उठा। नीरज ने डॉक्टर सन्ध्या की सफाई कहां पेश की थी? उसने तो मेरे कानों में चिल्ला चिल्ला कर कहा था, "बदचलन तुम हो, फरेबी तुम हो, मक्कार और धोखेबाज़ तुम हो। तुमने ही अपनी बदचलनी अपने जिस्म से उतार कर मनोरमा और रेणुका पर लाद दी है। तुम तो गन्दी नाली के कीड़े हो, तुम्हारी यह हिम्मत कि डॉक्टर सन्ध्या को बदचलन कहो? कभी रेणुका और मनोरमा के पापों में अपना चेहरा देखने की कोशिश की है? तुम क्यों करने लगे ऐसी बेवकूफी? तुम तो अक्लमंद लोगों के सरताज हो। तभी तो तुमने मनोरमा और रेणुका को टुकड़े टुकड़े कर के परे फेंक दिया है। जाओ, दोस्त समझ कर माफ किया। फिर कभी ऐसी कमीनी हरकत न करना। मैं ज्यों ज्यों तुम्हें मुंह लगाता हूं तुम सिर पर चढ़े जाते हो। डॉक्टर सन्ध्या को कुछ कहने से पहले अपने गिरेबान में झांक कर देखो ताकि तुम्हारे दिल का ज़हर किसी के कानों में न टपके। पहले खुद नेकचलन बन लो फिर खुशी से ये बदचलनी के सर्टिफिकेट्स बांटते फिरना। मैंने तुम्हें माफ कर दिया है तो इसका मतलब यह नहीं कि तुम पारसा बन गए हो? मैंने तुम्हें माफ करके पारसा बनने का एक मौका और दिया है, ज़रा समझ से काम लो। अपने गुनाहों को लोगों की निन्दा का सहारा ले कर मत छिपाओ।"

मैं चीख़ उठा, "बन्द करो यह बकवास। किस नामाकूल ने तुम से रहम की दरख्वास्त की थी? कसम दिलवा लो जो आज के बाद तुम जैसे कमीने दोस्त के घर में भूल कर भी कदम रखूं? मैं बदचलन हूं तो तुम्हें इससे क्या? तुम और वह लेडी डॉक्टर की बच्ची दोनों ही तो ज़माने भर के शरीफ़ हो। खूब मज़े से रहो, लेकिन तुम्हें किसी को गाली निकालने का क्या हक है? देख लूंगा मैं तुम्हें और उस डॉक्टर की बच्ची को! कौन सूअर तुमसे माफी मांगता है? तुम दोनों को खुली छुट्टी है, तुम जो कुछ मेरा बिगाड़ना चाहते हो बिगाड़ लो। दोस्त बने फिरते हो। घर आए दोस्त को बुरा भला कहते तुम्हें शर्म नहीं आती? मैं बदचलन हूं इस पर मुझे नाज़ है लेकिन तुम जैसा कमीना नहीं हूं कि कमीनों के मुंह लगूं।"

नीरज अवाक् सा मेरी ओर आंखें फाड़े देखता रहा। उसके लाख रोकने पर भी मैं उसके घर से चला आया। लाख जी चाहता है कि उससे जाकर माफी मांग लूं लेकिन उसकी दृष्टि का सामना करने की कल्पना करते ही मन कांप जाता है। जानता हूं कि उसकी आंखों में वही चिर परिचित दया और क्षमा मिलेगी जिसके बोझ तले व्यक्ति बुरी तरह पिस जाता है।

मैं सचमुच इस सितार को उठा कर जला दूंगा जिसके तारों से अब इन चीखों और कर्णकटु ध्वनियों के अतिरिक्त कुछ भी तो झंकृत नहीं होता!

देशभक्त, समाज सेवक, महान कलाकार, महान गीतकार, सुविख्यात नाटककार, त्यागी, बलिदानों की जीती जागती तस्वीर, सक्रिय कार्यकर्ता, यथार्थवादी, मार्क्सवादी, जनता का पुत्र, जन संघर्ष के अग्रभाग का योद्धा न जाने क्या क्या कह कर, क्या क्या समझ कर अपने को ठगता रहा हूं। इस आत्मनिरीक्षण, मनोविश्लेषण के आइने में आज जब सूरत देखी है तो अपने इस घिनौने रूप को देख

कर जिसमें से लगातार कोढ़ फूट रहा है, मेरी रूह कांप गई है। सही यथार्थवादी तो नीरज है जो इस कोढ़ फूटती सूरत से भी नफरत नहीं करता, लगातार इसे साफ किए जा रहा है, ज़ख्मों को धोये जा रहा है, इस नाचीज़ की चिकित्सा किए जा रहा है।

लेकिन चिकित्सा का जो गर्व करता है, वह मुझ से सहन नहीं होता। तभी तो उठ कर उसके घर से भाग आया, फिर कभी उसके घर नहीं गया। न जाने किस मनहूस घड़ी में नीरज का चित्र अपने घर में टांग लिया था! ले दे कर एक शराब की बोतल ग़म ग़लत करने का बेहतरीन इलाज रह गई थी, वह इलाज भी हाथ से जाता रहा। जब भी ग़म ग़लत करने के लिए शराब की बोतल की ओर हाथ बढ़ाता हूं, चित्र में बैठा नीरज अनोखी दृष्टि से मेरी ओर देखने लगता है, हाथ कांप कर बोतल बगैर छुए पीछे लौट आते हैं। कुछ समझ में नहीं आता कि मैं क्या करूं, कहां जाऊं, इस ग़म के समुन्दर में से कैसे निकलूं?

सोचा था मेरा आत्मदाह ही मुझे यथार्थ की ठोस धरती पर ला खड़ा करेगा, मुझे मंज़िलों तक पहुँचाएगा। कभी स्वार्थी, लोभी, दम्भी, पाखण्डी और चरित्रहीन आज तक मंज़िलों पर पहुँचे भी हैं, जो मैं ही पहुंचूंगा? मनोरमा और रेणुका की जीवन नौकाओं को अपने काले कारनामों को छिपाने के लिए बीच भंवर में डुबा आया लेकिन उनकी मुर्दा रूहों की चीखों के मारे तो आसमान फटा जा रहा है, ये चीखें तो हरेक जगह गूंज रही हैं। कितने दिन हुए घर में निठल्ला पड़ा हूं, बाहर निकलते ही रूह कांप जाती है। ज़िन्दगी में हमेशा ही तो अपने आप को ठगता रहा हूं। मंज़िलें तो बहादुरों के कदम चूमा करती हैं और मैं तो 'रामगुप्त' था, मुझे मंज़िलें कैसे मिलतीं? अब तो बस एक ही इच्छा बाकी रह गई है कि कब ज़िन्दगी का सफर ख़त्म हो, कब इस बोझ से छुटकारा मिले!

● ● ●

क़िला और ताज देखते समय शचीन बाबू न जाने क्या क्या बताते रहे ? कुछ सुनती तो शायद समझती भी, सुना ही नहीं तो समझती कहां से ? मुझे चुप देख मिसेज़ कपूर समझीं कि मैं शचीन बाबू की बातें दत्तचित हो कर सुन रही हूं। मुस्कराती हुई बोलीं, "रेणु, यह शचिन बड़ा विचित्र लड़का है। बचपन से ही इसकी, दूसरों का सिर खाने की आदत है। और अब तो इतिहास का प्रोफ़ैसर बन गया है, भला अब क्यों चुप रहने लगा ?" फिर शचीन बाबू की ओर देखती हुई बोलीं, "तुम दोनों अब यहां से भाग कर जाने वाले नहीं हो। सारा इतिहास अगर एक ही दिन में न भी पढ़ाया जाए तो काम चल सकता है।" बातें करते करते हम लोग मीना-बाज़ार के करीब पहुँच गए थे। मिसेज़ कपूर बोलीं, "शचिन, यहां चीज़ें बहुत बढ़िया मिलती हैं रे ! फॉरेनर्ज़ यहां से बहुत कुछ समेट समाट कर ले जाते हैं। तुम लोग साथ हो तो कुछ खरीदने का मोह हो आया है। आओ तो कुछ देख डाला जाए ?" शचीन बाबू बोले, "माता जी, कहते हैं कि बम्बई कलकत्ता तक में जो लोग होशियारी से अपनी पॉकेट, बचा लेते हैं, उनकी जेबें यहां पर साफ़ हो जाती हैं।" कहते कहते शचीन बाबू पहाड़ी झरने की सी हंसी हंस पड़े। मिसेज़ कपूर बोलीं, "प्रोफ़ैसर बन कर भी तेरी कंजूसी वैसी की वैसी बनी है। आज जब तक तेरी जेब से सब रुपए खतम नहीं होंगे, मैं चैन नहीं लूंगी।" शचीन बाबू मेरी ओर देखते हुए बोले, "तांगे के लिए तो रुपए आपके पास निकल ही आएंगे ? न हों तो अभी बता दीजिए

वर्ना पैदल घर पहुंचते पहुंचते अगर कहीं हम राह में ही ढेर हो गए तो बेचारे आगरा के लोगों को एक नया ताजमहल बनवाना पड़ेगा। मैं तो आगरा का अच्छी तरह वाकिफ़ हूं। सच मानिये यहां की गर्मी ऐटम बम का गोला समझिये!" शचीन बाबू की बात सुनते सुनते अचानक मुझे हंसी आ गई। मिसेज़ कपूर बोलीं, "अच्छा बातें न बना, निकाल कितने रुपये हैं?" हम लोग किला देखने की भूल, दुकानें देखने में उलझ गए। मिसेज़ कपूर ने दरी, थालियां और कुछ दूसरी चीजें खरीद डालीं। शचीन बाबू को संगमरमर का छोटा सा ताजमहल बहुत पसन्द आया। अपनी पसन्द पर मेरी पसन्द की मोहर लगवाने के बाद उन्होंने वही खरीद लिया। मिसेज़ कपूर बोलीं, "रेणु, तुमने कुछ भी नहीं खरीदा?" मैंने कहा, "अभी तक जो कुछ खरीद डाला गया है, उसी का बोझ बहुत है। इतना ही घर तक पहुंचे वही ग़नीमत।" शचीन बाबू बोले, "देखिये, माता जी कहती हैं तो आप भी ज़रूर कुछ खरीद डालिये। सोचा था आज का दिन डायरी में सुनहरे अक्षरों में लिखा जायेगा लेकिन कहां? लिखना पड़ेगा — टाइम एण्ड मनी वेस्टिड इन शॉपिंग ड्यू टु मदर्ज़ विज़डम—" मैंने हंसी हंसी में तारों से बना खिलौना खरीद लिया जिसे किसी तरफ भी मोड़ने से कोई न कोई आकृति बन जाती।

जीवन में क्या महत्त्वपूर्ण है और क्या महत्त्वहीन है, कौनसी बात साधारण है, कौनसी असाधारण है, क्या कुछ गौण है, क्या कुछ मुख्य है इसका हिसाब किताब कभी भी ठीक ठीक नहीं बैठ पाता! इतिहासज्ञ, मनोविज्ञानवेत्ता अथवा दार्शनिक बाद में भले ही अपने अपने अनुसन्धानों, परीक्षणों और तर्क वितर्कों द्वारा अपने मन चाहे सार और परिणाम निकाल कर सामने रख दें परन्तु उस विशेष क्षण के दौरान निश्चित रूपेण कुछ कह पाना शायद उनकी सामर्थ्य से भी बाहर होता है। बाद में हम हिसाब बैठाते हैं, ऐसा न होता तो वैसा होता।

होना तो यह था परन्तु अकस्मात् यह हो जाने से, यह न होकर, वह हो गया !

जीवन में, चाहे वह व्यक्ति का हो अथवा समाज का, इस 'अकस्मात्' का बड़ा प्रबल हाथ है। मैं तो समझती हूं कि यह 'अकस्मात्' ही जीवन का सबसे बड़ा निर्णायक तत्त्व है क्योंकि यह हमारी इच्छा से नहीं होता, अपनी इच्छा से, अपनी रुचि अनुसार होता रहता है। यह 'अकस्मात्' जब भी होता है तो हमें नोटिस देकर नहीं होता, बस बग़ैर नोटिस दिए आ धमकता है और देखते देखते कहीं का कहीं निकल जाता है। इसके एक इशारे से पलक झपकते ही साधारण, असाधारण हो जाता है; गौण, मुख्य हो उठता है। हम देख देख कर हैरान होते हैं कि जिसे हमने गौण समझ कर छोड़ दिया था वह मुख्य बन कर कैसे राह रोके खड़ा है ? जिसे हमने साधारण समझ कर ठुकरा दिया था वह असाधारण बन कर सारे जीवन को क्यों ढंके ले रहा है ?

सोचती हूं, और सोच सोच कर हैरान होती हूं कि यह तारों को तोड़ मरोड़ कर बनाया छोटा सा खिलौना, जिसे उस दिन मीना-बाज़ार से हंसी हंसी में ख़रीद लिया था जिसे तुच्छ समझ कर, सब चीज़ें करीने से सजाने सहेजने के बाद किताबों की मेज़ पर लापरवाही से फेंक दिया था, वही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कैसे हो उठा है ? संगमरमर के शानदार उजले ताज के मुकाबले में यह बेढंगा सा, छोटा सा खिलौना किस शान से, पूरे इतमीनान के साथ सिर उठा कर खड़ा हो गया है !

खिलौना ख़रीदते समय कहां सोचा था कि मेरे लिए यही सबसे मुख्य, सबसे महत्त्व पूर्ण हो उठेगा ! कहां जान पाई थी खरीदते समय कि 'अकस्मात्' के स्पर्श मात्र से यही यथार्थ रह जाएगा, शेष सब अयथार्थ बन कर कुहासे की तरह सूर्य किरणों के प्रचण्ड आघात से कहीं अदृश्य में विलीन हो जाएगा ?

शचीन बाबू ने मुझे भी अपनी तरह पी० एच० डी० समझ लिया है। गुप्त काल से सम्बन्धित इतिहास की अत्यन्त कठिन पुस्तक पढ़ने के लिए दे गए। तीन चार पृष्ठ पढ़ते ही दिमाग़ चकराने लगा तो उसे बन्द करके एक ओर रख दिया। अचानक, व्यर्थ की चीज़ समझ कर फेंके उस खिलौने पर जाकर नज़र अटक गई। अचानक ही वह उंगलियों से आ उलझा, अनजाने ही घुमा फिरा कर उससे विभिन्न आकृतियां बनाती रही, खेलती रही और तब अचानक पलक झपकते ही वह व्यर्थ समझ कर फेंका खिलौना मेरी ज़िन्दगी की कहानी का प्रतीक बन गया।

सोचने लगी विधाता ने मेरी ज़िन्दगी भी, ऐसी ही पतली पतली तारों को तोड़ मरोड़ कर, बिल्कुल इस खिलौने जैसी ही बना डाली है। लोग आते हैं, इसे मामूली सी चीज़ समझ कर उठा लेते हैं, हाथों में लेकर घुमाते फिराते रहते हैं अपने मन पसन्द की आकृतियां बनाते रहते हैं और खेल से उकताने के बाद, खिलौने को एक ओर फेंक देते हैं।

प्रवीण आया, खूब खेलता रहा और फिर उकता कर इसे एक ओर फेंक गया। नरेन आया, घुमा फिरा कर अपनी मन पसन्द आकृतियां बनाता रहा और झुंझला कर, व्यर्थ समय नष्ट न करने की बात सोच, इसे तोड़ मरोड़ कर फर्श पर पटक गया। और अब शचीन बाबू आए हैं, कौतूहलवश इसे उठा बैठे हैं, विभिन्न आकृतियां बनते देख आकर्षित हुए हैं और फिर एक दिन विभिन्न आकृतियों की सार-हीनता की सचाई को भली भांति समझ, यह भी इसे अपने स्टडी रूम की खिड़की की राह, बाहर सड़क पर फेंक देंगे। व्यर्थ समय नष्ट न करने की सोच, इसकी ओर से बिल्कुल बेखबर होकर अपनी स्टडीज़ में फिर उलझ जाएंगे।

नीरज बाबू की, अपने मन में जिन्हें हमेशा ही बड़े भैय्या कह कर पुकारा करती हूं, गिनती भी क्या ऐसे ही लोगों में हो सकती है?

मिसेज़ कपूर, डॉक्टर सन्ध्या, ये भी क्या खिलौने से खेलने वालों में हैं ?

बड़े भैय्या, लेखक ठहरे ! पूरे न सही आधे फिलॉसफर तो ये लेखक भी होते ही हैं । एक ही दृष्टि में सब कुछ सोच समझ लेते हैं । सारहीन और महत्त्वहीन वस्तुओं में उलझे बग़ैर इन्हें तो केवल अपनी महान रचनाओं में, सुयश प्राप्ति में उलझना आता है ।

डॉक्टर सन्ध्या को मरीज़ों से ही फ़ुरसत नहीं मिलती । खाना खाने तक का तो समय मिलता नहीं, इन खिलौनों की ओर देखने निहारने की फ़ुरसत उसे कहां ? मिसेज़ कपूर उनमें से हैं जो प्रत्येक विचित्र, विलक्षण, अनोखी और अद्‌भुत वस्तु को अपने संग्रहालय की शोभा बढ़ाने के लिए जुटाती रहती हैं । करीने से ऐसे स्थान पर सजाती रहती हैं जहां पड़ी पड़ी वह दर्शकों को अपनी ओर आकृष्ट करती रहे, अपनी विलक्षणता और अनोखेपन में उलझाती रहे । दर्शक मन्त्रमुग्ध से संग्रहालय की वस्तुओं को देखते रहें और मिसेज़ कपूर की अटूट लगन की, कलात्मक रुचियों की प्रशंसा करते रहें ।

विलक्षणता और अनोखेपन की ओर आकृष्ट होने की प्रत्येक व्यक्ति की सहज जात प्रवृत्ति होती है । इस विलक्षणता और अनोखेपन का अपनेआप में शायद कोई महत्त्व नहीं है अन्यथा आज का विलक्षण और अद्‌भुत, कल का साधारण और कॉमन क्यों बन जाता है ? शायद हमारी विशेष मानसिक स्थिति, मनोभावनाएं तथा अनुभूतिशील कर्मेन्द्रियां ज्ञानेन्द्रियां और हमारा विशेष दृष्टिकोण ही साधारण को विलक्षण बना देता है । यह भी हो सकता है कि वस्तु या व्यक्ति विशेष से हमारा परिचय ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है, उसकी विलक्षणता तथा अनोखेपन का जादू प्रभावहीन होता जाता है ! यदि विलक्षण के साधारण बनने की यही प्रक्रिया है तो फिर हमें किसी के साधारण या कॉमन बन जाने के बाद निराशा क्यों

होती है, हम विक्षिप्त क्यों हो उठते हैं ? इसमें अनहोनी तो कुछ भी नहीं है, फिर हम अवश्यम्भावी को अनहोनी कह कर चीखते चिल्लाते क्यों हैं ? वेदना से, व्यथा से छटपटाने क्यों लगते हैं ? व्यक्ति यदि जीवन तथ्यों को जैसे का तैसा समझना परखना सीख जाए तो शायद दुनिया के बहुत से दुख और कष्ट समाप्त हो जाएं।

मेरी आदत भी शायद विशेष परिस्थितियों में रहने के कारण वास्तविकताओं और तथ्यों को तोड़ मरोड़ कर, अपने दृष्टिकोण में फिट वैठा कर देखने की बन गई है। यह तोड़ मरोड़ कर देखने की आदत ही हमें दुखित करती है, बेचैन करती है, कभी हंसाती है, कभी रुलाती है। यदि हम यह समझ जाएं कि असाधारण एक दिन साधारण बनेगा ही, यही उसकी चरमावस्था है, जो विलक्षण बन कर आया है वह अवश्य ही एक दिन अपनी विलक्षणता त्याग, नई विलक्षणता के लिए स्थान छोड़ जाएगा, तो शायद हमें दुःख न हो। हम एक मोह से तब तक चिपटे रहना चाहते हैं जब तक उससे बड़ा मोह आकर उपस्थित नहीं हो जाता, हमें अपनी ओर आकर्षित नहीं करता। जब हम मोह के खो जाने को ही सब कुछ समझते हैं तभी रोते पीटते हैं। मेरे दुःख का भी यही कारण है।

प्रवीण जब मोह त्याग चला गया तो दुःख इसलिए था कि अब कुछ भी प्राप्त नहीं होगा। नरेन के रूप में जब उससे बड़ा मोह प्राप्त हुआ तो प्रवीण के अस्तित्व की बात न जाने कहां विलीन हो गई ? आज तक बहुत दुखी थी, जब से शचीन बाबू घर में आए हैं मानों इन्हें देख कर दुःख किसी कोने में दुबक गया है।

सोचते सोचते मेरा तो दिमाग़ चकराने लगता है। जो राजपूतनियां अपने पतियों के मरने पर जौहर की आग में कूद पड़ती थीं, हंसते हंसते जल मरती थीं, वे क्या पागल थीं ? अपने मृत पतियों के साथ स्वेच्छा से चिता में बैठने वाली स्त्रियां, भले ही उनकी

गिनती थोड़ी रही हो, किस महान सत्य से प्रेरित थीं ? अगर वे पागल थीं तो इतिहास में अटल नक्षत्रों की तरह क्यों जगमगा रही हैं ? मुझ जैसी जगह जगह गिरती पड़ती स्त्रियों के नाम इतिहास के किसी पृष्ठ पर भी तो दिखाई नहीं देते ? समझ में नहीं आता कि उन्होंने जिस सत्य के दर्शन किए थे वह ठीक है अथवा मैं जिस सत्य को समझने का प्रयत्न कर रही हूं, वह ठीक है ?

कहीं ऐसा तो नहीं कि जो कुछ मैं हूं वह विलक्षण नहीं है और जो कुछ वे थीं वह विलक्षण था अतः इतिहासकार उसी विलक्षण की ओर आकर्षित हुए हों। असाधारण ही तो इतिहास बनता है, साधारण, इतिहास कहां बनता है ? यही तो शचीन बाबू भी कहा करते हैं। तो क्या जो कुछ साधारण है वह केवल इसीलिए त्याज्य है क्योंकि वह इतिहास का अंग नहीं बन सका ? क्योंकि यह मेरे द्वारा अनुभूत सत्य साधारण है तो क्या इसीलिए यह निरर्थक है ? पता नहीं चलता कि कब कौन साधारण, असाधारण हो उठता है ? शायद मेरा सत्य ही किसी दिन विलक्षण बन जाए ? इतिहासकार जिसे आज आकर्षणहीन समझ रहे हैं, कल शायद उसी की ओर आकर्षित हों ? मैं अपने अनुभूत सत्य को दूसरों द्वारा अनुभूत सत्य की चमक दमक देख कर क्यों बदलूं ? मैं तो इसे ही सहेज कर रखूंगी, व्यर्थ समझ कर फेंकने की मूर्खता नहीं करूंगी।

शचीन बाबू कह रहे थे, "इतिहास को पूरी ईमानदारी से समझ पाना अत्यन्त कठिन है। इन्सान ने लोभ, स्वार्थ, वर्गहित, घृणा, ईर्षा, धर्म की झूठी मर्यादा, अहंकार और दम्भ में पागल होकर इस इतिहास को इतना पीटा है, इतना घायल किया है कि इसका असली चेहरा तक पहचान पाना कठिन हो गया है। मैं तो समझता हूं कि इतिहासकार की साधना भी किसी महायोगी की साधना से कम नहीं होती।"

यदि शचीन बाबू की बात सत्य है तो फिर मुझे उस इतिहास के प्रति इतना लोभ क्यों हो जिसकी सूरत तक पहचानी नहीं जाती? मैं तो इस इतिहास की ऐनकों को परे रख, अपने द्वारा अनुभूत सत्य की दृष्टि से अपने जीवन को देखूं परखूंगी।

कल की वास्तविकता को जो लोग आज की अवास्तविकता कह कर अपने आप को ठगते हैं, ऐसे आत्म प्रवंचकों पर मुझे झुंझलाहट हो आती है। मैं तो प्रत्येक घटना को, अणु अणु को यथार्थ की दृष्टि से परखना चाहती हूँ। अगर कोई वस्तु कल हमारे पास थी और आज नहीं रही, तो कल का होना झूठ कैसे हो जाता है? जो लोग आज के न होने से, कल के होने को भी ढंकना चाहते हैं ऐसे लोगों की मन्दबुद्धि पर मुझे तरस आता है। आज का न होना जितना सत्य है, कल का होना भी उतना ही बड़ा सत्य है। कल के होने को अस्तित्वहीन और आज के न होने को महासत्य बना कर जो लोग जीवन का लेखा जोखा बैठाना चाहते हैं उनके हिसाब गड़बड़ा जाते हैं। मैं अपने दिमाग़ के ठीक रहते एक एक रकम ठीक लिखूंगी। कल चार आए तो वही कहना होगा, आज छः हाथ से खर्चे तो वह भी कहना होगा। मुझे नीरज भैय्या की तरह घटनाओं को छोटा बड़ा बना कर देखना नहीं आता। मैं तो जीवन की प्रत्येक घटना को उसके सही रूप में समझना चाहती हूं।

प्रवीण का जीवन से चले जाना जितना बड़ा सत्य है, आना भी उतना ही बड़ा सत्य है। अगर मैं कल की रेणुका बन कर अपने को परखूं तो कल के प्रवीण को झुठलाते मुझसे नहीं बनेगा। वह उम्र ही ऐसी होती है जब लड़कियां दिल और दिमाग़ की बात भूल कर केवल शरीर की बात ही याद रखती हैं। आयु के उसी भाग में प्रवीण मिला था। मिलिटरी यूनीफॉर्म में निकलता तो यूं लगता मानों सिकन्दर चला आ रहा हो। मैं तो पहले दिन ही उसकी शकल सूरत, चाल

ढाल, वेष भूषा और हृष्ट पुष्ट पहलवानों का सा शरीर देख कर उस पर लट्टू हो गई थी। बोलता तो यूं लगता मानों बादल गरजा हो। शेर का पंजा पकड़ ले तो बेचारा शेर हांफने लगे। मेरी ओर जिन नज़रों से देखता, उन्हें देख मैं सहेलियों के सामने उसे कोसा करती लेकिन अकेले में उन नज़रों पर मर मर जाती।

उस दिन कूंए पर अकेली पानी भर रही थी। प्यास का बहाना करके कूंएं तक चला आया। ओक से पानी गिरता रहा और वह मेरी ओर देखता रहा मुस्कराता रहा। जाने मेरा जी कैसा कैसा हुआ कि मैंने सारा पानी एक दम उलट दिया। उसे खांसी आ गई, उसके कपड़े भीग गए। बोला, "थोड़ा पानी अगर और होता तो शायद दिल तक भी पहुंच जाता।" मैंने कहा, "यहां से भागता है या शोर मचाऊं?" बोला, "अब तो भागता हूं लेकिन रात को महन्तों के बाग में ज़रूर मिलना।"

फिर कितनी ही चांदनी रातें, कितनी ही अन्धेरी रातें बीत गईं लेकिन हमारी मुलाकातें कभी न रुकीं। आज भी उन रातों की मधुर स्मृति मन में उसी तरह सुरक्षित है, उसे अपने स्थान से हटा पाना मेरे लिए सर्वथा असम्भव है। तन की भूखी मैं नहीं रही। रही मन की और मस्तिष्क की बात, तो यही कहूंगी कि उस समय जानती ही कहां थी कि तन के साथ मन भी होता है, मस्तिष्क भी होता है? प्रवीण भी शायद तन से परे की बात नहीं जानता था। फिर उन्हीं सरस, सहज, सरल, सकल, सघन, सलज्ज, सलील रातों का क्रम अनायास समाप्त हो गया। प्रवीण बोला, "कल फिर ड्यूटी पर जाना है। अगले साल छुट्टियों पर आऊंगा तो मिलेगी न?" दोनों ओर से खूब वायदे हुए, कसमें खाई गईं, लगातार इन्तज़ार करने की डींगें हांकी गईं मानों यह सारी सृष्टि हमारे आदेशानुसार ही चल रही हो।

अगले साल मैं मैट्रिक पास करके, लायलपुर चली गई। पढ़ाई पर तो मस्तिष्क का ज़ोर था अतः उसने तन की प्रार्थनाओं को एक

ओर झटक दिया। घर आई तो पता चला कि प्रवीण उधर ही से शादी करके लौटा है। गिला शिकवा करने की फुरसत न मुझे थी, न सुनने की उसे। फिर कितने ही घर बसे कितने उजड़े, कितने मरे कितने खपे, कितने उधर से उजड़ कर इधर आ कर फिर बसे! उस साम्प्रदायिक नरमेध में जिसका आयोजन गोरे पुरोहित जाते जाते कर गए थे और पूर्णाहुति का पुनीत कार्य स्वदेशियों के हाथ में सौंप गए थे,कौन, कहां,कब, कैसे समिधा बना,कौन, कैसे बचा ; वह सब कभी मन को मथा करता था अब शायद उस चिनगारी को राख ने अपने में दबा लिया है। प्रवीण कभी जीवन में आया था, उस धुंधली सी याद पर भी दिनों की परतें जमती गईं।

उस दिन लुधियाना से लौट रही थी। गर्मी में प्यास के मारे बुरा हाल था, सोचा पास की दुकान से शरबत का एक गिलास पी कर हलक तर कर लूं। अचानक अपना नाम सुन कर चौंक पड़ी। साथ वाली दुकान से उठ कर प्रवीण मेरी ओर आ रहा था। टांग एक थी, दोनों बगलों में बैसाखी लेकर चल पाता था। चेहरे पर तलवार का निशान बना था जिसने उसके सिकन्दर से सुन्दर मुख को अत्यन्त वीभत्स बना दिया था। बोला, "पहचाना नहीं, मैं प्रवीण हूं।" शरबत पीने की बात बिसर गई, अतीत को पीने की प्यास भड़क उठी। प्रवीण की पत्नी इधर नहीं पहुंच सकी, घर के लोग लाख ढूंढने पर भी नहीं मिले। टांग किसी मोर्चे पर काम आई। कहने लगा, "बड़े मज़े में हूं। गुज़ारा चल जाता है। यह रिक्शा ठीक करने की दुकान अपनी ही है।" पता पूछा तो लिखवाया। कहा, "कभी शाहपुर आओ तो दर्शन देना।"

कुछ ही दिनों बाद अचानक प्रवीण का पत्र मिला तो सोचा उत्तर लिखूं या न लिखूं? लिखूंगी भी तो तन की बात समझने वाला प्रवीण मन की बात कहां समझेगा? कैसे समझ सकेगा कि बीता

समय अपनी कहानी अपने साथ ही समेट गया है, मुर्दा कहानी को उखाड़ने से क्या लाभ ? लाख चाहने पर भी वह तो मुर्दा ही रहेगी। आज की अध्यापिका फिर गांव की नासमझ लड़की बन कर, नासमझी के खेल कैसे खेल सकेगी ?

फिर सोचा यह सब लिखने से टूटा मन और अधिक ही तो टूटेगा ? जोड़ नहीं सकती तो तोड़ना भी कहां की अक्लमन्दी है ? मन की उसी अवस्था में लिख दिया, "ख़त मिला। भगवान तुम्हें सुखी रखे। उमीद है दुकान ठीक चल रही होगी। तुम्हें पिछली बातें याद करने में समय गंवाना शोभा नहीं देता। खत लिखते रहा करो।" प्रवीण को 'ख़त लिखते रहा करो' ही शायद मेरे ख़त में से समझ में आया। वह अजीब अजीब से, मन की वेदना में डूबे, अतीत की स्मृतियों में पगे, वर्तमान की मरीचिका में भटके पत्र लिखता रहा। मैं बटोरती रही, उत्तर न दे सकी। प्रवीण को मरीचिका की वास्तविकता का ज्ञान शायद मेरे मौन ने करा दिया अतः उसने भी मरीचिका से मुक्ति पाई।

कहां सोचा था कि वही पत्र नरेन के प्रति मेरी साधना को ले डूबेंगे ? सोचा था प्रेम न सही, दया के सहारे ही नरेन के साथ जी लूंगी। इस दया का सहारा पाकर ही उसके लड़खड़ाते कदम संभल जाएंगे। कहां पता था कि इस 'अकस्मात्' के एक ही इशारे से सब कुछ बदल जाएगा ? मेरा ख्याल था कि मुझे नरेन से प्रेम भले ही न हो, भले ही उसे दया की भीख मिली हो परन्तु उसका विश्वास ही उस दया की भीख को वरदान बना डालेगा। अगर जानती कि नरेन सन्देह लेकर मेरी दया का सहारा लेने चला है तो मैं उस सन्देह को उसी दिन समाप्त कर डालती। अच्छी बुरी जैसी भी थी सारी कहानी उससे कह देती। मैंने चाहा था कि नरेन असीम व्यथाओं और वेदनाओं के भंवर में से मेरी दया का सहारा लेकर निकल आए,

किनारे पर बैठ कर सुस्ता ले, स्वस्थ मन हो ले, फिर से चलने की शक्ति संजो ले तो उससे सब कुछ कह दूंगी, कुछ भी नहीं छिपाऊंगी। वह सुअवसर तो हाथ ही नहीं आया ! किनारे पर पहुंचने से पहले ही सन्देह के मगरमच्छ ने उसे फिर पांव से पकड़ कर अतल गहराइयों में खींच लिया !

कितनी बार सोचती हूं कि उसे धीरज बंधाऊं, खत लिख दूं लेकिन फिर ख्याल हो आता है कि मुझ भाग्यजली के पत्र उसके रहे सहे जीवन को भी अस्त व्यस्त न कर दें ? मेरे सच्चे, सुच्चे, दया भीगे, स्नेह पगे, बोलों को सन्देह के विष पात्र में गिर कर विषमय बनते देर कहां लगेगी ? यह भी भय होता है कि नरेन के पत्र मेरे इस फिर से बन रहे नीड़ में कहीं आग न लगा दें ?

क्षोभ में समझ बैठी कि प्रवीण खिलौने से खेल, उसे फेंक गया ! मुझे तो यूं लगता है कि हम सब पतली पतली तारों को तोड़ मरोड़ कर बनाये खिलौने हैं। कोई अदृश्य शक्ति हमें घुमा फिरा कर, विभिन्न आकृतियां बना बना कर हम से मन बहलाया करती है और जब जी भर कर खेल लेती है तो हमें उठा कर एक ओर फेंक देती है।

शचीन बाबू एक दिन बता रहे थे, "हैदराबाद का सालारजंग म्यूज़ियम अपनी मिसाल आप है। देखते देखते आदमी का दिमाग़ चकरा जाता है।" उस अनोखी घड़ी की बात बता रहे थे जिसके बीच में झोंपड़ी बनी है। झोंपड़ी में से नन्हा सा आदमी निकलता है, बारह बार घंटा बजा कर फिर झोंपड़ी में चला जाता है। बनाने वाले कारीगर ने कमाल कर दिया है।

मिसेज़ कपूर भी संग्रहकर्त्री नहीं हैं अपितु घड़ी के उस नन्हें से मशीनी आदमी जैसी हैं। किसी कारीगर ने इनकी ड्यूटी भी, बेजान मशीन की तरह, इधर की चीज़ उधर और उधर की चीज़ इधर रखने की

लगा छोड़ी है। मशीनरी घूमती रहती है और यह उस घड़ी के नन्हें से आदमी की तरह हरकत करती रहती हैं, बग़ैर समझे, बग़ैर सोचे, बग़ैर चाहे, बग़ैर जाने। मैं इन्हें ग़लती से संग्रहालय की मालिक समझ बैठी थी, ये तो खुद एक अजीबोग़रीब खिलौना हैं।

परन्तु नरेन का दृष्टिकोण तो सर्वथा भिन्न है। वह कहा करता है, "इन्सान बेजान मिट्टी का खिलौना नहीं है कि इसे जब चाहे तोड़ डाला जाये। इन्सान तो बस इन्सान है। यह माहौल में सिर्फ ढलता ही नहीं बल्कि माहौल को ढालता भी है। अगर इन्सान बेजान खिलौने की तरह हवा पानी में सिर्फ टूटने भर की ताकत रखता तो तबदीली तो होती मगर तरक्की न हो पाती ?"

अलग होते समय भी तो नरेन ने यही कहा था, "रेणु ! यह ठीक है कि उथल पुथल में हम टूट गये हैं लेकिन यह भी सही है कि हमारे टूटने के साथ साथ कुछ बनने के आसार भी दिखाई दे रहे हैं।"

मैंने कहा था, 'नरेन, तुम तो सदा ही नीरज बाबू के आदर्शवाद की हंसी उड़ाया करते हो। आज उन्हीं जैसी आदर्शवादिता में क्यों उलझ रहे हो ? मैंने टूटना देखा है अतः उस तक ही जानती हूं। इसमें से कौनसा नया बनेगा मैं नहीं जानती हालांकि तुम जैसी बात नीरज बाबू से कह कर अपने आप को ठगने का प्रयत्न मैंने भी किया है।"

नरेन ने कहा था, "रेणु, दूर की चीजें हमेशा धुंधली दिखाई दिया करती हैं।" मुझे नीरज भैय्या का कहा याद हो आया था। मैंने कहा था, "सूर्य पृथ्वी के अत्यन्त निकट नहीं चला आता इसी में कल्याण है। किसी दिन अत्यन्त निकट सरक आया तो प्रलय होते देर ही कितनी लगेगी ?"

सचमुच नरेन मेरी निकटता के कारण ही झुलस गया। दया

का तो बहाना किया था। दया के दान का नाटक रच कर अपने-आप को ही ठगा था। अपने मन से बात करती हूं तो झूठ क्यों बोलूं? नरेन को पाकर, प्रवीण की रिक्तता भरने का स्वार्थ मुझ में आ बसा था। स्वार्थ और दया ठहरे परस्पर विरोधी अतः स्वार्थ के दर्शन करते ही दया की देवी अन्तर से निकल भागी, रह गई मात्र दया की केंचुल यानि अहं भावना।

नरेन तो प्यासा मरता मुझ तक पहुंचा था। उसे आवश्यकता थी पवित्र जल की। स्वार्थ के स्पर्श मात्र से दया के पवित्र और स्वच्छ जल को तेज़ाब बनते देर नहीं लगी। उसे तो प्यास की छटपटाहट में कुछ भी होश नहीं था लेकिन मैं तो होश में थी? यह मैंने क्या किया? उसे प्यास के मारे बदहवास देख कर तेज़ाब का बर्तन उसके मुंह से लगा दिया! तेज़ाब पीते ही नरेन के अन्दर आग लग गई! उसका अंग अंग ऐंठने लगा! सन्देह, अविश्वास और अनास्था के नीले नीले दाग़ उसके चेहरे पर उभर आए। मेरे देखते देखते; उसी नरेन ने जिसे मैं प्यास के मारे छटपटाते देख, पानी पिलाने चली थी, गर्म रेत पर तड़पती मछली की तरह तड़प तड़प कर दम तोड़ दिया। मुझ से तो यह भी न हो सका कि बेचारे की लाश को, जिसे मैंने डायन बन कर खा डाला, श्रद्धा और आदर के कपड़े से ढंक दूं। मैं स्वार्थिन तो उस लाश के चेहरे पर सन्देह, अनास्था, आत्मदाह, अभाव, अतृप्ति के नीले नीले दाग़ों को देख, डर के मारे चीख़ उठी। अन्त समय में उस मृतक को कफ़न तक ओढ़ाना भूल गई। खूब दया का नाटक रचा? मेरे घर से उस इन्सान की लाश, जो माहौल को ढालने की, साज़गार बनाने की बात सोचता था, लड़ते लड़ते थक कर पल भर सुस्ताने मेरे घर तक चला आया था, घावों के भरते ही फिर जूझने की उमंगें जिसके सीने में हिलोरें लेती थीं, बग़ैर कफ़न के उठी! उठी भी कहां?

रूढ़ियों के डोम, मरे पशु की तरह उस लावारिस लाश को, जिसे मैं अपना कहने तक में झिझकती रही, मेरे दरवाज़े से घसीटते घसीटते ले गए !

मैं स्वार्थिन यहां अपना घोंसला फिर बसाने की सोच रही हूं ? उधर डोमों ने किस निर्दयता से उसकी चमड़ी को उतारा होगा ? न जाने क्या क्या बना कर उस चमड़े की कीमत वसूल की होगी ? पता नहीं किन पाओं के नीचे वह मर कर भी ज़मीन पर घिसट रहा होगा ?

और अब शचीन बाबू के साथ भी फिर वही पुराना नाटक रचाने चली हूं। इन्हें भी एक दिन पानी के भुलावे में तेज़ाब पीना पड़ेगा। भुलावे में कहां, मैं स्वार्थिन ही इनके होंठों से तेज़ाब का बर्तन लगा दूंगी। फिर शचीन बाबू की लाश भी बग़ैर किसी कफन के, डोमों के हाथों मेरे दरवाज़े पर घसीटी जाएगी ? उस बार परिस्थितियों को नए सांचे में ढालने वाले बहादुर सिपाही की लाश लावारिस बन कर उठी थी। परिस्थितियां उस सिपाही की मौत पर छाती पीट पीट कर रो उठी थीं जिसके हाथ उनकी उलझी लटों तक पहुंचने से पहले ही बेजान हो गए थे। और इस बार एक साधक की लाश उठेगी, इतिहास की जीवित मंगलमयी देवी, सूनी मांग भरने वाले हाथ को समय से पहले निर्जीव होते देख पाषाण प्रतिमा बन कर रह जाएगी। उस पाषाण प्रतिमा की आंखों से आंसू तक भी तो नहीं ढुलक सकेंगे ताकि उन्हें देख कर ही मानव का पत्थर मन पसीज उठे।

मेरे स्वार्थ का कहीं ओर छोर नहीं है। लोगों से कहने चली थी कि मैं बेजान खिलौना हूं। चाहती थी मेरे इस विचित्र नाटक को देख कर लोगों की आंखों में सहानुभूति के आंसू छलछला आएं। वे मुझ पापिष्ठा को पुण्यमयी समझ बैठें।"

नीरज भैय्या ने कहा था, "रेणु! पाप में इतनी क्षमता कहाँ कि तुम्हारे निकट ठहर सके?" बड़े भैय्या ठहरे निष्कपट और सरल हृदय प्राणि! उन्हें तो सारी दुनिया अपने जैसी ही सरल दिखाई देती है। बड़े लेखक बने फिरते हैं? उन्हें तो नाटक में भी यथार्थ के ही दर्शन होते हैं। मुझ पापिन के नाटक ने तो उनकी आंखों में भी धूल झोंक दी! मुझ पापिष्ठा को जब उन्होंने सरल हृदय से पुण्यमयी कह कर पुकारा तो मारे गर्व के मेरा सिर आसमान को छूने लगा!

नीरज भैय्या ने कहा था, "पानी में कूड़ा कंकर मिल जाते हैं तो क्या वह पानी का अपना दोष होता है? उस कूड़े कंकर को तल में बैठते विलम्ब नहीं होता, पानी फिर स्वच्छ बन जाता है।" बड़े भैय्या की ऐसी बातें सुन सुन कर मैं कितनी प्रसन्न हुई थी। उन्होंने मुझ पापिन को अपनी दृष्टि की उजली चादर से ढंक दिया था। उस चादर को उतार कर मैंने परे फेंका है तो वही चिर परिचित घिनौना रूप आंखों के सामने जी उठा है।

नीरज भैय्या मिलें तो उनसे गला फाड़ फाड़ कर कहूं, "मैं निर्मल पानी नहीं हूं, जिसमें कंकर माटी घुल गए हैं। मैं तो तेज़ाब हूं तेज़ाब! मुझ से दूर रहो। मुझे जो भी छूएगा वही जल जाएगा। मैं पुण्यमयी नहीं हूं, पापिष्ठा हूं। पापिष्ठा होती तो शायद तुम्हारे बरदानों से पाप धुल भी जाते! मैं तो डायन हूं डायन! बस लोगों को मार मार कर खाना, जीते जागते इन्सानों का लहू पीना मेरी आदत है। मांस खाकर, लहू पीकर मदमस्त हो कर नरमुण्डों को पैरों से उछाल उछाल कर नाचने में मुझे बड़ा मज़ा आता है।"

प्रवीण को खाकर पेट नहीं भरा तो नरेन पर झपटी। नरेन का लहू पीकर भी अतृप्त रही तो अब शचीन बाबू का गला घोंटने निकली हूं। वे डायनें और ही होंगी जिन्हें प्राण संकट में डाल शक्तिशालियों

से उलझना आता है? मैं तो कायरता में पली डायन हूं। ग़रीबी, अभाव, यातना, यन्त्रणा तथा व्याधियों के मारे नर-कंकालों पर झपटना ही मुझे पसन्द है। ऐसे निर्बल, थके हारे नर-कंकाल से प्राणि मेरे एक प्रहार से ही गिर पड़ते हैं। मरे तो वे पहले ही होते हैं, मैं तो उन्हें झपट कर गिरा देने में ही शिकार का सा आनन्द अनुभव किया करती हूं। जानती हूं शचीन बाबू भी निर्बल हैं, मेरे एक प्रहार से ही मौत की लपेट में आ जाएंगे।

मिसेज़ कपूर बता रही थीं, "रेणु! शचिन और तुम्हें ब्रह्मा ने शायद एक जैसा भाग्य देकर ही पृथ्वी पर भेजा है। सोचती हूं दो नेगेटिव के मिलने से शायद एक पॉज़िटिव बन सके? एलजबरा में माइनस इन टु माइनस, प्लस बनता है तो सोचती हूं जीवन में भी शायद ऐसा ही हो सकेगा।"

कुछ देर सोचती रहीं। पुनः दीर्घ निश्वास छोड़ती हुई बोलीं, "आज प्रोफैसर बन गया है तो क्या? बड़ा अभागा लड़का है! मिस्टर कपूर के दफ्तर में ही इसके पिता क्लर्क थे। मेरे आगे तो सब घटनाएं किसी फिल्म की तरह घूम जाती हैं। उन दिनों हम लोग बनारस में थे। भट्टाचार्य और उनकी पत्नी से हम लोगों का खूब मेल जोल था। हैजे की ऐसी हवा चली कि एक सप्ताह में पति पत्नी दोनों ही इस अभागे लड़के को संसार में ठोकरें खाने के लिए छोड़ चल बसे!" मिसेज़ कपूर अपने स्वभावानुसार बोलते बोलते रुक गईं। अतीत में देखती हुई अपने आप में खो गईं। कुछ देर बाद डबडबाई आंखों से मेरी ओर देखती हुई बोलीं, "अभी कल ही की बात तो लगती है। मिस्टर कपूर सात साल के नन्हें से शचिन को मेरी ओर बढ़ाते हुए कह रहे हैं—शचिन आज से अपना हुआ गुणी! जानता हूं कि तुम इसे यह महसूस नहीं होने दोगी कि अनाथ ग़ैरों की दया पर पल रहा है। मैं ठहरा शराबी कबाबी। कभी ग़ुस्से

मैं इस लड़के पर हाथ उठाने लगूं तो मेरा हाथ रोक लेने का तुम्हें पूरा अधिकार है।—शराब पीने की उनकी लत थी परन्तु मन के बहुत साफ़ थे। अन्तिम श्वास तक कभी शचिन पर हाथ नहीं उठाया। यह उनकी गोद की ओर लपकता तो पलक झपकते ही उनका नशा ग़ायब हो जाता। एक बार सुरेश ने इसके एक चांटा मार दिया तो मिस्टर कपूर ने उसे बुरी तरह पीट डाला। अन्तिम समय में मुझे पास बुला कर बोले—गुणी! शचिन की पढ़ाई रुकने मत देना।—फिर आंखों में आंसू भर कर बोले—गुणमाया! शचिन ही मेरा बेटा है। यही मेरा क्रिया कर्म करेगा। यही मुझे अपने हाथों गंगा मैया को सौंपेगा।"

कुछ रुक कर पुनः बोलीं, "शचिन, उस साल बी० ए० में पास नहीं हो सका। एक दिन मैंने सुरेश से कहा—ज़रा पता तो लगाना कि आज कल यह शचिन कहां जाया करता है?—सुरेश ने आकर बताया—माता जी! शचिन, वहां दशाश्वमेध घाट पर जलते मुर्दों को टकटकी बांधे देख रहा था और लगातार रोए जा रहा था। मैंने कहा, 'घर चल' तो और ज़ोर ज़ोर से रोने लगा। अभी तक वहीं बैठा है......"

मैं आगे की बात नहीं सुन सकी। मुझे पिछली बातें याद आने लगीं। ड्राइंग रूम में तीन फोटो लगे थे। मेरे पूछने पर मिसेज़ कपूर कहने लगीं, "यही मेरे तीनों बेटे हैं। शचिन, सुरेश और महेश।" मैंने शचिन बाबू के फोटो की ओर उंगली उठाते हुए कहा, "यह तो मुझे बंगाली से लगते हैं।" मिसेज कपूर बोलीं, "रेणुका! यही मेरा सबसे होनहार बेटा है। सुरेश आजकल इञ्जीनियर है, महेश रेलवे में ऑफीसर है। दोनों कितना ही कहते हैं कि अपनी बहुओं के पास आकर रहिए लेकिन मेरा मन तो अपने इसी बेटे में रमता है। हैदराबाद में मेरी छोटी बहिन है। आजकल उसी के पास रहता है। उस्मानिया

यूनिवर्सिटी में इतिहास की एम० ए० करके, डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त करने में जुटा है।"

मैं अचानक ही पूछ बैठी, "इनकी शादी नहीं हुई क्या?" मिसेज़ कपूर बोलीं, "बड़ा ज़िद्दी लड़का है। लाख समझाती हूं, शादी ब्याह के लिए राज़ी ही नहीं होता। कहता है—अभी तो पढ़ रहा हूं, पहले पढ़ाई तो खत्म हो लें?—पता नहीं इसकी यह पढ़ाई बूढ़ा होने तक चलती रहेगी?" फिर कहने लगीं, "परसों ही ख़त आया है। बस पांच छः महीने में यहां आ जाएगा। सचमुच बहुत होनहार लड़का है।"

उसी दिन से प्रतीक्षा में थी कि कब शचीन बाबू आएं, कब उनसे मिलूं? अटैची उठाए ड्राइंग रूम में घुसे तो मैं मेगज़ीन की तस्वीरें देख रही थी। मिसेज़ कपूर उनके हाथ से अटैची लेती हुई बोलीं, "तुझे ख़त में लिखा था न? यही रेणुका है। मेरा 'बाल शिक्षा निकेतन' इसके कारण आज कल खूब तरक्की कर रहा है।" शचीन बाबू हंसते हुए बोले, "मैंने तो आते ही समझ लिया था कि सुक्खू आज कल मुफ्त की पैंशन खा रहा होगा। खैर, आपकी नई मैनेजर सचमुच बहुत लायक हैं। देखिए न, माता जी! घर कैसा म्यूज़ियम की तरह सजा है? मुझे तो यूं लगता है कि सालारजंग म्यूज़ियम के किसी शानदार कमरे में खड़ा हूं।" मैं शचीन बाबू की बातें सुन कर अपने आप में सिमटी जा रही थी। चिर-परिचित की सी आवाज़ में बोले, "आप म्यूज़ियम का बुत थोड़े ही हैं? आप भी बुतों की तरह खामोश रहेंगी तो हमारा दम नहीं घुट जाएगा क्या? माता जी तो हैं ही मौन साधिका कहीं आपने भी उनसे वही शिक्षा तो नहीं ले ली?" मैंने पहली बार उनकी ओर आंख उठा कर देखा तो यूं लगा मानों फ्रेम में जड़ी मुस्कराती तस्वीर बोल उठी हो।

ध्यान टूटा तो मिसेज कपूर कह रही थीं, "यह विवाह का बन्धन भी मनुष्य की इच्छा पर निर्भर नहीं करता। जन्म लेते ही विधाता विवाह का भी निर्णय कर देते हैं। जिसके साथ भाग्य बंधा है वही कहीं से भूलता भटकता अचानक द्वार पर आ खड़ा होता है। शचिन लाख ज़िद करे, विधाता का लिखा मिटाने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। उसमें क्या हम में से किसी में नहीं है।" पुनः बोलीं, "सुरेश कहा करता है कि मनुष्य प्रकृति पर विजय पा रहा है। विध्वंस को निर्माण में परिवर्तित कर रहा है। मुझे तो उसकी बातों पर हंसी आती है। मनुष्य एक पल बाद की बात जानता नहीं और प्रकृति पर विजय पाने चला है? मैं कहती हूं भाग्य बहुत प्रबल है। ईश्वर, भाग्य, प्रकृति इनके सामने तो मनुष्य दुधमुंहा बच्चा है।" कुछ देर रुक कर बोलीं, "शचिन, तुमसे खूब वाग्युद्ध, वार्तालाप, विचार विनिमय किया करता है, उसकी भाग्य के बारे में क्या राय है?"

मुझे याद नहीं पड़ता कि कब मैंने शचीन बाबू की तरह मिसेज कपूर को 'माता जी' कहना शुरु किया था। जो मिसेज़ कपूर थीं, वही अचानक शचीन बाबू के किसी जादू से मेरे लिये भी माता जी बन गईं। जिस दिन पहले पहल मैंने मिसेज़ कपूर को 'माता जी' कह कर सम्बोधित किया था, शचीन बाबू हंसते हुये बोले थे, "शुक्र है खुदा का कि आज आपके दिल की बात ज़ुबान पर आई है।" फिर मिसेज कपूर की ओर देखते हुये बोले थे, "माता जी, आज अवश्य ही प्रसाद बांटिएगा क्योंकि आपकी बेटी ने मन की बात कहना सीखा है।

मैंने कहा, "माता जी, शचीन बाबू तो भाग्य के किये पर क्यों कब और कैसे की मोहरें लगाया करते हैं। ऐसा व्यक्ति भाग्य के बारे में कह ही क्या सकता है?"

मिसेज कपूर बोलीं, "मोहरें लगा कर व्यक्ति अपने आप में भले ही सन्तोष प्राप्त कर ले, उसके ऐसा करने से भाग्य कहां बदलता है?

मिस्टर कपूर बच्ची का मुंह देखने के लिए तरसते रहे, परन्तु भाग्य में नहीं था। मुझे क्या ख़बर थी कि जिसे देखने की लालसा लिए वे इस दुनियां से चले गए, वही किसी दिन अचानक मेरे कान में आकर 'माता जी' कह देगी?"

उनकी, सच्चे हृदय से निकली वाणी सुन कर मेरी आंखों में स्नेहाश्रु छलछला आए।

मिसेज कपूर बोलीं, "जब उस अन्तर्यामी की दया से तूने बिछुड़ी मां को ढूंढ ही निकाला है तो मां का कर्तव्य तो निबाहना ही होगा! वे होते तो इस सब की चिन्ता उन्हें होती, वे नहीं हैं तो उनके हाथ लगने वाला सुयश भी मुझे ही बटोरना होगा।" बोलते बोलते मिसेज कपूर अपने आप में खो गईं। चिन्तन की गहरी खाई से निकलती हुई बोलीं, 'शेखचिल्ली की तरह अजीब अजीब सपने देखा करती हूं। मुझे चिन्ता क्यों हो? जो कुछ आज तक हुआ है, वह क्या मेरे चाहे से, मुझसे पूछ कर हुआ है? जो कुछ होना है, वह तो किसी से बग़ैर पूछे, किसी के बग़ैर चाहे होता रहता है और जिसे नहीं होना है वह हमारे लाख चाहने पर भी बग़ैर हुए रह जाता है। मैं अपनी सनक में न जाने क्या क्या सोचा करती हूं?"

मैं भी तो मिसेज कपूर की तरह अजीब अजीब सपने देखा करती हूं। कहती कुछ नहीं लेकिन शचीन बाबू को लेकर अनोखे गोरख-धन्धों में खोई रहती हूं। उस दिन पूछने लगे, "पुस्तक पढ़ डाली क्या?" मैंने कहा, "आप ऐसी कठिन पुस्तक देते हैं कि पढ़ते नहीं बनती।" अपनी सहज स्वच्छन्द हंसी बिखेरते हुए बोले, "तब तो आप के लिए कोई मनोरंजक उपन्यास होना चाहिए।" फिर कुछ रुक कर कहने लगे, "आपकी देखादेखी सभी लोग मनोरंजक उपन्यासों में उलझ जाएं तो यह 'कठिन' बेचारा निराश हो जाए या नहीं? अच्छा बताइये तो, क्या केवल कठिन होने से ही कोई पुस्तक त्याज्य हो जाती

है ?" मैंने कहा, "कठिन पुस्तकें पढ़ने के लिये आप लोग क्या कम हैं ?" बोले, "अब उपन्यासों को ही लीजिए। उनमें भी अधिक मनोरंजक वही बन पाते हैं जिनमें कॉम्प्लीकेटिड करैक्टर्ज़ हों, सस्पैंस हो, कथानक में मोड़ हों, जटिलता हो, विलक्षणता हो।" मैंने कहा, "परन्तु उनमें नीरसता नहीं होती।" बोले, "हैदराबाद में मेरे एक मित्र थे, गिरीश अस्थाना। मुझे कभी 'शेष प्रश्न' 'गोरा' या 'गोदान' पढ़ते देखते तो कहते—किस बोरियत में उलझे हो, आओ कोई इंगलिश पिक्चर ही देख ली जाए। —उनके तकिये के नीचे या मेज़ पर 'जासूसी पंचा' 'तूफानी तीरन्दाज़' या 'पिस्तौल वाली' वगैरह चण्डूखाने में चण्डूबाज़ों की तरह आराम फरमाते रहते। अब आप बताइये 'शेष प्रश्न' और 'गोदान' को आप नीरस कहेंगी क्या ?" मैंने कहा, "किसी विषय या पुस्तक का सरस या नीरस होना अपनी अपनी रुचि पर निर्भर है।" बोले, "तब यूं समझिये कि जो वस्तु आपके लिए नीरस हो वही किसी अन्य के लिए सरस भी हो सकती है। इसका मतलब तो यही हुआ कि नीरसता पुस्तक में नहीं है, हमारी रुचि में है और क्योंकि हमारी रुचि का सम्बन्ध हमारे मन और मस्तिष्क से है अतः नीरसता का असली निवास स्थान मन और मस्तिष्क है।" मैंने कहा, "मैं आपकी तरह इतिहासज्ञ थोड़े ही हूं जो इतनी जटिल बातों को समझ सकूं ?" कहने लगे, "अच्छा, यह बताइये कि उस दिन आप 'गोदान' की प्रशंसा कर रही थीं तो यही माना जाये कि 'गोदान' में रस और मनोरंजन है।"

मैंने कहा, "मैं ऐसा ही समझती हूं।" बोले, "लेकिन मेरा मित्र इसे ही बोर कह कर 'तूफानी तीरन्दाज़' में उलझा रहता था। उसे आप क्या कहेंगी ?" मैंने उत्तर दिया, उनकी रुचि कुरुचि बन गई होगी, यही समझा जा सकता है।" कहने लगे, "मुझे खुरदरे शब्द ज़रा चुभते हैं अतः मैं अपने सुख के लिए कुरुचि को अस्वस्थ रुचि

कह लेता हूं । हां ! तो यह आप भी मानती हैं कि अस्वस्थ रुचि को स्वस्थ बनाना आवश्यक है।" मैंने कहा, "हां" खिलखिलाते हुए बोले, "बीमार को सेहतमन्द बना कर ही कर्तव्य समाप्त कहां होता है ? उसे अच्छी खुराक देकर फिर से बलवान भी बनाना होता है । आप सेहतमन्द बना कर रुक जाएंगी, पूरी खुराक नहीं देंगी तो उसे फिर बीमार होते देर ही कितनी लगेगी ?" पुनः बोले, 'जासूसी पंजे' से 'गोदान' तक पहुंचना तो बीमार को सेहतमन्द बनाना हुआ, अब 'गोदान' से 'ऐतिहासिक ग्रन्थों' तक पहुंच कर सेहतमन्द को बलवान भी बनाइये ताकि मानव प्रगति के कार्य में खूब काम कर सके । 'गोदान' यदि सरल बना है, सरस बना है तो साधना के कारण ही तो ऐसा हुआ है न ? अपनी साधना को बीच राह में मत रोकिये इसी के आधार पर 'ऐतिहासिक ग्रन्थ' भी सरस और मनोरञ्जक बन जाएंगे।" मैंने कहा, "थियरी और प्रेक्टिस में अन्तर है न ?" कहने लगे, "थियरी भी कभी प्रेक्टिस रही होगी, तभी शायद थियरी बनी है।" पुनः बोले, "इतिहास कठिन है तो क्या इसी से त्याज्य है ? कठिन को त्याज्य समझ कर जब हम आंखें मूंदते हैं तभी पलायनवादी बनते हैं । आप ही कहा करती हैं कि पलायनवाद प्रगति की राह की भारी चट्टान है । जीवन के एक क्षेत्र में जो सिद्धान्त ठीक है वह दूसरे क्षेत्र में ग़लत कैसे हो सकता है ? अगर सिद्धान्त एक जगह ठीक है और दूसरी जगह ग़लत है तो फिर सिद्धान्त काहे का ? आप कसौटी पर सोने की हथकड़ी या सोने की अंगूठी रगड़ेंगी तो कसौटी यह नहीं कहेगी कि सोने की हथकड़ी सोना नहीं है । शर्त यह है कि कुछ भी हो लेकिन सोना हो । फिर खरे सोने से अंगूठी या हथकड़ी बनाना तो हमारी समझ और रुचि पर निर्भर है । अगर आपकी कसौटी पर कस कर पलायन-वाद का खोट पता चलता है तो वह पलायनवाद किसी भी

शकल में तब्दील हो कर क्यों न आए रहेगा तो खोटा ही ?" मुझे ध्यान से सुनते देख कर बोले, "इतिहास अपने आप में कठिन नहीं होता। क्योंकि हम कठिन होते हैं अतः इतिहास भी कठिन बनता है। जब जब हम सरल हुए हैं इतिहास भी सरल हुआ है। यह ठीक है कि कुछ लोगों ने इस शीशे में अपनी भद्दी सूरत देख कर इसे बुरी तरह तोड़ दिया है लेकिन शीशा तो टूट कर भी शीशा ही रहता, ठीकरी नहीं बनता। यही वजह है कि टूटे टुकड़े में भी सूरत बग़ैर झांके नहीं रहती। हां, इन टुकड़ों में चेहरा उतना साफ दिखाई नहीं देता जितना कि पूरे शीशे में दिखाई दे पाता परन्तु कसूर इसमें शीशा तोड़ने वालों का है, न कि शीशे का। हमारा फ़र्ज़ इतना है कि हम टुकड़ी टुकड़ी उठा कर उसे फिर जोड़ दें या फिर कोई उससे भी बेहतर शीशा तैयार कर लें ताकि हमें अपनी सूरत देखने में कठिनाई न हो। क्योंकि अभी तक ऐसा शीशा बन नहीं पाया अतः हम टुकड़ियां जोड़ कर ही काम चलाने की कोशिश कर रहे हैं। काम कठिन है परन्तु अत्यन्त आवश्यक भी है।"

मेरी ओर देख कर हंसते हुए बोले, "एक दिन भी शीशा न मिले तो आप अपनी सूरत देखने के लिए तरस जाएं। हर किसी को शीशे में अपनी सूरत देखने का कितना चाव होता है ! ताजमहल देखने निकले तो कम से कम बीस बार तो आपने आइने में अपनी सूरत देखी ही होगी।" मैंने हंसते हुए कहा, "तो क्या जब मैं आइने में अपनी सूरत देखा करती हूं तो आप छिप छिप कर मुझे देखा करते हैं ?" कहने लगे, "आपको कहां देखता हूं ! कठिन को समझने परखने की अपनी हॉबी है। यही देखा करता हूं कि शीशे की सहायता से आप अपने को कितना कठिन, कितना कॉम्प्लीकेटिड बनाया करती हैं। आप जानती हैं कि लोगों को कॉम्प्लीकेटिड को समझने में अधिक लुत्फ़ आता है इसीलिए तो ऐसा करती हैं। अब

आप ही बताइये कि आप को कॉम्प्लीकेटिड बनते देख इतिहास बेचारा कठिन बनेगा कि नहीं ?"

आज तक कम्प्लीकेटिड बनने के सिवाय मैंने किया भी क्या है ? सोचा था मेरे इस जटिल रूप को देख कर लोग इसकी ओर आकर्षित होंगे, इसमें उलझेंगे, उलझ कर गिरेंगे तो मैं उनकी मन्दबुद्धि पर हंसूंगी। यह कहां जान पाई कि यह जटिलता तो मुझे ही ठग लेगी। और तो बाद में उलझेंगे, पहले तो मैं ही इसमें उलझ कर गिरूंगी। अपनी खोदी खाई में जब खुद गिरी हूं तो अब रोती चिल्लाती क्यों हूं ?

समझ नहीं पाती कि हम जटिल स्वेच्छा से बनते हैं या कि सामाजिक शक्तियां, परिस्थितियां, रूढ़ियां, संस्कार तथा रीति रिवाज हमें जटिल बनाते रहते हैं। नीरज भैय्या, सन्ध्या, नरेन, प्रवीण ये क्या स्वेच्छा से जटिल बने हैं ? इनमें से तो प्रत्येक को सरलता प्रिय है, सत्य ग्राह्य है, प्रगति इच्छित है फिर ये कम्प्लीकेटिड क्यों हैं ? मैं बुरी ही सही लेकिन ये सब तो बुरे नहीं हैं, फिर ये जटिल क्यों हैं ?

मैं बुरी सही, नरेन तो बुरा नहीं था। वह तो यथार्थवाद का समर्थक था, प्रगतिवादी था, फिर वह मुझसे अपने मन की बात क्यों नहीं कह पाया ? उस रात शराब में मदहोश होकर न बोलता तो मैं कहां जान पाती उसके मन का भेद ? अपनी और मनोरमा की कटुता, अपने बड़े भाई द्वारा प्राप्त तिरस्कार, क्यों छिपाता रहा मुझ से ? मैं न सही, वह तो मुझ से प्रेम करता था ? उस समय तो प्रवीण के पत्रों वाली घटना भी नहीं हुई थी। फिर वह मुझ से क्यों छिपाता रहा मन का भेद ? इसीलिए न, कि मैं कहीं उससे घृणा न करने लगूं ? उसके प्रेम में छिपी मलिन वासना को न देख लूं ? अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए मुझे छलता रहा, मुझे खिलौना बना कर खेलता रहा !

वह तो चाहता था कि उसकी क्रूरता और स्वार्थ की घिनौनी तस्वीर देख कर भी मैं उससे विवाह कर लूं। मुझे बिल्कुल नादान समझे था। मैंने सोचा था कि दया की आड़ में प्रेम का नाटक रच कर उसकी शापित निश्छलता और सरलता को मैं शाप मुक्त कर लूंगी। मुझे खबर होती कि वह अपनी क्रूरता और स्वार्थ पर तरह तरह के आकर्षक आवरण ओढ़े था तो मैं कभी भी उसे मुंह न लगाती। अच्छा हुआ उस नर पिशाच के चंगुल से निकल आई, नहीं तो वह कंस बन कर न जाने कितने शिशुओं की हत्या करता ?

मुंह पर चांटा मारता हुआ गरजा, "उस प्रवीण का नाम तुम्हारे चाहने वालों की मंजूर शुदा फहरिस्त में कबसे है ?" अगर मैं भी उलट कर उसके मुंह पर तमाचा मार कर कहती, "निकल जाओ मेरे घर से इसी वक्त ! कभी अपने गिरेबान में मुंह डाल कर भी देखा है कि तुमने कितने नेकचलनी के कारनामे किए हैं ? मुझे नेकचलनी का सबक देने से पहले खुद तो नेकचलन बन लो। अपनी औरत को छोड़, भूखे भेड़िए की तरह मुझे नोचने खसोटने आते हो, यही है नेक चलन तुम्हारा ? अपनी नेकचलनी की सूरत देखनी हो तो मनोरमा की आंखों में झांक कर देखो, फिर मुझसे बात करना ? कभी अपने नेक कारनामों की फहरिस्त भी देखी है ? देखो तो पता चले कि तुम कितने नेक कारनामे करके मुझे नेकी सिखाने चले हो ?"

मेरी चुप को कायरता समझा होगा। खुद कायर था अतः दूसरे को इससे अधिक समझ भी क्या सकता था ? अच्छा हुआ उस पापी और कायर से जान बच गई।

और ये नीरज बाबू और डॉक्टर सन्ध्या ही कौनसे भले हैं ? मैं तो इन आदर्शवादियों की काली करतूतों को भी जानती हूं। दूसरे को अपमानित करके बड़ा बनने की, दूसरे की बुराइयां दिखा दिखा कर अपनी बुराइयां छिपाने की इनकी आदत है। इनका आदर्शवाद

भी निरा ढोंग है। तीर से कलेजा बींध कर कहेंगे कि हमने तो घाव पर मरहम लगाई है। कहने लगे, "रेणुका, मैं तुम्हारी ईमानदारी में सन्देह नहीं करता परन्तु किसी बहाव में बह कर व्यक्ति यदि समाज के नियमों को भंग करने लगे तो सामाजिक व्यवस्था नहीं ठहर पाएगी। सामाजिक व्यवस्था टूटने से व्यक्ति की अपनी प्रगति भी रुक जाती है।"

ज़रा सी सहायता क्या कर दी मानों महात्मा बुद्ध बन गए! और फिर मेरी सहायता ही क्या की, अपने मित्र की मित्रता को ही तो निबाहा? कौनसा ऐसा बड़ा उपकार किया मुझ पर? बड़ा समझ कर और वक्त की नज़ाकत देख कर चुप रही वर्ना कहती, "मैं निरी बच्ची नहीं हूं। आप और सन्ध्या ये जो मीठी-मीठी बातें किया करते हैं, इससे सामाजिक व्यवस्था शायद सुदृढ़ होती होगी? मुझे नियम भंग न करने की सलाह देने से पहले अपना बचाव कीजिए। इस आदर्शवाद को मैं खूब समझती हूं।"

और सन्ध्या शरीफों का सा लिबास पहने कह रही थी, "उस लफंगे बदमाश की रिपोर्ट क्यों नहीं कर दी तुमने पोलीस में?" डॉक्टर क्या बन गई मानों सारी सृष्टि की मालिक बन बैठी? अगर मैं पलट कर कहती, "तुम कौनसी कम बदमाश हो? तुम्हारी शराफत तो तुम्हारी आंखों से टपकती है। नीरज साहिब को गुपचुप बातें करके शराफत के सबक ही तो रटाया करती हो?" तो दिमाग़ ठिकाने आ जाता सन्ध्या का भी।

ये लोग तो मुझसे भी गए गुज़रे हैं। मैं जैसी भी हूं अपनेआप को वैसा कहती तो हूं! ये सब आदर्शवादी, यथार्थवादी और सुधार-वादी अन्दर से कुछ हैं बाहर से कुछ। अगर ये ठीक होते तो मैं इतनी बुरी ही क्यों बनती? मैं बुरी कहां हूं? मैं तो इस आदर्श, यथार्थ और सुधार की जीती जागती तस्वीर हूं।

और अब शचीन बाबू को इस तस्वीर की नोक पलक संवारने की सनक उठी है। अपनेआप को न जाने कितनी महान आत्मा समझ बैठे हैं? जानती हूं ये भी भीतर से नीरज बाबू का या नरेन का ही रूप निकलेंगे। बातें मीठी मीठी बनाते हैं लेकिन आंखों से वासना फूट फूट पड़ती है।

पागलपन में बहक कर अपने आप को डायन, पिशाचिन, कुलटा, कलंकिनी पता नहीं क्या कुछ कह बैठती हूं? मैं तो कुछ भी नहीं हूं। इन बड़े बड़े महानुभावों, धर्मात्माओं, कलाकारों और इतिहासज्ञों के कारनामों को दिखाने का आइना हूं। शचीन बाबू न जाने किस शीशे की बात कह रहे थे? टुकड़े टुकड़े होकर भी मैं कहां मिटी हूं? इतिहास के टुकड़े उठाने से पहले ये सब मेरी ज़िन्दगी के किसी टुकड़े को उठा कर देखें तो अपनी घिनौनी सूरतें देख कर, किसी दरिया में डूब मरें।

न मैं खिलौना हूं, न डायन हूं। मैं तो एक चमकदार दर्पण थी जिसे हकीकत दरसाने का शाप जन्मते ही मिला था। लोग आए, अपनी घिनौनी और राक्षसी सूरतों की हकीकत जान कर मेरे टुकड़े टुकड़े कर बैठे। शराब के नशे में चूर उन टुकड़ों पर ही लट्टू हो गए। किसी को शरीर पसन्द आया तो वह ले उड़ा, किसी को मन पसन्द आया तो वह ले भागा और अब ये शचीन बाबू दिमाग़ ले निकलने की ताक में हैं।

शचीन बाबू ही तो कहते हैं, "टुकड़ों में भी सूरत दिखाई तो देती ही है, भले ही उतनी साफ दिखाई न दे।" मेरे शरीर, मन और मस्तिष्क के टुकड़ों से जी बहलाने वाले भूल जाते हैं कि इन टुकड़ों में से भी उनकी राक्षसी सूरतें झांकती ही रहेंगी और तब ये पागल होकर एक दूसरे को मारने दौड़ेंगे। नरेन, प्रवीण को मारने के लिए उछला था, शचीन बाबू, नरेन को मारने के लिए दौड़ेंगे। एक दिन गाल पर थप्पड़

लगाते हुए कहेंगे, "इस नरन का नाम तुम्हारे खरीदारों की फहरिस्त में कब से है?"

कह रहे थे, "जब तक कोई खरा आइना नहीं मिल जाता तब तक इन्हीं टुकड़ियों को जोड़ कर काम चलाने की कोशिश कर रहे हैं।"

मैं कहती हूं कि जब तक इन लोगों ने शराब पी पी कर अपने होश गंवाए हुए हैं, ये आदर्श, यथार्थ और सुधार के ठेकेदार, राक्षस और नर पिशाच बने हुए हैं, कोई भी शीशा टुकड़े टुकड़े हुए बग़ैर रह ही कैसे सकता है? लाख नए शीशे इनके हाथों में दे दो, ये लोग जब तक नशे में बहके हैं किसी शीशे की ख़ैर नहीं है।

इन्हें तो चमकदार और साफ शीशों से इतनी चिढ़ है कि उसमें अपनी सूरत देखने से पहले ही उसे फर्श पर पटक देते हैं। मदहोशी भी इनकी बुज़दिली को नहीं मिटा पाती। अपनेआप में बड़े बहादुर बन कर अकड़ने वाले लोग इतने बुज़दिल हैं कि मामूली से शीशे का सामना भी नहीं कर सकते!

माना, मैं बहुत पापिन थी, कलंकिनी थी, ऐसा शीशा थी जिस का पानी उतर गया था। ऐसे शीशे को फेंक देना ही अक्लमन्दी थी। लेकिन मैं पूछती हूं कि उस नये शीशे में क्या खोट था? उसमें अपनी शक्ल देखने से पहले ही उसे क्यों तोड़ डाला गया? शचीन बाबू जिस नये शीशे की कल्पना कर रहे थे, वही तो था वह नया शीशा! उसके चेहरे में तो सारी सृष्टि अपना चेहरा देख सकती थी। उसकी उजली आंखों में तो सारी मानवता झांक सकती थी। उस शीशे में केवल एक बार निहार कर युगों के अन्धविश्वासों की, रूढ़ियों और दूषित नैतिकताओं की मैल छुड़ाई जा सकती थी।

परन्तु किसी को ऐसा करना हो तब न? कोई सही मायनों में

इन्सान बनना चाहे तभी तो ऐसे उजले शीशों को संभाल संभाल कर रखे ? ये शचीन बाबू कितने बड़े बड़े लैक्चर छांटा करते हैं, कितनी मीठी मीठी बातें किया करते हैं ? अगर मुन्ना जीवित रह पाता, जन्म लेने से पहले ही उसकी बोटी बोटी करके न फेंक दी जाती तो कम से कम इन जैसे लोगों के खरेपन की परख तो हो जाती। अगर गोद में मुन्ने को उठा कर कहती, "मैं इस बच्चे की कलंकिनी मां हूं, यह मेरा पाप है, इस बच्चे का शरीफ बाप इसे छोड़ कर भाग गया है, मुझ अविवाहित लड़की की यह नाजायज़ औलाद है, बताओ क्या इस हरामी बच्चे की दुराचारिणी मां के लिए तुम्हारे दिल में जगह है ?" तो शचीन बाबू की सब लैक्चरबाज़ी हवा में उड़ जाती, बड़ी बड़ी डींगें ग़ायब हो जातीं, मीठी मीठी बातों में ज़हर घुल जाता, इनकी महानता को सांप सूंघ जाता। गरजते हुए कहते, "पापिन ! निकल जा हमारे घर से। दूर हो जा मेरी नज़रों के सामने से। इतने घरों को उजाड़ कर अब इस घर में आग लगाने आई है ? जिस घोंसले में आंधी पानी से बची है उसी को अपने कुकर्मों से फूंकना चाहती है ?"

सोच रही थी कि शचीन बाबू को सब कुछ बता दूंगी, कुछ भी नहीं छिपाऊंगी ? अगर ऐसी बेवकूफी कर बैठती तो कहीं की न रहती। मिसेज़ कपूर बड़ी मधुर वाणी में कहतीं, "रेणु बेटी ! शचिन के आने से घर में जगह कम पड़ती है। यही ठीक है कि तुम कहीं और प्रबन्ध कर लो। तुम जानो तुम्हारा इस तरह रहना मेरे 'बाल शिक्षा निकेतन' पर भी तो बुरा असर डाल सकता है।"

महामूर्ख हैं जो सत्य बोलते हैं। जिस सत्य को अपना कर, दर दर की ठोकरें मिलें, जगहंसाई हो, थू थू और निन्दा बरसे, उस सत्य को कोई ओढ़े या बिछाए ? दुनिया में रहना है तो दुनियादार बनना ही चाहिये। मीरा की तरह बड़ा बनने का चाव मुझे नहीं

है, मैं तो दुनिया में अपना घोंसला बना कर रहना चाहती हूं। जिस सत्य की चिंगारी से घोंसला जल जाने का भय हो ऐसे सत्य को पास भी नहीं फटकने दूंगी। नीरज, सन्ध्या, नरेन सब यही कुछ तो करते हैं। अपने झूठ पर ही सत्य का पफ़ पाउडर लगाते रहते हैं। मैं भी उन्हीं महापुरुषों के पदचिन्हों पर चलूंगी। झूठ पर सच्चाई का ऐसा रंग चढ़ाऊंगी कि शचीन बाबू तो क्या उनके फरिश्ते तक भी झूठ को न पहचान सकें? मैंने ही दुनिया भर की सच्चाई का ठेका नहीं ले रखा। मैं भी दूसरे लोगों की तरह झूठ को ही, सत्य का खरा सिक्का कह कर अपना व्यापार फैलाऊंगी। अगर नरेन जैसे पाखण्डी और छली को, धूर्त और कपटी को, इन खोटे सिक्कों से व्यापर करके अनन्त सुख मिलता है तो मैं ही क्यों उस सुख से वञ्चित रहूं?

मैं तो इन बड़े बड़े लोगों के काले दिलों को अच्छी तरह समझ गई हूं। बातें करेंगे आदर्शों की और काम करेंगे उन आदर्शों से सौ फी सदी उलट। शचीन बाबू किस विश्वास से कह रहे थे, "प्रैक्टिस ही तो थियरी बनती है, दिन प्रति दिन के अनुभव ही तो सिद्धान्त बनते हैं।"

ख़ाक सिद्धान्त बनते हैं। आज तक इन लोगों की कथनी और करनी में अन्तर नहीं जान सकी तभी तो छली गई, तभी लूट ली गई। मैं भी अगर इनकी कथनी में न उलझ, इनकी करनी को देखती तो आज क्यों ठोकर खाकर मुंह के भार ज़मीन पर गिरती? प्रैक्टिस से सौ फी सदी उलट थियरी बनती है, तभी तो हमारी आंखों में चकाचौंध पैदा करती है। ये लोग रोज़ सौ फी सदी झूठ बोलते हैं और सिद्धान्त बनता है 'सत्यमेव जयते'। कदम कदम पर अधर्म, छल, कपट और दम्भ का प्रश्रय लेते हैं, सिद्धान्त बनता है 'धर्मो रक्षति रक्षितः'। पड़ौसियों को लूटते हैं, नर हत्या करते हैं, शिशुवध

करते हैं, भ्रूण हत्या करते हैं, स्त्रियों के सतीत्व का अपहरण करते हैं, बलात्कार और अत्याचार करते हैं और तब सिद्धान्त बनते हैं 'मा गृधा कस्यचित् धनम्' 'अहिंसा परमो धर्म' 'मातृवत् पर दारेषु' 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'।

ये शचीन बाबू भी झूठ की खान हैं, मक्कारी में निपुण हैं। मीठी मीठी बातें करके, इतिहास और दर्शन में कूटनीति लपेट लपेट मुझ से दिल की बात उगलवाना चाहते हैं। मैं भी ठोकरें खा खा कर समझदार बन गई हूं। लाख सिर पटक लें लेकिन मेरे द्वारा सजा संवार कर पेश किए असत्य को ही अन्त समय तक सत्य समझते रहेंगे। इन कूटनीतिज्ञों और पाखण्डियों को कभी सत्य के दर्शन नहीं हो सकेंगे। 'शठे शाठ्यम् समाचरेत्' 'कण्टकेनैव कण्टकम्' जैसे महान सिद्धान्तों का प्रश्रय लेकर ही मैं इन सब की कूटनीतियों और कपटों को परास्त करूंगी, सब को पशुओं की तरह हांकूंगी, मन चाहा नाच नचाऊंगी।

× × ×

यह मुझे क्या हो गया है ? आज तक जिस मैल और कीचड़ को मलमल कर धो धो कर छुड़ाया है उसी में फिर शूकरी समान लोटने चली हूं। मेरे दिमाग़ को क्या हो गया है कि समझते हुए भी नहीं समझता ? आंखें देखते हुए भी क्यों नहीं देख पातीं ?

शचीन बाबू कभी ग़लत बात नहीं कह सकते। मैं ही अपने दूषित मस्तिष्क के कारण, दूषित दृष्टिकोण के कारण उनके कहे को ग़लत समझती हूं। शचीन बाबू ने ठीक ही कहा है, "अनुभव ही सिद्धान्तों को जन्म देते हैं।"

सीधी सी तो बात है जिसे मैं अज्ञानवश समझ नहीं पाती ! लोग शत प्रतिशत असत्य का प्रश्रय लेते हैं, झूठा आचरण करते हैं, पाप

करते हैं, तो उन्हें सुख प्राप्ति के स्थान पर मरीचिका की भटकन मिलती है, आत्मसन्तोष की जगह आत्मप्रवंचना मिलती है, आनन्द की बजाय आनन्द की भ्रान्ति मिलती है। इस संहारक सुख, दाहक सन्तोष और मारक आनन्द को प्राप्त करके लोग पीड़ा से छटपटाते हैं, यन्त्रणाएं भोगते हैं, व्यथा और पीड़ा में चीखते चिल्लाते हैं तो उन्हें महापुरुषों का, मर्यादा पुरुषोत्तमों का, महर्षियों और तत्त्ववेत्ताओं का ख्याल हो आता है। अपने दुखों के बोझ से कराहते चिल्लाते जब वे महर्षियों के पास इलाज के लिये पहुंचते हैं तो तत्त्ववेत्ता, सूक्ष्म दृष्टि से सब कुछ परखते हैं, उनके कर्मों का विश्लेषण करते हैं और दुःख के मूल कारण असत्य को खोज निकालते हैं। तब शांत भाव से कहते हैं 'सत्यमेव जयते नानृतम्' — 'धर्म एव हतो हन्ति' — 'पर द्रव्येषु लोष्ठवत्'। करुणामयी मुस्कान बखेर कर कहते हैं, मेरे साथ मिल कर कहो, 'बुद्धं शरणम् गच्छामि' – 'धर्मम् शरणम् गच्छामि' – 'संघम् शरणम् गच्छामि'। सूली पर टंगे टंगे भी कहते हैं – 'इट इज़ इज़ियर फार ए कैमल टु गो थ्रु द आई ऑफ ए नीडल दैन फार ए रिच मैन टु एन्टर द किंगडम ऑफ गॉड'

मैं स्वार्थ और लोभ में फंस कर अर्थ का अनर्थ करने लगती हूं। सन्तों की वाणी ठीक है 'गला गये थे काटने आये गला कटा'। दूसरों को ठगने का प्रयत्न करती हूं तभी तो स्वयं ठगी जाती हूं। दूसरों की राह में कांटे बिखेरती हूं तभी तो मेरे पाओं में कांटे चुभते हैं। दूसरों के सुख में स्वार्थवश आग लगाना चाहती हूं तभी तो मेरा घोंसला जलने लगता है।

सोचा था चिनगारी को घोंसले के पास कभी नहीं फटकने दूंगी। अभी दहकते अंगार ही तो घोंसले में रखने चली थी। जिसे अज्ञान और मूर्खता, स्वार्थ और लोभ में फंस कर चिनगारी कह कर फेंकने चली थी वह तो बया के घोंसले का टिमटिमाता जुगनू था! दिपदिपाते,

तमहर दीप को बाहर फेंकने चली थी ? वाह री रेणुका, अकल की धनी !

जब पागलपन सवार होता है तो अपने पापों की ऐनकें लगा, नीरज, सन्ध्या, नरेन, शचीन को परखना शुरु कर देती हूं। मुझसे तो ये सभी हज़ार दर्जे अच्छे हैं। चीखते चिल्लाते, गिरते पड़ते, रोते कलपते, ढहते बिगड़ते भी महर्षियों, तत्त्ववेत्ताओं, मार्ग द्रष्टाओं के बताए सिद्धांतों तक पहुंचने का प्रयत्न तो कर रहे हैं। उन सिद्धान्तों की महानता को समझते तो हैं।

और एक मैं हूं ! जब अपना बोया, कट कर सामने आता है तो बौखला कर इन प्रकाशस्तम्भों को ही पनडुब्बी किश्तियों के सहारे सुरंगें बिछा कर उड़ाने की सोचने लगती हूं। कितनी स्वार्थिन हो गई हूं ? चाहती हूं कि ये प्रकाशस्तम्भ ध्वस्त हो जाएं ताकि मानव की अनन्त यात्रा के जलपोत, जलमग्न चट्टानों से टकरा टकरा कर चूर चूर हो जाएं, मानव, तूफानी लहरों में, अथाह पानी में डूब जाये, गोते खाने लगे और उसके दुःख को देख मैं अपने दुःख को हलका कर लूं। पैशाचिनी के अतिरिक्त ऐसे षड्यन्त्र और रच ही कौन सकता है ?

क्या शान से अकड़ कर, गर्व से सिर ऊंचा करके, बड़े भैय्या से कह आई थी, "विध्वंस में ही निर्माण के बीज छिपे रहते हैं।" इसी विध्वंस से निर्माण होगा ? शचीन बाबू का घर बसेगा ? जलपोत अपने लक्ष्यों तक पहुँचेंगे ? व्यापार में उन्नति होगी ? मानव प्रगति करेगा ? मैं तो पैशाचिनी हूं अतः विध्वंस में से नव निर्माण की बात कैसे सोच सकती हूं ? मैं तो चाहती हूं कि महाप्रलय हो जाए, सब कुछ उसमें डूब जाये और मैं किसी ऊंचे टीले पर बैठ कर उस महाविनाश को देख अट्टहास करती रहूं।

शचीन बाबू ठीक ही कह रहे थे, "मानव इतिहास, भयंकर बाढ़ का पानी नहीं है जो चारों ओर फैल कर घर वालों को बेघर कर दे,

जिसमें ग़रीबों की झोंपड़ियां तैरने लगें, नन्हें नन्हें चूल्हों पर चावलों की भाप से गुनगुनाती पतीलियां बह जाएं, अलावों के किनारे जीवन के अनुभव कहते सुनाते बूढ़े डूबने लगें, सुहागिनें विधवा हो जाएं और तुतलाते बच्चे भंवरों में घिर जाएं, चक्कियों की घरघराहट रुक जाए, दादी की कहानियां खो जाएं ! यह मानव इतिहास की गाथा तो पवित्र गंगा की तरह है जो पहाड़ों की महानता लिये मैदानों में आती है, बंजर में खेतियां लहलहाती हुई, तन और मन पवित्र करती हुई, पुण्य और धन धान्य बखेरती हुई, महातीर्थों के चरण पखारती हुई, अपने कलकल निनाद से स्तोत्रों और मन्त्रों में मधुरिमा घोलती हुई निरन्तर आगे बढ़ती है, महासागर तक पहुँचती है, सूर्य की किरणों पर चढ़ कर, बादलों के रथ पर बैठ फिर नये सफ़र के लिये पहाड़ों तक पहुँचती है, उनसे गले मिलती है फिर अपनी यात्रा के लिये चल पड़ती है ।"

मानव को शीशा दिखाने का, उसकी सूरत संवारने का दम्भ करने चली थी । मेरे ऐसे पुण्य कहां कि गंगा की निर्मल धारा बन सकूं ? मैं तो बाढ़ का पानी हूं, जिधर बहती हूं उधर ही घर बहते हैं, लोग डूबते हैं, बच्चे गहरे भंवरों में फंस फंस कर मरते हैं !

अहंकार में भर कर सोचा था, अपने अनुभव जनित सत्य को दूसरे किसी के सत्य से नहीं बदलूंगी । मेरा सत्य ही किसी दिन इतिहास के पन्नों पर चमक उठेगा । मैं पुण्यमयी पवित्र गंगा कहां हूं जो इतिहास बन सकूं ? मैं तो प्रलयंकारी बाढ़ का चारों ओर फैलता पानी हूं, मैं इतिहास बनने योग्य कहां ? अपनी प्रलयंकारी लीला को ही महासत्य समझ कर गर्व करने चली थी । सत्य तो वही है जो शिव हो, सुन्दर हो । जो अशिव है, असुन्दर है, वह सत्य कैसे हो सकता है ?

मैं क्या शुरू से ही ऐसी थी ? पिता जी क्या इसी रेणु को देख

देख कर कहा करते थे, 'रेणु की मां ! रेणु बेटी नहीं, बेटा है। यही बड़ी होकर हम लोगों के दुःख दूर करेगी।' मैं जब सरल हृदय से कहती, "मां, मैं बड़ी होकर, इतना कमाऊंगी, इतना कमाऊंगी कि राजे की कोठी भर जाएगी", तो मां मुझे अपनी गोद में छिपा लेतीं। बाहर खेलने के लिए निकलती तो मां गाल पर मिट्टी लगा कर कहतीं, 'कहीं नज़र न लग जाए मेरी बेटी को ?"

एक दिन हंसी हंसी में पिता जी ने पूछा, "रेणु बेटा, तू बड़ी होकर क्या करेगी ?" मैंने कहा, "पिता जी मैं खूब रुपया कमाऊंगी। मां, मुझे अब खीर बना कर नहीं देती, फिर तो दिया करेगी न ?" पिता जी बोले, "अच्छा, यह बता कि रुपया कैसे कमाएगी ?" मैंने कहा, "राजा के बाग में रुपयों का बड़ा सा पेड़ है न ? मां जिसकी कहानी सुनाया करती है। उसी पर से तोड़ तोड़ कर झोली में भर लाऊंगी।" पिता जी हंसते हुए बोले, "राजे के नौकर तेरे हाथ पांव बांध कर खूब मारेंगे, फिर क्या करेगी ?" मैंने कहा, "नौकर बांधने आएंगे तो मैं दौड़ कर राजा के पास चली जाऊंगी। राजा थोड़े ही मारेगा ? मां कहती है कि राजा बड़ा दयालु होता है, वह तो प्रजा को पालता है, किसी को कुछ नहीं कहता। राजा मुझे बचा लेगा। बचा लेगा न ? राजा अच्छा होता है न पिता जी ?" पिता जी मुंह चूमते हुए बोले, "बचा कर, तेरी शादी राजकुमार से कर देगा।" मैंने कहा, "मैं वहां नहीं रहूंगी। रुपए ला कर मां को दूंगी। फिर मां मुझे हर रोज खीर खिलाया करेगी।" पिता जी बोले, "यहां हमारे पास क्या रखा है बेटा ! तू राजा के घर ही रहना। उससे कहना कि मेरे बाबू जी को भी अपने बाग में नौकर रख लो।"

किन किन अभावों में, कैसे कैसे दुख उठा कर पिता जी ने मुझे पढ़ाया था ? कितनी आशाएं उन्हें मुझसे थीं ? गांव से लायलपुर मासी के पास आई थी तो मां और पिता जी कितने उदास हो गए थे ?

में शुरु से ही तो करम जली नहीं थी। दिवाली दशहरा पूजते समय मां कहती थी, "रेणु तो अपने घर का भाग्य है।"

फिर अचानक पलक झपकते ही क्या हो गया इस भाग्य की देवी को? यह भाग्यवती, भाग्यजली कैसे बन गई? यहां पहुंच कर, मिसेज़ कपूर के घर से जब मैं ने पिता जी को पत्र लिखा था, रुपये भेजते रहने की बात कही थी, न घबराने की ताक़ीद की थी, तो उन्हीं का तो उत्तर आया था, "बाबू रामदास और तेरी चाची ने हमें तेरी सारी काली करतूतें लिख दी हैं। फिर कभी इस घर का रुख न करना। हम समझ चुके हैं कि हमारी बेटी मर गई है। सारे जीवन भर हमने कष्ट उठाए हैं अब तेरी पाप की कमाई से ही कौनसा दुख दूर होगा? अपनी इस पाप की कमाई को अपने पास ही रखना। हम उस समय भी ज़िन्दा थे जब तू हमसे बग़ैर पूछे आगरा भाग गई थी लेकिन तूने तो हमें जीते जी मार दिया। शाहपुर से उजड़ते समय हमसे तो पूछा होता? खबरदार फिर कभी हमें पत्र लिखा तो?"

कितने पत्र लिख लिख कर हार गई, एक का भी तो उत्तर नहीं आया। चाची जी से भी कौनसा मुंह लेकर मिलने जाऊं? खींच कर मुंह पर चांटा मारा होता तो भी उतना दर्द न होता जितना उनकी बातों से हुआ। बातें कहां थीं? ज़हर में बुझे तीर थे, "रेणुका बेटी, अपने फिर भी अपने होते हैं लेकिन दुनिया से भी तो डरना ही पड़ता है। तू जान, मैं तो पढ़ी लिखी हूं नहीं। भाई जी की चिट्ठी आई तो तेरे चाचा जी घर पर थे नहीं। साथ वाली सुशीला की लड़की ने चिट्ठी पढ़ी तो पता चला कि तू भाई जी को बग़ैर बताए ही यहां चली आई है। मैंने तो उस चुड़ैल को लाख कहा था कि किसी से न कहना लेकिन तू जान दीवारों के भी कान होते हैं। बात सारे मुहल्ले में फैल गई है। लाला रघबर दयाल की रुक्को जबसे मुंह काला करवा गई है

तब से मुझे तो लोगों की चुगलियों से डर लगता है। तू जान, कौन अपनों को घर से धक्के देकर निकालता है लेकिन करूं क्या ? गृहस्थी जो ठहरी। हमने भी तो अपनी लड़कियां दूसरों के घर ब्याहनी हैं। ऐसी वैसी बात फैल गई तो कौन लेगा इस घर की लड़कियों को ? चाची हूं तो क्या ? दिल तो मैंने मां का पाया है। कभी किसी चीज़ की ज़रूरत पड़े तो चुपके से आकर ले जाया कर। मुझ करमजली को क्या पता था कि तू भाई जी को बगैर बताए यहां आई थी। अगर तूने मुझे बताया होता तो मैं क्यों लिखवाती तेरे चाचा जी से ? सुना है वो स्कूल वाली भी बड़ी अच्छी है, तुझे तो बच्चों की तरह रखती होगी ?''

इन ज़हरीले तीरों की मार झेल पाना मेरे लिये कहां सम्भव था ? उस दिन से आज तक शुभचिन्तिका चाची जी के दर्शन करने नहीं गई।

सोचा था, मां और पिता जी को कष्ट क्यों दूं, वे तो पहले ही वृद्धावस्था में दुखों के पहाड़ अपने सिर पर लादे हैं। चाची जी को कष्ट न हो यही सोच तो वहां से निकल आई। नरेन फिर इस विष पात्र को मुंह से न लगाये, यही सोच कर तो शाहपुर छोड़ आई। नीरज भैय्या मुझ कलंकिनी के कलंक से जल न जाएं यही सोच कर तो इतनी दूर चली आई। मैंने तो किसी का भी बुरा नहीं सोचा ! मैंने तो यही चाहा था कि मैं जैसी भी हूं पापमयी और कलंकमयी, शापमयी और घृणामयी कहीं दूर जा कर अपनी लगाई आग में तिल तिल करके जलती रहूं। किसी दूसरे को इस आग की लपटें छू न जाएं ! मेरी दूसरों के लिये मंगल कामना ही मेरा अपराध क्यों बन गई ? मैं तो अपनी आग से दूसरों को बचाना चाहती थी। मेरी यही पुण्यमयी साध मुझे पैशाचिनी क्यों बना गई ?

व्यक्ति वैसा क्यों नहीं बन पाता जैसा कि वह बनना चाहता है ?

कौन उसके चाहने को अपने सांचे में ढालता रहता है ? प्रेममयी बनने की मेरी साध थी, मेरे प्रयत्न थे। प्रवीण को तो मैंने निश्छल प्रेम का पवित्र दान दिया था फिर मैं डायन क्यों बन गई ? करुणामयी बनने की मेरी लगन थी, मेरी साधना थी। नरेन को मैंने उन्मुक्त हृदय से करुणा लुटाई थी फिर मैं पैशाचिनी कैसे बन गई ? मंगलमयी बनने के मेरे प्रयास थे, प्रचेष्टा थी। नीरज भैय्या और सन्ध्या को पवित्र मन से मैंने शुभ कामनाएं भेंट की थीं फिर मैं अमंगलकारिणी क्यों समझ ली गई ?

मेरा प्रेम, मेरी करुणा, मेरी शुभकामना ही कलुषित थीं या इन्हें किसी ने अपने घिनौने हाथ लगा कर मलिन कर दिया, अपवित्र कर दिया ? कौन है जो अपने घिनौने और गन्दे हाथों से इस प्रेम, करुणा और निश्छलता को मलिन करने में आनन्द अनुभव करता है।

नीरज भैय्या कहा करते हैं, "सामाजिक दृष्टिकोण के बनने में, सदियों की उथल पुथल का सैंकड़ों सालों से बनते बिगड़ते संस्कारों का, परम्परागत रूढ़ियों का, वर्तमान परिस्थितियों का तथा आर्थिक और भौतिक परिवर्तनों का बहुत बड़ा हाथ होता है। सम्भव है आज का सामाजिक दृष्टिकोण जिसे पाप ठहराता है कल का दृष्टिकोण उसे पाप की संज्ञा न दे। पाप और पुण्य का निर्णय इतना सुगम नहीं है जितना प्रतीत होता है। मैं तो समझता हूं कि किसी के मन को यथाशक्ति कष्ट न पहुँचाना, यही मानव का उद्देश्य होना चाहिए। पाप, पुण्य, कलंक, गौरव की ओर विशेष ध्यान न दे, व्यक्ति निष्ठा पूर्वक अपना कर्तव्य किये जाये, यही श्रेयस्कर है।"

अगर नीरज भैय्या की बात ठीक है तो हो सकता है कि मेरा प्रेम मेरी करुणा, मेरी मंगलकामना पवित्र हों! विशेष सामाजिक दृष्टिकोण के कारण ही इनमें अपवित्रता का भ्रम होता हो। परन्तु पवित्रता तो मन को धोती है, निर्मल करती है, वह मन को दुखा

कैसे सकती है ? मन को दुखाना तो पाप का लक्षण है। मैंने तो सबके मन को दुखाया है अतः मेरे पाप में सन्देह नहीं है। सामाजिक दृष्टिकोण को यदि नज़रअन्दाज़ कर भी दिया जाए तो भी मेरा पाप अपनी जगह पर अटल है।

कहीं ऐसा तो नहीं कि इस मन की दुखित होने की अवस्थाएं भी परिवर्तनशील हों ? मन का दुखित होना भी विशेष संस्कारों से सम्बन्धित हो ? ज्यों ज्यों संस्कार बदलते रहते हों दुःख सुख के रूप भी बदलते रहते हों ? इन विशेष संस्कारों के कारण ही प्रेम, करुणा और शुभेच्छा में मलिनता और छल कपट का बोध होता हो ? सोचते सोचते मेरा तो दिमाग़ चकराने लगता है। ऐसी शिक्षा और चिन्तन का क्या लाभ जो व्यक्ति को पागल बना दे ? व्यक्ति उलझ उलझ, भटक भटक मर जाए। अनपढ़ होती तो क्यों सोचती ये सब कुछ ? मां बाप जिसके साथ हांक देते, उसी के साथ चलती रहती। जो भी मन में आता करती रहती।

मैं तो समझती हूं कोई किसी को दुखित नहीं करता। सुख दुःख अपनी अपनी समझ का फेर है। ज्यों ज्यों हम इन समस्याओं को सुलझाते हैं ये और अधिक जटिल होती जाती हैं। हमसे तो अनपढ़ लाख दर्जे भले, इस भूलभुलैया में फंसने से तो बचे रहते हैं ? मनोरमा नरेन के साथ जब तक बन पड़ा रहती रही, मन नहीं माना तो उसके बड़े भाई के साथ हो ली, वहां भी मन नहीं रमेगा तो और कहीं ठिकाना कर लेगी। ऐसा करने में उसे रत्ती भर भी तो हिचक नहीं हुई। कभी भी पाप का बोध नहीं हुआ। उसके लिए तो यह सब कुछ स्वाभाविक है, सहजगम्य है।

जो उसके लिए स्वाभाविक और सहजगम्य है वह मेरे लिए क्यों नहीं है ? मैं प्रवीण और नरेन को लेकर इस दिमाग़ी उलझन में क्यों

फंस गई हूं ? क्यों नहीं यह सब स्वाभाविक और सहजगम्य समझ कर शचीन बाबू के साथ हो लेती ? मनोरमा यदि निश्चिन्त रूप से सोमेन के साथ रह सकती है तो मैं शचीन बाबू के साथ क्यों नहीं रह सकती ?

तो क्या ये सब उलझनें और अड़चनें हम बुद्धिजीवियों की अपनी पैदा की हुई हैं ? हम इन्टलैक्चुअल्स खुद ही जाल बुनते रहते हैं और खुद ही उसमें उलझते रहते हैं ?

यह ठीक है कि मनोरमा को अपने किए पर कोई पछतावा नहीं है लेकिन क्या इसी से वह पथ ग्राह्य है ? मनोरमा का कोई काम उसे दुखी न भी करता हो, नरेन के दुःख का कारण तो बनता ही है ।

जो दुःख का कारण बनता हो वह तो पाप है । पाप अनुकरणीय कैसे हो सकता है ? अबोध बालक किसी पर नासमझी में तेज़ाब छिड़क दे तो क्या वह जले बग़ैर रह सकता है ? यह ठीक है कि अबोध बालक को अपने किए का ज्ञान नहीं होगा परन्तु उसके कर्म से सम्बन्धित व्यक्ति तो कष्ट उठाएगा ही । मनोरमा तो अबोध बालिका है । उसे क्या ख़बर कि तेज़ाब छिड़कने से व्यक्ति जलता है ? परन्तु मैं तो समझदार हूं, मैं कैसे अपने किए से बच सकती हूं ? मनोरमा का तेज़ाब छिड़कना क्षम्य हो सकता है परन्तु मेरा जान-बूझ कर किसी को आग की लपटों में फेंकना अक्षम्य है, दण्डनीय है ।

मैंने नरेन पर करुणा कहां उंडेली है, उस पर तेज़ाब उंडेला है । मैं उस जघन्य कृत्य के दण्ड से कैसे मुक्त हो सकती हूं ? अगर मैंने स्वार्थवश नरेन को अपनी वासनापूर्ति का साधन बना कर जलाया है तो मैं जले बग़ैर कैसे रह सकती हूं ? शचीन बाबू लाख प्रयत्न करें, लाख शुभकामनाएं करें, मुझे इस नरक कुण्ड की लपलपाती ज्वालाओं से नहीं निकाल सकते, कभी नहीं निकाल सकते ।

शचीन बाबू, रवि ठाकुर का गीत गाया करते हैं 'तखन कांदि चोखेर जले दूटि नयन भ'रे—तोमाय केन दिई नि आमार सकल शून्य करे ?'

रवि ठाकुर के 'भिक्षुक' ने एक कण निकाल कर तो दिया ही था परन्तु मैं तो अपने नरेन्द्र की हथेली पर कण मात्र भी रख न पाई ! नरेन्द्र की हथेली पर कुछ रखा ही नहीं तो सुवर्ण बन कर क्या लौटता ? उसने हथेली फैलाई तो अपनी झोली में से करुणा का नन्हां सा कण देने की बजाय मैंने उसकी हथेली पर स्वार्थ और लोभ की चिनगारी रख दी। उस चिनगारी का प्रतिदान घृणा और ईर्षा के दहकते अंगारों के अतिरिक्त हो भी क्या सकता था ?

अपने नरेन्द्र को ठग और धूर्त, मक्कार और पाखण्डी कह कर मैंने अपने द्वार से धक्के देकर निकाल दिया। उस पर क्रोध बरसाती रही। मुझे क्या पता था कि मेरा दिया भिक्षा का एक एक कण, सुवर्ण बन कर मुझ तक लौटेगा ? मैं तो अत्यन्त कृपण बनी रही ! करुणा दी होती तभी तो प्रेम का प्रतिदान मिलता ? सहानुभूति दी होती तभी तो वह विश्वास बन कर मुझ तक लौटती ? मैंने स्वार्थ, लोभ के अतिरिक्त कुछ दिया ही नहीं तो नरेन्द्र मुझे कहां से लौटाता ? शचीन बाबू के मुंह से रवि ठाकुर का गीत सुन कर शान्ति कहां मिलती है ? जब सुअवसर ही जाता रहा तो अब गीत सुन कर नरेन्द्र को कहां से खोज लाऊं ? झोली उलटने की घड़ी बीत गई तो अब झोली किसके आगे उलट दूं ? शचीन बाबू के मुंह से 'आमार सकल शून्य करे' सुन सुन कर अब तो यह झोली असह्य बोझ बन जाती है।

अपने मन के महल की एक ही खिड़की खोल कर बैठ गई हूं। उसी में से झांक झांक कर सामने के दृश्यों को देखे जा रही हूं।

मैं तो इस एक ओर के दृश्यों में ही उलझी रही! इस महल की शेष खिड़कियां खोलने की बात ही भूल गई। जब उन्हें खोला ही नहीं, उनमें से झांका ही नहीं तो उस ओर क्या कुछ है, मैं क्या जानूं ? इस एक खिड़की में से जो कुछ दिखाई दे रहा है, वही सब कुछ नहीं है। उससे परे भी कुछ होगा, अवश्य होगा।

क्या इस निरंकुश काम-केलि, उद्दाम उच्छृंखलता, वीभत्स वासना के अतिरिक्त सृष्टि में शून्य ही शून्य है ? यदि ऐसा ही होता तो नीतिकार और स्मृतिकार काम के अतिरिक्त धर्म, अर्थ और मोक्ष की बात क्यों कहते ? उन्होंने तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ऐसा क्रम रखा है। उनकी वाणी बार बार कहती है कि धर्म पहले है, धर्म पहले है। पहले धर्म हो फिर उस धर्म पर आधारित अर्थ हो तब कहीं धर्म और अर्थ के पथप्रदर्शन में काम का क्रम आता है। फिर काम तक ही चरम परिणति नहीं है। धर्म और अर्थ के पथ-प्रदर्शन में काम उस पथ पर चले जो मोक्ष पर जाकर समाप्त होता है। और मैं अकल की ऐसी धनी हूं कि धर्म और अर्थ का गला घोंट, मोक्ष को बिसरा कर केवल काम का अखण्ड कीर्तन करने बैठी हूं ?

मिसेज़ कपूर बिहारी जी की मूर्ति के सम्मुख नतशिर होकर गीता पाठ करती हुई प्रतिदिन ही तो कहती हैं 'ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते—संगात् संजायते कामः—कामात् क्रोधोऽभिजायते' सुन कर भी कहां सुन पाई गीता की पवित्र वाणी को ? विषयों में ध्यान लगाए रही तभी तो काम और क्रोध के अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं आया। और अब तो 'बुद्धिनाशात्प्रणश्यति' की बेला सिर पर आन खड़ी है। जिस काम को सम्बल बना कर, अहंकार के मद में झूमती हुई जीवन की डगर पर इतराती, बल खाती, इठलाती चली थी, अब

तो वह काम भी बुद्धिनाश का अद्‌भुत उपहार देकर, दूर भागा जा रहा है। सोचा था इसी काम के सहारे जीवन जी लूंगी! तब कहां जान पाई कि यह तो अविश्वसनीय, चंचल और अस्थिरमति सखा है, यह अन्त तक कैसे साथ देगा? जानती तो स्वार्थ में अंधी हो, धर्म का गला घोंट क्यों पकड़ती इस काम का हाथ? क्यों छली जाती इस चंचल काम के हाथों?

बहकती हूं तो बहकती ही चली जाती हूं। बुद्धि नष्ट होने के पश्चात् इस विक्षिप्तावस्था के अतिरिक्त और किस वस्तु की प्राप्ति होती?

माना कि प्रवीण के साथ कामान्ध हो कर ही मैंने सम्बन्ध स्थापित किए थे परन्तु नरेन के साथ भी क्या वही कुछ किया था? अगर मेरे और नरेन के सम्बन्धों के मध्य मात्र काम ही कड़ी थी तो अब भी उसकी याद अनजाने ही मन को क्यों कचोटती है? अगर केवल काम की ही बात हो तो उस रिक्तता को तो शचीन बाबू द्वारा भी मिटाया जा सकता है। क्यों नहीं वह आकर्षण छूट पाता? आज भी शचीन बाबू के चेहरे में नरेन का चेहरा क्यों झांक झांक जाता है? सुना पढ़ा यही है कि ऐसा प्रबल आकर्षण वहीं होता है, जहां प्रेम होता है। तो क्या अपनी विक्षिप्तावस्था के कारण इसी पवित्र प्रेम को घृणित काम समझ बैठी हूं?

नीरज भैय्या ने कहा था, "रेणुका! तुम शायद विक्षिप्तावस्था में प्रत्येक तथ्य को ग़लत दृष्टिकोण से परख रही हो। हर विध्वंस निर्माण की सृष्टि नहीं करता। तुम सिद्धान्त को ग़लत रूप में ग्रहण कर रही हो।"

मैं अपनी अहमन्यता में डूब धृष्ट बन गई थी। उत्तर देते समय बड़े भैय्या की बात को ठीक ठीक समझना भूल गई थी। मुझे तो यूं लगता है कि नीरज भैय्या की हर बात गहन मनोमन्थन, गम्भीर

चिन्तन, और अथाह अनुभूति में से निकल कर बाहर आती है। व्यक्ति अपने अज्ञान अथवा अहंकार के कारण उनकी बातों को साधारण समझ कर भले ही बिसरा दे परन्तु वे साधारण नहीं होतीं। ऊपर से साधारण लगने वाली बातों में अत्यन्त गम्भीर अर्थ छिपे रहते हैं। बड़े भैय्या बात को सरल बना कर शायद इसलिए सामने रखते हैं कि कहीं दूसरे की आंखें उसके प्रखर प्रकाश को देख कर चुंधिया न जाएं? अहंकार को बड़े भैय्या पास नहीं फटकने देते! अहंकार की नज़र न लग जाए, इसी डर से शायद अपनी महत्त्वपूर्ण बातों को साधारण और सरल वेष भूषा में ही मन से बाहर निकालते हैं। ऊपर से सरल लगने वाली बातें भीतर से अत्यन्त जटिल होती हैं। व्यक्ति एक बार उस अर्थ गांभीर्य की महत्ता को समझ ले फिर तो वह उनकी बातों को मन में सहेज सहेज कर रखता है।

परन्तु सहेज कर रखना एक बात है, समझ कर रखना दूसरी बात। यदि मात्र रटने से ज्ञान प्राप्ति होती तो तोता मैना कब के महाज्ञानी बन गए होते? मुझे तो बस मैना की तरह रटना आता है, समझना, परखना, गुणना और ग्रहण करना कहां आता है? यह सब आता तो उन बातों को सहेज कर भी क्या यूं ही बार बार ठगी जाती?

माना कि मुझे नरेन से प्रेम था परन्तु प्रेम को अपनाने का मेरा दृष्टिकोण स्वार्थ में डूब दूषित हो गया था। मैंने प्रेम को खोटे सिद्धान्त की कसौटी पर परखा था अतः उसमें मिले खोट को मैं नहीं पहचान सकी। मैं तो प्रेम को विध्वंसकारी मान, उसी विध्वंस लीला में से निर्माण के सुनहले स्वप्न देखती रही। प्रेम जलाता कहां है, वह तो धो कर निर्मल करता है, पवित्र करता है। क्या हो गया था मेरी समझ को? क्यों नहीं समझ पाई कि जिससे नरेन की गृहस्थी नष्ट

हो रही थी, नरेन का तन सुलग रहा था, मन जल रहा था वह और कुछ भले ही होता प्रेम नहीं हो सकता था।

बड़े भैय्या कहा करते हैं, "प्रत्येक वस्तु का, प्रत्येक व्यक्ति का, प्रत्येक कार्य का अपनी सीमाओं में, अपनी मर्यादाओं में रहना ही श्रेयस्कार है। असत्य से सत्य की सृष्टि नहीं होती, सत्य में से ही उससे बड़ा सत्य प्रकट होता है, विकसित होता है।"

मैं तो मर्यादाओं की बात ही भूल बैठी। प्रेम को उच्छृंखलता और अदम्य वासना तक घसीट कर ले गई। अगर यह भी मान लूं कि प्रेम को मैंने उच्छृंखल नहीं होने दिया तो भी इस सत्य को तो मानना ही पड़ेगा कि प्रेम को मैंने उसके क्षेत्र से निकाल दिया, परिधि से परे धकेल दिया। हमें निर्माण की स्वतन्त्रता है, विध्वंस की स्वतन्त्रता नहीं है। यदि हमारे प्रेम से सामाजिक संगठन छिन्न भिन्न होता है, मानव मूल्य नष्ट होते हैं, अराजकता फैलती है, प्रगति रुकती है, विकास बाधाग्रस्त होता है तो ऐसे प्रेम को उन्मुक्त नृत्य की स्वतन्त्रता कैसे मिल सकती है? जिन्होंने प्रेम पर अंकुश लगाया है, इसे बाढ़ के पानी की तरह फैलने नहीं दिया अपितु सच्चाई और कल्याण के किनारों में बांध कर बहाया है उन्होंने उचित ही किया है। अगर वे ऐसा अंकुश न लगाते तो यह सारा समाज आज बाढ़ के पानी में बह जाता। समाजशास्त्री दूरद्रष्टा थे अतः उन्होंने सोचा कि प्रेम महत्त्वपूर्ण है परन्तु वही सब रिक्तताओं को भरने के लिए पर्याप्त नहीं है क्योंकि सृष्टि में दिल ही दिल नहीं हैं, उन दिलों की इच्छाओं से निकल कर ठोस धरती पर बने घर भी हैं, गृहस्थी भी है, बच्चे भी हैं, माता पिता भी हैं, कुल और वंश भी हैं और इन सबकी सुरक्षा मानव विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अतः उन्होंने सिद्धान्त बना दिया कि प्रेम महा वरदान है क्योंकि मानवता की थकन को हरता है। परन्तु इस वरदान के सदुपयोग

के लिए, अंकुश लगाया कि प्रेम मानव और समाज का रक्षक बने, भक्षक न बने ।

यह सब कुछ तो आज सोचती हूं जब सुअवसर हाथ से जाता रहा है । उस समय कहां सोचा था ? सोचती भी कैसे तब तो आंखों पर पट्टी बांध कर अद्भुत प्रेम का महानृत्य नाचने निकली थी ! कहां समझ पाई कि ये नैतिक मान्यताएं कल्याण कामना की प्रतीक हैं ? इन्हें स्वतन्त्रता में बाधक समझ कर, इनसे बचती रही, इन्हें अहंकार और स्वार्थ के थिरकते कदमों के नीचे रौंदती रही ।

समझ बैठी थी कि नीरज भैय्या, सन्ध्या, नरेन, प्रवीण, शचीन और मिसेज़ कपूर सब पाखण्डी हैं, दम्भी हैं तभी असत्य को सत्य कहते हैं । मुझे कहां ख़बर थी कि सत्य सीमित नहीं है, विशाल है, महान है, अथाह है, अनन्त है । कूंए की मेंढकी बन कर ही महासागर नापने चली थी ? नीरज भैया पर, यह सोच कर झुंझलाती रही कि इन्हें किसी सत्य को छोटा बना कर और किसी को बड़ा बना कर देखने की आदत है । आज समझ पाई हूं कि एक खिड़की खोल कर जो कुछ सामने दिखाई देता है वही सब कुछ नहीं है, उसके अतिरिक्त शेष खिड़कियों के सामने भी बहुत कुछ है और वह सभी कुछ महत्त्वपूर्ण है । मेरी खिड़की के सामने दिखाई देने वाले ठोस सत्य की तरह वह भी ठोस है, कोरी कल्पना नहीं है ।

कल का सत्य अपनी जगह स्थिर है, आज का अपनी जगह स्थिर है परन्तु दोनों यदि एक दूसरे के पूरक नहीं बनते, विनाशक बनते हैं, एक दूसरे से सम्पृक्त नहीं होते अपितु असम्पृक्त रहते हैं तो वे अपने अपने स्थान पर महान रह कर भी तमहर नहीं बनते, अन्धकार की ही सृष्टि करते हैं । ऐसे असम्पृक्त सत्यों की ज्योति, असम्पृक्तता द्वारा नष्ट हो जाती है, वे प्रकाश विहीन हो जाते हैं, मुसाफिरों की राहें उन अंधेरों में भटक जाती हैं । सत्य का रूप छोटे छोटे मणि

मुक्ताओं की तरह नहीं है जिसे कोई मुट्ठी भर भर कर बखेरता रहे अपितु तेजपुञ्ज की तरह है जो बग़ैर भेद भाव के सब को प्रकाशित करता है, कण कण को आलोकित करता है।

मैं तो सत्य को मणि मुक्ता समझ बैठी! इसी को बिखेरने की मूर्खता कर बैठी। वह क्या बिखरने जैसा था? सत्य तो क्या बिखरता, इसे बिखेरने की धुन में मैं ही बिखर गई, धूल में मिल गई!

धूल में मिल कर भी अभी अहंकार कहां मरा है? अब धूल बन कर शचीन बाबू की आंखों में किरकिरी बनने चली हूं ताकि वे भी मेरी तरह अन्धे हो जाएं, इतिहास का बांध काट कर महाप्रलय मचा दें।

महाप्रलय भी कहां मचा? वह मुझ अकिंचन की सामर्थ्य में कहां था? महाप्रलय हो गया होता, वही भला था! कब की डूब कर चिन्ता मुक्त हो गई होती!

नरेन के साथ एक बार बम्बई गई थी। घूमते घामते हम लोग चैम्बूर की ओर ऑयल रिफाइनरीज़ देखते देखते समुद्र तट तक निकल गए थे। मुझे वह दृश्य बहुत भाया। मन्त्रमुग्ध सी सामने फैले असीम सागर को एकटक निहारती रही। अनन्त तक फैले नीले सागर से सिमट कर दृष्टि समुद्र तट पर सिमट आई।

ऊंचे ऊंचे बांसों में अटकी डोंगियां समुद्र तट की रेत पर पड़ी थीं। पूछने पर नरेन ने बताया था, "समुद्र जब ज्वार पर होता है तो पानी यहां तक पहुंच जाता है। ये डोंगियां पानी में तैरने लगती हैं। मछियारे इनमें बैठ कर मछलियां पकड़ा करते हैं। पानी किस प्रबल मोह से उमड़ता इन तक आता है और इन डोंगियों को अपने वक्ष में समेट लेता है, वह कहने की नहीं देखने की चीज़ है। देख कर ही उसका आनन्दोपभोग किया जा सकता है।"

मेरी डोंगी तो भाग्यचक्र ने तोड़ फोड़ कर दहकते रेगिस्तान में फेंक दी है। इसके ऐसे भाग्य कहां कि प्रबल मोह से उमड़ता पानी इसे अपने वक्ष में समेट लेता? ज्वार तो समुद्र में उठा करते हैं, रेगिस्तान में तो सिर्फ गर्म रेत की आंधियां चला करती हैं। चांदनी रातों में तो समुद्र उफनता है, रेगिस्तान में तो चांदनी भी उदासी बन कर बरसती है। मछियारे, मछलियां तो समुद्र तट पर पकड़ा करते हैं, रेगिस्तान की गर्म रेत में तो मछलियां केवल तड़प तड़प कर मरा करती हैं।

मैं जानती हूं कि यह दहकते रेगिस्तान में पड़ी टूटी फूटी डोंगी लगातार टकटकी बांधे, मीलों दूर तक फैली सुलगती रेत को देखती रहेगी और फिर एक दिन किसी आंधी से रेत में दब कर रेत बन जाएगी। देखते देखते इस बदनसीब डोंगी की आंखें पथरा जाएंगी लेकिन दहकता रेगिस्तान, उफनता सागर कभी नहीं बनेगा, कभी नहीं बनेगा! यह रेत में दब जाएगी लेकिन प्रबल मोह से उमड़ता सागर इसे कभी अपने वक्ष में नहीं समेटेगा, कभी नहीं समेटेगा! इसके रेत बन जाने तक चांदनी इस पर उदासी बन कर बरसती रहेगी लगातार बरसती रहेगी!

शचीन बाबू इतने बड़े इतिहासज्ञ हो कर भी यथार्थ को नहीं समझते! न जाने क्या समझ कर रवि ठाकुर का गीत गाया करते हैं—

"एबार भासिये दिते हबे आमार एइ तरी। तीरे बसे जाय जे बेला, मरि गो मरि—"

शचीन बाबू से हाथ जोड़ कर कहूंगी, "भगवान के लिए, रवि बाबू का यह गीत मुझे मत सुनाया कीजिये। यह टूटी किश्ती इस लायक कहां कि पानी में तैरायी जा सके? किसी अच्छी और मज़बूत किश्ती को पानी में तैराने की बात सोचिये, मूर्ख न बनिये। इस टूटी

किश्ती की सार्थकता तो इसी में है कि यह दहकते रेगिस्तान में पड़ी धीरे धीरे रेत में मिल कर रेत हो जाए। आप यदि इस टूटी फूटी नौका पर सवार होकर परले पार पहुंचने की सोचेंगे तो बीच मंझधार में ही डूबना होगा! आप परले पार बजती बांसुरी की मधुर ध्वनि कभी नहीं सुन सकेंगे, कभी नहीं सुन सकेंगे! इस मधुर ध्वनि की तान सुनने की अपूर्ण इच्छा लिए ही बीच मंझधार में डूबना होगा।"

मैं बताऊंगी कि कैसे इस टूटी किश्ती के सहारे परले पार पहुंचने की धुन में नरेन जैसा कलाकार डूबा था, कैसे उसके बोल भी गहरे और चक्करदार भंवरों में खो गए थे? अवश्य बताऊंगी ताकि शचीन बाबू इस टूटी नौका के मोह में फंस कर अपनी जान न गंवा बैठें।

शचीन बाबू की मूर्खता का तो कोई ओर छोर दिखाई नहीं देता। उन्हें तो सब अपनी तरह मन के उजले दिखाई देते हैं। मुझे तो वे न जाने क्या क्या समझ बैठे हैं? उनसे कहूंगी कि किसी अपने जैसे उजले मन के साथी को लेकर अनन्त यात्रा पर निकलिए। मैं तो केवल पुण्यों को पाप बनाना सीखी हूं, पापों को पुण्य बनाने की कला मैं नहीं जानती। जानने की कभी इच्छा ही नहीं हुई, मैं तो पापों की चमक में ही खोई रही। मुझ पापिन के साथ आप किस तीर्थ की यात्रा पर निकलना चाहते हैं?

रवि ठाकुर के गीत सुनाते रहते हैं। गाते हैं तो यूं लगता है मानों कृष्ण कन्हैया, कदम्ब वृक्ष के नीचे बैठे बंशी ध्वनि से सारे वातावरण को मधुमय बना रहे हों। इनसे कहूंगी मैं राधा नहीं हूं, मैं तो पापिन हूं, दुराचारिणी हूं, मुझे त्यागने में ही कल्याण है।

उस दिन कहने लगे, "रवि बाबू का नया गीत सीखा है, सुनोगी रेणु!"

यह 'रेणु' मेरे कानों में ऐसा गूंजा कि मैं सुध बुध बिसार बैठी।

आत्माविभोर हो कर बोली, "सुनाइये शचीन बाबू ! मैं आपके गीत सुनने के लिए बहुत तरसा करती हूं ।" उनकी आंखों में अद्भुत रंग खिल उठे । तन्मय होकर गाने लगे—

'कथा छिल एक तरी ते केवल तुमि आमि—याब अकारणे भेसे, केवल भेसे-त्रिभुवने जानबे ना केउ आमरा तीर्थ गामी—कोथाय येते छि कोन देशे से कोन देशे ।'

कितनी तन्मय होकर सुनती रही । शचीन बाबू अर्थ समझाते समझाते अबाध गति से बोलते रहे, कानों में रस घोलते रहे ।

ऐसे निष्पाप व्यक्ति के जीवन में, अपने सुख की खातिर ज़हर घोलने की बात मैं क्यों सोचने लगती हूं ? मैंने ऐसे पुण्य कर्म किए ही कहां हैं कि शचीन बाबू के साथ अनन्त तीर्थ यात्रा पर निकल सकूं ? जहां मैं पहुंचूंगी वह तीर्थ, तीर्थ रह ही कहां जाएगा ? मैं पापिन जिस भी तीर्थ पर पहुंची उसे नरक बनते देर नहीं लगेगी । यह शचीन बाबू को क्या हो गया है, क्यों अपने जीवन में ज़हर घोलना चाहते हैं ?

बेचारे जानते ही कहां हैं ? नरेन की तरह विष को ही अमृत समझने की भूल कर रहे हैं । और मैं ऐसी स्वार्थिन हूं कि विषपात्र तक पहुंचते उनके हाथों को परे नहीं हटाती, बस आनन्दविभोर हो कर देखे जा रही हूं ।

बहुत उठा लिया इस स्वार्थ का बोझ, और अधिक मुझ से उठाए नहीं बनता । मैं तो नरेन के दुःख में ही जली जा रही हूं, शचीन बाबू का दुःख मुझसे कहां देखा जाएगा ? शचीन बाबू से कहूंगी, "आप मुझे मेरे हाल पर रहने दीजिये । मुझ पापिन के साथ आप चलेंगे तो आपके पुण्य भी पाप बन कर आप को जलाते रहेंगे, ज़हरीले नागों की तरह डंसते रहेंगे । आप ऐसे साथी को लेकर यात्रा पर निकलिए जिसके साथ से आपके पुण्य चमक उठें, अन्धेरे मिट जाएं, मंज़िलें आसान हो जाएं ।"

और अब स्वार्थ करूं भी किस लिए ? ऐसा रह ही क्या गया है जीवन में जिसके लिए स्वार्थ में फंसी रहूं। इस स्वार्थ में फंस कर जो कुछ सहेज लिया है, मुझसे तो वह गठर ही उठाए नहीं बनता, और अधिक बांधने की मुझमें सामर्थ्य कहां है ? मैं तो इसी गठर के बोझ से लड़खड़ा चली हूं, पैर कांप रहे हैं, आंखों के आगे अंधेरा सा छाए जा रहा है, अजीब चक्कर से आ रहे हैं, अब तो काल नगारा सिर पर बजता सुनाई दे रहा है।

● ● ●

कटती राहें, सिमटती मंज़िलें

★ सन्ध्या

सुखिया कितनी देर से एक ही पंक्ति रटे जा रही है मानों किसी घिसे रिकार्ड पर सूई अटक गई हो। कुर्सी पर बैठे बैठे कितनी ही बार मन में आया है कि उसे डांट दूं, "क्या कें कें लगा रखी है ? बन्द करो और जल्दी जल्दी सफाई करके यहां से चलती नज़र आओ।" सोच कर ही रह गई हूं, उससे कुछ भी कहते नहीं बनता, बस घिसे रिकार्ड की एक ही पंक्ति दिमाग़ में तैरती जा रही है। सुनते सुनते सामने के पीपल की ओर नज़र उठ गई है, पत्ते तालियां बजा बजा कर सुखिया के बोलों का साथ दे रहे हैं। अचानक दो चार सूखे पत्ते खड़ खड़ करते साफ सुथरी ज़मीन पर आ गिरे हैं। सुखिया ने थोड़ी देर पहले उस जगह को साफ किया था। गिरते पत्तों के साथ ही साथ टहनियों में उलझती फंसती नज़र ज़मीन पर पड़े पत्तों पर आ कर अटक गई है। अनायास ही मन में टीस सी उठी है और आंखें भर आई हैं। सुखिया कूड़ा समेट कर चली गई है। घिसा रिकार्ड भी उस के जाने के साथ ही बन्द हो गया है लेकिन अभी तक मेरे दिमाग़ में वही एक पंक्ति गूंजे जा रही है और मैं हसरत भरी निगाह से ज़मीन पर पड़े पत्तों को देखे जा रही हूं और सुने जा रही हूं 'पिप्पल देआ पत्तया कानूं खड़ खड़ लाई—झड़ गए पुराणे रुत नंवयां दी आई।'

भीतर बैठा कोई बार बार दोहराए जा रहा है 'झड़ गए पुराणे रुत नंवयां दी आई—झड़ गए पुराणे रुत नंवयां दी आई।'

फिर सोचती हूं कि क्या यूं ही झड़ गये ये पत्ते? झड़ने से पहले इन्हें बाल रवि की किरणों ने चूमा होगा, कितनी बार चांद इनके पीछे से झांक झांक कर मुस्कराया होगा, कितनी बार अन्धेरी रातों में तारों ने इनकी आंखों में आंखें डाल कर अपनी कहानियां कही होंगी, कितनी ही बार टहनियों पर बैठे परिन्दों की मीठी रागनियां इन्होंने सुनी होंगी, उनके तन को सहलाया होगा, तब कहीं ये पुराने बन कर झड़े होंगे? इनकी खड़खड़ क्या निरर्थक थी? मानो ज़मीन पर गिरने से पहले अपनी ज़िन्दगी की रामकहानी नये आने वालों को गा गा कर सुना रहे हों। इनकी खड़ खड़ सुखिया की आवाज़ की तरह खुश्क भले ही हो लेकिन कुछ तो इनकी आवाज़ में ऐसा है जिसे सुनने का मोह त्यागते नहीं बनता।

अपनी ज़िन्दगी जी चुके, अपनी कहानी कह चले, अब इसके बाद शेष रह भी क्या गया था इनके पास? आने वालों को कहानी दोहराने का और नई कड़ियां उसमें जोड़ने का सन्देस देकर बेचारे थकन दूर करने ज़मीन पर आ लेटे। इसमें कुछ भी तो अनहोनी नहीं है, फिर इन्हें ज़मीन में लेटते देख मेरी आंखें क्यों भर आई हैं?

उस दिन नीरज बाबू कह रहे थे, "डॉक्टर साहिब! आप को तो प्रतिदिन क्वार्टर से निकलते ही साक्षात् भगवान के दर्शन हो जाते हैं अतः पाप आपके पास कहां ठहर पाते होंगे?" मैंने कहा, "मुझे तो सुबह होते ही इस लड़ाकी सुखिया के दर्शन होते हैं।" कहने लगे, "आप भी अजीब हैं। भगवान बेचारे ने आपको फिर दर्शन देने के लिए ही तो इधर बुला भेजा है वर्ना क्या आप फिर इस शहर में खिंची चली आतीं?" मैंने कहा, "दर्शन देने कहां बुलाया है? अच्छी भली आराम में थी, फिर गोरखधन्धे में उलझा मारा है।" हंसते हुए पीपल के वृक्ष की ओर इशारा करते हुए बोले, "देख नहीं रही हैं आप? साक्षात् भगवान खड़े हैं। गीता में है न,

'अश्वत्थः सर्व वृक्षाणां' बस पीपल के रूप में ही तो वृक्षों में दर्शन देते हैं।" फिर हंसते हुए बोले, "कभी इन्हें जल भी चढ़ाती हैं या नहीं?" बेख्याली में कह गई, "सुखिया बेचारी को जल चढ़ाने का अधिकार नहीं है और मेरे पास इतनी फुरसत नहीं है इसलिए आपके भगवान ने स्वयं जल ग्रहण करने की तरकीब निकाल छोड़ी है। बुद्धन जो पानी फूल पौधों की क्यारियों में छोड़ता है उसी का सदुपयोग यह अपने लिए करते रहते हैं। और फिर मैंने कौन सा वरदान मांगना है कि इन्हें जल चढ़ाती फिरूं? मुझे तो पहले वरदानों का बोझ ही बुरी तरह पीसे जा रहा है।"

जो बात उस दिन समझने से रह गई थी, वही आज इन ज़मीन पर गिरे पत्तों को देख कर समझ में आई है। सुखिया जल नहीं चढ़ा पाती तो क्या हुआ, इस देवस्थान की सफाई तो करती है? तभी तो 'झड़ गए पुराणे रुत नंवयां दी आई' इस पंक्ति ने ही मुझे अनोखा प्रकाश दिखा दिया है।

बैड् नम्बर ग्यारह, बेचारा ऑपरेशन के बाद भी बच नहीं सका। मिट्टी को उठा कर बाहर रखा तो सगे सम्बन्धियों का दुःख रुदन बन कर फूट पड़ा। लोग गुज़रे हुए के लिए रोते हैं अथवा उनका अपना स्वार्थ उन्हें रुलाता है? गुज़रे हुए के लिए रोते हैं तो फिर वह रुदन अचानक थम क्यों जाता है? और फिर जो सगे सम्बन्धी नहीं हैं, उनकी आंखें भी स्वजनों को रोते देख, क्यों भर आती हैं? शायद दूसरों को भी उस दुःख को देख अपने भूले बिसरे दुःख याद आ जाते हैं। दिखाई देता है कि लोग गुज़रे हुए के लिए रो रहे हैं परन्तु रोते हैं अपने अपने दुःख में डूब कर ही। यह भी हो सकता है कि गुज़रे हुए को देख उन्हें अपना गुज़रना सम्मुख दिखाई दे जाता हो, तभी घबरा उठते हों, आर्तनाद कर उठते हों।

मानों ये पीपल के पुराने पत्ते गिर कर कानों में कह गए हैं, "यही चिरन्तन सत्य है। हम झड़े हैं तो यही कहने के लिए कि तुम भी यूं ही नहीं बने रहोगे।" अपना गुज़रना याद आते ही शायद आंखें भर आई हैं।

नीरज बाबू ने एक बार ख़त में लिखा था, "डॉक्टर साहिब, जीवन स्थिरता का नाम नहीं है। गतिमयता ही जीवन का लक्षण है। यह बात अलग है कि कई बार मीलों दूर तक एक जैसे दृश्यों को देख कर हम समझ बैठते हैं कि हम एक जगह खड़े हैं परन्तु जब वे दृश्य अकस्मात् ओझल हो जाते हैं तब हम तिनके की तरह बहते हुए सोचते हैं कि अपनी भी एक नौका होती, मनचाहे किनारे पर लगा जा सकता! फिर बस भंवर में डूबने भर की गुञ्जाइश ही बाकी रह जाती है, किसी किनारे तक पहुंच पाना अत्यन्त कठिन बल्कि असम्भव हो जाता है।"

यह दुःख शायद इसलिए है कि चारों ओर अथाह गहराइयों में डुबो देने वाले भंवरों के अतिरिक्त कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। मैं तो एक जैसे दृश्यों को देख कर समझी थी कि जो कुछ भी है यही है, इससे परे कोरी कल्पना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यही सोच कर मैंने लिखा था, "नीरज बाबू! कल की चिन्ता में जो आज का सुख भी गंवा बैठते हैं उन लोगों की अक्ल से मेरा मेल नहीं बैठ पाता। कल जब आएगा, देखा जाएगा। उसकी याद दिला कर मेरी आज की प्रसन्नता को भी नष्ट न कीजिए।"

परन्तु प्रसन्नता तो मिलती है जीवन जीने में। मैंने जीवन जिया ही कहां है जो मुझे प्रसन्नता प्राप्त होती? मैं तो इन पीपल के पत्तों से भी गई बीती हूं। इनके पास खड़खड़ करके कहने को अपनी कहानी तो है। परन्तु मैं तो जीवन में ऐसा कुछ भी नहीं संजो पाई जिसकी

कहानी दूसरों को गुज़रने से पहले सुनाई जा सके। नीरज बाबू कहा करते हैं, "कहानी में एक सैन्ट्रल आइडिया होना निहायत लाज़िमी होता है। अगर कहानी का क्लाइमैक्स कमज़ोर पड़ जाय अथवा गड़बड़ा जाए तो कहानी निर्जीव बन कर रह जाती है।"

ज़िन्दगी की दोपहर ढलने को आई, अब तो इस सन्ध्या की सन्ध्या से गले मिलने की वेला सामने प्रतीक्षा करती दिखाई दे रही है। मैं तो अपनी कहानी का सैन्ट्रल आइडिया आज तक नहीं खोज पाई! कहानी होती है पर्वत से मैदान तक पहुंचने वाली तीव्रगामी नदी की तरह, तभी तो उसमें आकर्षण होता है, क्लाइमैक्स होता है। मैं तो बिना किनारों के बरसाती पानी की तरह बंजर ज़मीन में गुम होकर रह गई! मेरी कहानी तो कहानी बनने से पहले ही समाप्त हो गई। ऐसी कहानी का खाक क्लाइमैक्स होता? मेरी तो यही कहानी है कि मेरी कहानी कभी भी कहानी नहीं बन पाई! मैं भी किन बे सिर पैर की बातों में उलझ जाती हूं। नीरज बाबू कहा करते हैं, "डॉक्टर साहिब! आपको यह क्या हो जाता है? देखते देखते आप समाधिस्थ अवस्था में पहुंच जाती हैं। व्यर्थ की बातों में चिन्तामग्न होने से फायदा? गीता में है न? 'गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः' बस उसी पर अमल किया कीजिये।"

मन है कि ठहरना ही नहीं चाहता, बार बार भटक जाता है। नीरज बाबू की कहानी प्रकाशित हुई थी। पत्रिका उठा कर वही पढ़ने बैठ गई। कितनी ही बार पत्रिका उठा कर पढ़ने बैठती हूं परन्तु कहानी अधूरी ही रह जाती है। सारी कहानी पढ़ डालने की सामर्थ्य जुटा ही नहीं पाती। पढ़ते पढ़ते उन पंक्तियों पर पहुंच कर दिल डूबने सा लगता है, "बगैर सोचे समझे भागते रहना कैसी विडम्बना थी! बस यही उसकी साध थी कि गिरने से पहले एक बार कोई मुसाफिर उसी राह पर आ निकले, भले ही दुश्मन क्यों न हो? वह गिरते गिरते भी

गला फाड़ कर उससे कह दे—भाई ! जब राहें भटक जाती हैं तो सुख नहीं मिला करता, सुख की भ्रांति मात्र मिला करती है। सचाई की छाया को छूना, सचाई को पाना नहीं है, वह तो केवल मरीचिका में भटकना है।"

जानती हूं कि राहें भटक गई हैं, फिर भी बगैर सोचे समझे भागती जा रही हूं। लेकिन नीरज बाबू की स्मृति क्यों भुलाए नहीं भूलती ? यह स्मृति की छाया सी क्यों निरन्तर दग्ध मन में तैरती रहती है ? शीतलता कहां देती है यह छांह ? यह तो और जलाती है, और तड़पाती है। फिर भी इस अर्थहीन छाया का मोह क्यों छोड़ते नहीं बनता ? शायद मैं ही बच्चों के से धूप छांह के खेल में उलझ गई हूं। जहां भी यह छांह पहुंचती है दौड़ कर उसी के नीचे पहुंच जाती हूं। कल शीशे के सामने बाल संवारते संवारते दो चार सफेद बाल दिखाई दे गए। सोचा, चलो जीवन की डगर कटने के चिह्न प्रकट होने लगे। इस डगर के अन्त की बेला में भी बचपना क्यों साथ साथ लगा आ रहा है ?

अटल और सुनिश्चित को बदला नहीं जा सकता। जानती हूं कि नीरज बाबू की और मेरी दूरी अटल है, सुनिश्चित है फिर भी यह आशा ठगिनी अपने संकेतों पर क्यों नचाती रहती है ? अगर यह आशा, गली गली, डगर डगर इन कठपुतलियों के नाच का तमाशा न करती फिरे तो कौन पूछे इसे ? कठपुतलियों के नाच दिखा दिखा कर ही तो यह दुनिया भर के लोगों को ठगती फिरती है। और लोग इस नाच तमाशे में इतने लीन हैं कि जो असत्य है, उसे ही सत्य समझ बैठे हैं, अगर कोई सत्य की ओर संकेत करे तो उसे ही पागल समझने लगते हैं।

आशा के हाथ की डोर टूटते ही कठपुतली बेजान सी गिर पड़ती है। मिस्टर दिनेश भी अब तो डोर टूटी कठपुतली बन कर रह गए हैं। यह भाग्य भी कैसे कैसे खेल खेलता है ? पहले स्नेहप्रभा को यह

दुःख था कि मिस्टर दिनेश रंगारंग के नाच क्यों नाचा करते हैं और अब यह दुःख है डोर कटी कठपुतली की तरह खाट पर क्यों पड़े रहते हैं ?

नीरज बाबू एक दिन हंसी हंसी में कह रहे थे, "अगर किसी इन्सान को बेमौत मारना हो तो उसके दो ही तरीके हैं। अगर आपसे कमज़ोर है, आपके सामने चूं चपड़ नहीं कर सकता तो कम्बख़्त को इतना ग़रीब कर दीजिए कि उसे सपने में भी गोल गोल पहिये की तरह रोटी आगे आगे भागती नज़र आने लगे और बदकिस्मत उसके पीछे भागता भागता ख़ुद ही हांफ हांफ कर दम तोड़ जाये। और अगर ऐसा आदमी आपसे ज़्यादा ताकतवर है, आपको उसके सामने ज़ुबान खोलते भी डर लगता है तो बग़ैर कुछ कहे उसे अपने चारों ओर की दौलत बटोर लेने दीजिये, इतनी अधिक कि उसे सपने में भी खाने की प्लेटों में साफ़ चिकने नोट और चांदी सोने के सिक्के ही दिखाई दें। गारण्टी समझिये, नोट और चांदी सोना खाने वाला आदमी ज़्यादा दिन ज़िन्दा नहीं रह सकेगा।"

हंसते हंसते एक दम गम्भीर हो गए। कहने लगे, "आज कल विज्ञान, दर्शन, कला, सभी क्षेत्रों में उसी को सम्मान मिल रहा है जो इस हत्या और आत्महत्या के फ़न में माहिर हो। इसलिए ये दोनों तरीके ही पूरे ज़ोर शोर से काम में लाए जा रहे हैं। सवाल यह है कि अगर लोग सोना चांदी खा खा कर और रोटियों के पीछे भाग भाग कर मरेंगे नहीं, दूसरों को मारेंगे नहीं तो इन्सानी तरक्की कैसे होगी ? जानती हैं आप, इन बड़े बड़े साइंसदानों, फिलॉसफरों और कला-पारखियों ने महान सत्य को खोज निकाला है। अगर तरक्की चाहते हो तो मरने मारने का बाज़ार गर्म रहने दो, हत्याओं और आत्महत्याओं का तांता लगा रहने दो, इसी में से तरक्की की नई नई राहें निकलती रहेंगी।"

कुछ देर रुक कर उसी गम्भीर स्वर में बोले, "डॉक्टर साहिब ! अगर इन्सान के आगे गोल गोल पहियों की तरह घूमती रोटियां रुक जाएं और प्लेटों में नोटों की जगह इन्सान ख्वाब में सिर्फ खाने भर की चीज़ें देखने लगे तो लुत्फ़ आ जाए। सच कहता हूं सृष्टि भर में शहनाइयां गूंज उठें। लेकिन नकारखाने में इस तूती की आवाज़ को कौन सुनता है ? अगर डॉक्टर लोग ये नये नये नुस्खे ईजाद न करें तो मरीज़ों को उनकी अक्ल पर यकीन कैसे आए ? सचमुच यही हो रहा है, कहीं रोटियां इन्सान के आगे आगे भागे जा रही हैं और कहीं इन्सान सोना, चांदी और फौलाद खा खा कर दम तोड़ रहा है।"

बात करते हैं तो मानों अपने आप से ही। दूसरे की उपस्थिति की बात एकदम भूल जाते हैं। उसी धुन में कहते गए, "बीमारी दरअसल सोना, लोहा और चांदी खाने की है। या फिर तेल पैट्रोल पीने की है। ये अखाद्य वस्तुएं खा खा कर मनुष्य जब दम तोड़ने लगता है तो दूसरे के आगे गेहूं या ज्वार की रोटी देख वह अपनी मूर्खता को पहचान लेता है। फिर बन्दर बया का घोंसला उजाड़ डालता है और रोटियां या मिट्टी में मिल जाती हैं या इन्सान के आगे आगे भागने लगती हैं। अगर डॉक्टर लोग कोई ऐसा नुस्खा निकालें कि सोने, चांदी, लोहे फौलाद की भूख और तेल पैट्रोल की प्यास इन्सान में से हमेशा के लिए मिट जाय, फिर देखिये कायनात झूम उठती है या नहीं ? लेकिन सवाल तो तरक्की का है, हत्या और आत्महत्या का है। हम बेवकूफों के घटिया नुस्खों की ओर अक्लमन्द लोग क्यों ध्यान देने लगे ?"

ध्यान नहीं देते हैं तो मरने के सिवाय और रह ही क्या जाता है ? मिस्टर दिनेश को गांव जाकर देख आई थी। स्नेह प्रभा ने लिखा था, "अपनी शक्ति सामर्थ्य की सारहीनता को समझ ईश्वर भरोसे

इन्हें गांव में उठा लाई हूं। ये लाख बुरे थे लेकिन मैंने यह तो कभी नहीं चाहा था! ये जैसे भी हैं मेरे सिर के ताज हैं, मुझसे इनका दुःख देखा नहीं जाता। जो कुछ मेरे पास था वह सब खर्च हुआ। किसी सुघड़ी में इन्होंने यह दस बारह एकड़ ज़मीन खरीद ली थी, वही सहारा बन रही है। बच्चे भी तो इन्हीं के हैं, ज़मीन भी हाथ से गंवा दूं तो उनकी शिक्षा ही कैसे चल पाएगी? फिर शिक्षा तक ही मेरा उत्तरदायित्व कहां है? इनकी बीमारी के कारण मेरा उत्तरदायित्व तो बहुत आगे तक पहुंचता है।

मनोहर और सरोज दोनों ही बड़ी बहन के पास आजकल अलीगढ़ में पढ़ रहे हैं। उधर ही दीदी को उनका खर्च भेज देती हूं। इधर गांव में बिगड़ने के सिवाय वे कुछ भी न कर पाते। भोला को तो तुम जानती ही हो। नौकर के रूप में मुझे तो यह कोई देवता लगता है। इसी की दौड़ धूप से ज़मीन की देख भाल हो पाती है।

होगा तो वही जो भाग्य में लिखा होगा परन्तु फिर भी भिखारिन बन कर तुम्हारे आगे हाथ फैला रही हूं। शायद तुम्हारी डॉक्टरी ही इन्हें इस महादुःख से उबार सके।"

उस धूल अटे गांव में जाकर स्नेह प्रभा से मिल आई। पहले पहल तो मिस्टर दिनेश दौलत को खाते रहे फिर दौलत उन्हें खाने लगी। शराब पी पी कर वे अपना खून पीते रहे, मौज लूटने के पर्दे में खुद को लुटाते रहे। पहले एक दो बार दफ्तर में बैठे बैठे चक्कर आए, बेहोश हुए और तब एक दिन पैरेलेसिस ने आ दबाया।

मिस्टर दिनेश, जिनकी जीनियस पर देहली की दौलत, देहली का रूप रंग फिदा था, एक छोटे से कमरे में साधारण सी चारपाई पर लेटे थे। मक्खियां उड़ाने तक की हिम्मत नहीं थी।

टकटकी बांधे, हसरत भरी नज़रों से हर किसी को देख सकते थे,

मुंह से बोल नहीं सकते थे। मैं चारपाई के पास पड़ी कुर्सी पर बैठी तो मुझे देख उनकी आंखों में आंसू उमड़ पड़े। स्नेहप्रभा उठ कर अन्दर के कमरे में चली गई। मिनट भर बाद लौटी तो अपनी रुलाई को रोकती हुई पति के आंसू पोंछने लगी।

उसी शाम गांव की औरतें बरगद पूजने निकली थीं। पड़ोस की औरतें आकर स्नेह प्रभा को भी बुला ले गईं। वह आंसू पोंछती हुई उठ खड़ी हुई। मैं भी उन औरतों के साथ ही, उनकी, विरसे में मिली श्रद्धा निष्ठा देखने निकल पड़ी। गांव की औरतें बरगद के नीचे दिए जला कर रखती हुई गा रही थीं—हे बरगद देवता, हमारा वंश तेरी तरह विशाल हो, हमारे उनकी उम्र तेरे जितनी लम्बी हो·····।—स्नेह प्रभा ने भी छलछल करती आंखों से अपना दिया बरगद के नीचे रख दिया। एक औरत मेरी ओर देखती हुई बोली, "बहिन, तुम क्या बरगद नहीं पूजोगी?" दूसरी अपनी ठेठ गांव की भाषा में उसके कान में बुदबुदाई। मतलब था, "दिखाई नहीं देता? बेचारी इसी उम्र में विधवा हो गई है। सधवा होती तो क्या मांग में सिन्दूर न भरती? बेचारी के भाग!"

स्नेह प्रभा को बहुत दिनों बाद मन की बात सुनने वाला कोई मिला था अतः जी हल्का होने पर उसे नींद आ गई थी। भोला, मालकिन को सोते देख मालिक की चारपाई के पास पीढ़ी पर बैठ, लालटेन की मद्धिम सी रोशनी में रामायण की चौपाइयां बांच रहा था, जिसकी आवाज़ मेरे कानों में पड़ रही थी। चौपाइयों के श्रद्धापाठ में डूब कर वह अपनी दिन भर की थकन भूल गया था।

मैं खिड़की में से झांकते तारों को देखती हुई अपने विचारों में डूब गई थी। तभी एक तारा टूटा और एक लम्बी सी लकीर बनाता आसमान के अंधेरों में कहीं खो गया। मेरे मुंह से अचानक ही एक लम्बी सांस निकल गई।

मैं सोचती रही, स्नेहप्रभा ने बरगद के नीचे दिया रखते हुए बरगद देवता से किसकी लम्बी उम्र मांगी थी ? पैरेलिसिस में पड़े दिनेश बाबू की ? यह कैसा जीवन है जिसमें पति के अभाव में स्त्री की सत्ता ही समूल नष्ट हो जाती है ! कहीं दिया रखते रखते स्नेहप्रभा को सुधीर का ख्याल तो नहीं हो आया था ? जिसे मन ही मन स्नेह अनेकों पत्र लिखा करती है, क्या कहीं हृदय में ऐसी जगह भी है जहां उसका अस्तित्व सर्वथा लुप्त हो जाता हो ? कहीं ऐसा तो नहीं कि दिनेश बाबू हमेशा स्नेहप्रभा के साथ सुधीर बन कर जिए हों ? यह कैसा बन्धन है जो तोड़ते नहीं बनता, ज्यों ज्यों तोड़ने का प्रयत्न करो यह और सुदृढ़ होता जाता है। पति परमेश्वर होता है फिर परमेश्वर के आसन पर दूसरा कैसे आ विराजता है ?

स्नेहप्रभा बेचारी एक दिन भी तो शायद सुख का जीवन नहीं जी पाई। विवाह कहीं हुआ, बन के किसी की रही ? चाहा किसी को, पाया किसी को ? जिसे पाया, उसी में चाहे को प्रतिष्ठित किया तो उसे भी जान लेना बीमारी ने आ दबोचा। न कभी समग्र रूप में जी सकी, न किसी को जिला सकी ! जब तन मिला तो मन रहित और जब मन मिला तो तन रहित। विधाता भी कैसे कैसे भाग्य सौंप कर व्यक्तियों को इस धरा पर भेजा करता है ! क्या इसी के लिए ज्ञानी जन कह गए हैं 'बड़े भाग्य मानुस तन पावा।'

वह औरत कह रही थी, "देखती नहीं हो इसी उम्र में विधवा हो गई है ?" स्नेह प्रभा भी क्या कभी सधवा रही है ? जिन्हें पहले दिन से ही सधवा के कपड़े पहना कर विधवा बना दिया जाता है उन्हें ये गांव की औरतें कहां देख पाती हैं ? कुछ लोग कमज़ोर होते हैं, मुसीबतें झेल नहीं पाते सो टूट जाते हैं। सुनयना ऐसी ही थी शायद। कुछ सख्तजान होते हैं, झेले जाते हैं और जिए जाते हैं।

मैं तो सात आठ दिन ही उस गांव में रह कर उकता गई। भाग

आई वहां से। स्नेहप्रभा ने तो जीवन के शेष दिन तिल तिल करके उसी गांव में काटने हैं। अभी पैरेलेसिस के मारे शरीर की सिर पर छाया तो है जब वह भी न रही तब ?

स्नेहप्रभा जीवन में यह तो जान सकी कि उसने किसी को चाहा है, किसी ने उसी को चाहा है। जब वह पराई हो गई है तब भी वह विदेश में उसी की याद को सहेजे मोर्चों पर लड़ता फिरता है, सोचता है शायद कोई गोली किसी दिन उसके सीने को छलनी करती हुई उसे सुख की नींद सुला सके ? एक मैं हूं जो जीवन भर इस चाहने की मरीचिका में ही भटकती रही। सधवा होने से पहले ही विधवा सी हो गई !

उस औरत ने कहा था, "इसी उम्र में विधवा हो गई है।" सुनते ही अचानक नीरज बाबू की याद हो आई थी। सोचा था कहूं, "कैसी बात कहती हो ? मैं विधवा नहीं हूं। मेरे भी वे हैं। चाहती हूं कि मेरी उम्र भी उन्हें लग जाए।" लेकिन सोच कर ही रह गई थी। मन में आया, "मैं स्नेहप्रभा जैसी स्वार्थिन क्यों बनूं ? नीरज बाबू की दशा भी मिस्टर दिनेश से कुछ विशेष अच्छी नहीं है। अपने स्वार्थ के लिए क्यों किसी के दुःख की अवधि को बढ़ाऊं ?"

फिर मन में बैठा कोई कहने लगता है, "वे जैसे भी हैं बने रहें। मेरे सुख भी उन्हें ही मिल सकें तो मेरे अहोभाग्य ! मैं उनकी छाया को निहार सकूं यही क्या कम सौभाग्य है ?"

गांव से जी उकता गया था फिर भी वहां कुछ ऐसा भी था जिसका आकर्षण बना रहता है। औरतों को पता चला कि डॉक्टर हूं तो वर्षों से भूली बीमारियां उन्हें याद हो आईं। उस औरत से कहा, 'आज खाना मत खाना' तो टूटे दांतों के बीच से हंसती हुए बोली, "खाना खाए बग़ैर खेतों में काम कैसे किया जा सकता है ?" अगर दूध पीने को कहो तो हंसती हुई कहेंगी, "अगर हम दूध घर में ही

बरत लें तो घी कहां से बेचें ?" मैं तो यही समझ पाई हूं कि गांव की सत्तर प्रतिशत बीमारियों की जड़ परिश्रम की अधिकता और नितान्त अभाव ग्रसित जीवन ही है।

मैंने पूछा, "परसिन्नी, आज दवाई लेने नहीं आई ? क्या एक ही दिन में सेहत ठीक हो गई ?" कहने लगी, "डाकधर जी, आप दवाई देकर आराम करने को कहती हैं वो मुझसे नहीं होता। नन्दू के बापू को बुखार हो गया तो मैं ही तो पशुओं का सानी चारा करती ? हम लोगों के पास आराम करने की फुरसत कहां है ? इतना काम काज करती हैं तब भी तो दो जून मुश्किल से चलता है।" परसिन्नी के साथ एक दूसरी औरत आई थी। कहने लगी, "डाकधर साब जी, दवाइयां तो अमीर लोगों के चोंचले हैं। हमारा जूड़ी बुखार तो खेतों के क्यारे मोड़ते मोड़ते टूट जाता है। अपनी सान्ती थी न ? सहर में जाके डाकधर को दिखला आई। बोला कि उसके पेट में पथरी है, आपरीसन कराना होगा। यूं ही लौट आई, तीन साल बाल बींका नहीं हुआ उसका। पिछले महीने बेचारी की आ लगी तो चल बसी। अभी हट्टी कट्टी थी। आप जानो लिखी को तो कोई भी मेट नहीं सके है।" मैंने पूछा, 'किसना भी दवाई लेने नहीं आया ?' वही औरत बोली, "झूठमूठ आराम करने की खातिर ये लोग मकर करे हैं। अच्छा भला ढोर चरा के लौटा है। तीन महीने हुए, दूध देती भैंस मर गई। दूध दही की बीमारी है और कोई बीमारी नहीं। आपसे कहे था बीमार हूं और परसों को मेले में देख लीजियो अखाड़े में जरूर उतरेगा। ढोल बजते ही इस सुसरे की बीमारी ये जा और वो जा।"

दिन रात काम करने पर भी ये लोग भूखे क्यों रहते हैं ? कौन हड़प जाता है इनका अनाज ? लाख रोकने पर भी इनके आगे आगे रोटियां क्यों भागती रहती हैं ? इनके चूल्हों में कौन है जो पानी उंडेल

देता है ? क्या अपने बच्चों को स्कूल भेजने को इनका दिल नहीं होता ? स्नेहप्रभा ने लिखा था, "गांव में मनोहर और सरोज बिगड़ने के सिवाय कुछ भी न सीख पाते !" मरद तो एक ओर औरतें भी कैसी मोटी मोटी गालियां निकाल कर लड़ती हैं ? मर्दों को दो ही काम आते हैं। या खेतों में जान मारी कर रहे हैं या फिर गली की नुक्कड़ पर चौपड़ बिछा कर जुटे हैं या ताश खेल रहे हैं। अपने लड़के को भी बुलाएंगे तो मां की गाली निकाल कर और बदले में लड़के भी यही कुछ सीखते हैं। फिर ये ही लोग दिन भर के दुःख सुख और गाली गलौज भूल जब चौपाल में बैठ कीर्तन करते हैं या पण्डित से कथा सुनते हैं तो इनका रूप एकदम ही बदल जाता है। ये सब कुछ मिल कर व्यक्ति के मन को कितना ही व्यथित क्यों न करे परन्तु आकर्षित भी कम नहीं करता। मुझे तो यूं लगता है कि जब इनकी रोटियां इनके आगे से कोई झपट लेता है तो आंतों की कुलबुलाहट के मारे ये बौखला उठते हैं, इनके पौदों की कपास जब इनके पास नहीं रहती तो औरतें कपास की जगह गालियां चुनने लगती हैं। इनके पशुओं का दूध जब शहरों में पहुंचने लगता है तो बच्चे ज़िन्दगी की कड़वाहट पीना सीख जाते हैं। यह कौन है जो घर वालों को बेघर बना देता है ? अपने ही घर में लोग प्रवासी से बन जाते हैं !

नीरज बाबू 'पंत' जी का गीत सुनाया करते हैं। समझा था होगा यूं ही। अब समझ में आया है कि जिसे यूं ही समझा था, कितनी वेदना थी उसमें। 'वह अपने घर में प्रवासिनी—भारत माता ग्राम वासिनी !"

नीरज बाबू व्यर्थ ही मार्क्सवाद और सर्वोदयवाद के दर्शन छांटा करते हैं। मैं कहती हूं आदमी खुले मन से महीना बीस दिन इन धूल अटे गांवों में आकर रहे, यहां के जीवन को देखे परखे, मिट्टी की

उदासिनी प्रतिमा को देखे तो बग़ैर पढ़े सब फलसफे उसकी समझ में आ सकते हैं। जो कुछ नीरज बाबू के व्यंग्य बाण नहीं सिखा पाते, वही कुछ इन अनपढ़ और फूहड़ आदमियों का सरल सपाट जीवन सिखा देता है। नीरज बाबू विषैले व्यंग्य बाण छोड़ा करते हैं। मैंने एक दिन पूछा, "दो कमीज़ पाजामों से ही आपका गुज़ारा कैसे चल जाता है? देख रही हूं कि चप्पल भी मुद्दत से वही चली आ रही है। न जाने आप कब सलीके से रहना सीख सकेंगे?" हंसते हुए बोले, "इतना भी आप जैसों से मेल जोल बनाए रखने के लिए पहनना पड़ता है वर्ना इतने से ही शायद एक आध को दिगम्बर रहने की नौबत आ जाती हो। आप जो खूब बढ़िया बढ़िया साड़ियां पहना करती हैं न, उन्हीं का अक्स मैं गांव की औरतों के फटे और मैले आंचलों में देखा करता हूं। यही वजह है कि मुझे आपकी साड़ियों की तारीफ करने का मौका ही नहीं मिल पाता। सोचता हूं कि इतनी बढ़िया चीज़ का अक्स इतना घटिया कैसे हो सकता है? या फिर शीशे में ही कुछ नुक्स पैदा हो गया है? ग़रीब जो ठहरे अतः ऐनकें बदलवाने का सुअवसर ही हाथ नहीं लगता।"

न जाने किस मूर्खता के बहाव में वह कर नीरज बाबू को मिस्टर दिनेश की तरह पैरेलिसिस का मरीज़ समझ बैठी थी? ऐनकें तो मुझे लगवानी चाहियें। ध्रुव तारा अपने स्थान पर अटल, सुनिश्चित रहता है तो क्या इसी से बीमार कहा जा सकता है? कितनी महान तपस्या और साधना के बाद यह अटलता, सुस्थिरता प्राप्त हुई है ध्रुव को? यदि ध्रुव ही अपने स्थान से विचलित हो जाये तो मुसाफिर गांव के अन्धेरे में किसे देख कर राह खोजा करें? भटक भटक के न रह जायें? अपनी मूर्खता के कारण अटलता और सुस्थिरता की महानता को ही झूठलाने चली थी।

अपने स्वार्थ को नष्ट होते देख, विक्षिप्तता में अजीब अजीब बातें

सोच बैठती हूं। नीरज बाबू तो सचमुच गांव के बरगद देवता की तरह अपने स्थान पर अविचलित खड़े हैं। गांव के सामने से गुज़रती राह पर खड़ा बरगद का पेड़ मुझ से तो भुलाए नहीं भूलता। तपी दोपहर में लोग उसके नीचे बैठ दम भर को सुस्ता लेते हैं, सुस्ता कर अपनी राह पर चल निकलते हैं, इसी में उस वृक्ष की सार्थकता है। सामर्थ्यवान्—सामर्थ्यहीन, चोर—साधु, गृहस्थ—संन्यासी, त्यागी—लोभी, सभी के लिए बरगद अपनी घनी छांह का आसन बिछाए रहता है। सब के लिए सम भावना रखता है तभी तो महान है। तभी तो गांव की हर औरत उसकी महानता को पूजती है।

और एक मैं हूं स्वार्थिन! तपी दोपहरी की सुलगती राह पर चलते समय इस विशाल वृक्ष ने अपनी छांह तले बैठने का मूक निमन्त्रण दिया तो चलते समय सोचा कि इस छांह को ही समेट कर अपने साथ लेती चलूं। छांह समेटी न गई तो खीझलाहट के मारे, पथिकों के एक मात्र अवलम्ब, उस सघन छाया वाले विशाल तरु को ही काटने में जुट गई? सोचा था कि इसे काट छांट कर इसके तख्तों से घर में छाया करूंगी। इतने में बहती हवा का झोंका कान में कहता हुआ गुज़र गया, "इतनी स्वार्थिन मत बन! डायन बन कर इसे क्यों खाने चली है? इसे अपने स्थान पर अमर रहने दे ताकि यह युगों युगों तक पथिकों की थकन हरता रहे। उनमें लक्ष्यों तक पहुंचने की नवशक्ति संचरित करता रहे।" पवन झकोरे की ऐसी बात सुन गुस्से में आकर इस बरगद को गाली दे बैठी।

मरीज़ नीरज बाबू कहां हैं, मरीज़ तो मैं हूं तभी तो मिस्टर दिनेश की तरह चारपाई पर बेबस पड़ी हसरत भरी नज़रों से हर किसी को देखे जा रही हूं, मुंह से बोल तक नहीं सकती। कोई सहानुभूति प्रकट करने आता है तो अपनी बेबसी की बात सोच आंखों से आंसू बहने लगते हैं।

अभी पिछले सप्ताह की बात है, वन्दना इधर आ निकली। एकदम बदली हुई मानों ज़माने भर के फूल उसकी आंखों में मुस्करा उठे हों। साथ में एक खूबसूरत जवान लड़का भी था। मुझे देख कर बेचारा अपनेआप में सिमटा जा रहा था। वन्दना हंसती हुई बोली, "आपके सामने ही घबरा रहे हैं, मुझ से खूब झगड़ा किया करते हैं। आप से परिचय कराने ही इन्हें अपने साथ खींच लाई। आप हैं मिस्टर जसवन्त, मेरे पति।" लड़के ने झिझकते हुए मेरे सम्मुख दोनों हाथ जोड़ दिये। मैंने हंसते हुए कहा, "यह खूब रही वन्दना! शादी भी हो गई और मुझे खबर तक नहीं दी।" कहने लगी, "सब इन्हीं की शरारत है, इन्हीं से पूछिये।" मैंने कहा, "अच्छा भई! अब धूम धाम से एक पार्टी दे डालो।" कहने लगी, "एक नम्बर के कंजूस हैं। बग़ैर बाजे गाजों के घर में आ धमके। चार दोस्त, पांचवे इनके चचा और छठे आप। अब बताइये ये भी कोई ब्याह हुआ? पंडित मन्तर पढ़वा रहे हैं और आप दोस्तों की तरफ देख कर हंस रहे हैं।" बात करते करते वन्दना कनखियों से जसवन्त की ओर देख कर मुस्करा दी। इतने में जसवन्त की जुबान खुली। बोला, "देखिये, मुझे नाहक बदनाम कर रही हैं। पूछिये तो, इन्होंने ही तो ख़त लिखा था कि शादी के नाम पर व्यर्थ का दिखावा करने के ये सख्त खिलाफ हैं।" वन्दना बोली, "अच्छा, पार्टी के लिए मेरी तरफ से तुम्हें छुट्टी है।" फिर मेरी ओर देखती हुई बोली, "डॉक्टर साहिब, अपने छोटे से क्वार्टर में चार आदमी बखूबी आ सकते हैं। ये, मैं, आप और नीरज साहिब। बताइये पार्टी बढ़िया रहेगी या नहीं?" बोलते बोलते वन्दना अचानक सहम गई, मानों उसकी आंखों में महकते फूल पलक झपकते ही किसी ने नोच लिए हों। संभलती हुई बोली, "क्यों मज़ाक उड़ाती हैं डॉक्टर साहिब? हम लोगों के छोटे से क्वार्टर में

निहायत घटिया कपों में घटिया किस्म की चाय पीते आप अच्छी ही कहां लगेंगी ? इतना क़रीब आने की कोशिश न कीज़िए कि यही दूरी बन कर रह जाये ।" कुछ देर ठहर कर बोली, "झूठ नहीं कहूंगी । शादी पर आप बहुत याद आई थीं । बहुत जी चाहा कि आपको और नीरज साहिब को आने का निमन्त्रण दूं लेकिन फिर यही सोच कर रह गई कि उस बेरंग सी शादी में आप का दिल ही तो उकताएगा । फिर सोचा कि अपनी खुशी के लिए किसी दूसरे को परेशान करना कहां की अक्लमन्दी है ? इसलिए लिखा लिखाया ख़त लेटर बॉक्स तक पहुंचने से रह गया । नीरज साहिब बुलाने पर ज़रूर पहुंच जाते लेकिन उन्हें भी बुलाते बुलाते झिझक गई ।"

अजीब कड़वाहट से मेरा मन भर उठा । ख्याल आया कि मेरी सामर्थ्य में ही खोट है अथवा इन लोगों के अपने कॉम्प्लेक्स हैं जो इन्हें इस क़दर तंगदिल बना देते हैं ? मैंने बात का रुख बदलने का प्रयत्न करते हुए कहा, "आप क्या काम करते हैं ?" जसवन्त बोला, "लुधियाना में मैसर्ज़ अग्रवाल एण्ड संज़ आयरन फैक्टरी में लोहे को कूटता पीटता रहता हूं । इतने से सवा सौ रुपया महीना मिल जाता है ।" वन्दना की ओर देखते हुए बोला, "इनकी और मेरी आमदनी मिला कर गृहस्थी की गाड़ी मज़े में चल सकती है ।" वन्दना बोली, ये आयरन वर्कर्ज़ यूनियन के सेक्रेटरी हैं, यह बात आप से कभी नहीं कहेंगे ।" जसवन्त बोला, "अभी तो पैसों का हिसाब किताब हो रहा है, उसमें भला इस सैक्रेटरीशिप का क्या काम ?" मुझसे रहा नहीं गया । मैं अपनी झुंझलाहट को दबाती हुई बोली, "इस सैक्रेटरीशिप का ज़िक्र न करना ही अच्छा है । जानती हूं लोगों के दिलों में दीवार खड़ी करने के सिवाय यह और किसी काम नहीं आएगी ।" जसवन्त की सारी झिझक अचानक ही किसी अनजान कोने में जा छिपी । विश्वास

भरे स्वर में बोला, "दीवारें खड़ी करना इस सैक्रेटरीशिप की पहुंच में कहां है ? अलबत्ता झूठी दीवारें गिरा कर बंटे लोगों को एक करना इसका काम है। हां ! अक्सर न्यूट्रल रहने पर लोग आप जैसी ग़लत-फहमी का शिकार ज़रूर होते रहते हैं।" मैंने कहा, "वन्दना बेचारी को दीवारें गिराने की तालीम ही तो दी जा रही है शायद ?" जसवन्त बोला, "इन्सान को हकीकत पसन्द बनाने की कोशिश को आप क्या कहेंगी ? जो इन्सान आंखें बन्द करके दीवार से टकराना चाहे, उसकी आंखों से पट्टी खोलना और फिर उसे दीवार की ठोस हकीकत बताना आखिर इसीलिए तो है कि वह झूठी दीवार को मिटाने की कोशिश करे।" मेरी आवाज़ में कड़वाहट भर उठी। मैंने कहा, "तभी वन्दना बेचारी समझदार बनती जा रही है ?" जसवन्त उसी संयत स्वर में बोला, "मैं यही समझता हूं।" मैंने तुनक कर कहा, "वन्दना, इन्हें किस नरक में खेंच कर ले आईं ? अपने क्वार्टर में ही इन्हें आज़ाद रहने दिया करो। हम लोगों के पास मैले दिलों के सिवाय रखा ही क्या है ? हम तो दूसरों से नफरत करना भर जानते हैं।" वन्दना की आंखें छलछला आईं। बोली, "कैसी बात कहती हैं आप डॉक्टर साहिब ?" फिर जसवन्त की ओर देखती हुई बोली, 'आपने भी क्या खुश्क सी बहस शुरु कर दी ? जाने दीजिए न ?" जसवन्त बोला, "तुमने ही सैक्रेटरीशिप का बारूद फेंका था सो अंजाम देख रही हो।"

फिर मेरी ओर देखता हुआ बोला, "माफ कीजियेगा। दिल दुखाने का या बात के सिलसिले में बदमज़गी पैदा करने का इरादा मेरा कतई नहीं था। बात चल निकली तो झूठ कहते मुझसे नहीं बना। यह भी इस भरोसे कह गया क्योंकि वन्दना आपकी हकीकत पसन्दी की अक्सर तारीफ़ किया करती है।" कुछ देर ठहर कर बोला, "मेरे कहने का मकसद सिर्फ यही था कि इन्सान बुरा नहीं होता लेकिन जब क्लासिस में बंट कर उसके मफाद टकराने लगते हैं तो अनजाने

ही उसके हित दूसरों के लिए तकलीफें पैदा कर देते हैं। इन्सान की आदात भी वैसी ही बनती रहती हैं, जिस क्लास को वह बिलांग करता है। सवाल इन्सान के अच्छे बुरे होने का नहीं है, सवाल क्लास कन्फ्लिक्ट का है। हम लोग यही चाहते हैं कि क्लासलैस सोसाइटी कायम हो सके ताकि इन्सानी दिलों के बीच बेवजह उठने वाली दीवारें हमेशा के लिए खत्म हो जाएं!" वन्दना बोली, "अपनी लैक्चरबाज़ी बन्द कीजिये। किसी दूसरे के घर आकर ज़रा मुख्तलिफ ढंग से बर्ताव करना चाहिये।" वन्दना की बात मुझे भीतर तक छू गई। मैं अपनी बातों पर स्वयं ही लज्जित सी हो गई। वन्दना अकेले में ऐसी बात कहती तो उसे यही जवाब देती, "वन्दना, तुम घर वाली हुई, तुम्हें घर के कायदे कानूनों की जांच है। मैं आज तक कभी घर बना कर रह ही नहीं पाई इसलिए मुझे इन कायदे कानूनों को समझ पाने की अक्ल ही नहीं आई। नासमझी में कहीं कुछ कह बैठती हूं तो क्या उसकी इतनी बड़ी सज़ा मिलनी चाहिये? तुम तो सहनशीलता की देवी हो, तुम्हें यह सब शोभा नहीं देता।" चुप हो कर रह गई। जसवन्त उठते हुए बोला, "सख्तकलामी के लिए मुआफ़ कीजियेगा। जानता हूं, वन्दना को माफ कर सकती हैं तो मुझे भी कर सकेंगी।"

दोनों चले गए तो ख्याल आया कि चाय तक भी तो नहीं पूछी। क्या सोचती होगी वन्दना? यही न, कि घर आए लोगों का सत्कार करना तक मुझे नहीं आता? नीरज बाबू से कहेगी तो हंसते हुए कहेंगे, "अपने घर के पर्दे देख देख कर डॉक्टर साहिब को भूख का अहसास ही नहीं होता। उन्होंने सोचा होगा कि तुम लोगों ने भी ड्राइंग रूम के पर्दे देख तो लिए ही हैं इसलिए तुम्हारी भूख भी मर गई होगी।" फिर कहेंगे, "जसवन्त साहिब, वन्दना इस डेरे के सब कायदे कानून जानती है। आप निश्चिन्त बैठिये, आपको कामरेड छाप चाय बस दस मिनट में मिली समझिये।" वन्दना से कहेंगे, "शादी मुबारिक। तुम्हें

जसवन्त जैसे साथी की ही ज़रूरत थी। देख लेना अब मंज़िलें खुद ब खुद तुम्हारी ओर लपकेंगी।"

मंज़िलें होती हैं उनकी जो राह चलते हैं। जो बवण्डरों में तिनकों की तरह उड़ते हैं उनकी भी कहीं मंज़िलें होती हैं ? अपनी मंज़िल तो तिनकों की तरह उड़ना है सो उड़े जा रहे हैं। हम कौन से पीपल के पत्ते हैं जो सलीके से ज़िन्दगी जीकर सलीके से आराम की नींद सोएं ? बेवकूफ है वन्दना जो इस बवण्डर में उड़ते तिनके को हद से ज़्यादा अहमीयत दे रही है।

अगले दिन नीरज बाबू घूमते घामते इधर आ पहुंचे। बैठते ही बोले, "भई ! वन्दना और जसवन्त की जोड़ी देख कर दिल खुशी से झूम उठा। बड़ा होनहार लड़का है। ज़ेहनी पुख़्तगी भी आहिस्ता आहिस्ता आ ही जाएगी लेकिन जोश और हिम्मत गज़ब की है। ये लोहा पीटने वाले हाथ देख लेना ठोक बजा के एक दिन सारी सोसाइटी को बेहतरीन सांचे में ढाल कर रख देंगे। हम तो निरे गप्पबाज़ हैं, असली लोग यही हैं जिनके बारे में कहा जाता है कि चाहें तो जहन्नुम को भी जन्नत की सी शक्ल में ढाल दें।"

फिर बोले, "वन्दना भी अब तो खूब समझदार हो गई है। देखिये, पहले आपके पास ही पहुंची। जानती थी कि भुखमरों के डेरे में भूख के सिवाय खाने को और क्या मिलेगा ? कम से कम एक एक कप चाय की गुञ्जाइश तो छोड़ी होती। यह भी क्या कि गले तक आपने यहीं से भर दिया।"

मैं विस्मय भरे नेत्रों से उनकी ओर देखती रही। सोचती रही, अपनी आदत के मुताबिक कहीं व्यंग बाणों की वर्षा तो नहीं कर रहे हैं ? उसी सहज स्वर में बोले, "सचमुच आप तो जादू जानती हैं। न जाने क्या कुछ खिला दिया कि वन्दना आपकी तारीफ के पुल बांधे

जा रही थी। मैंने कहा—एक कप चाय भई हम ग़रीबों के डेरे पर भी हो जाय ? —बोली—अगली बार आपके पास पक्की दावत रही। सचमुच नीरज साहिब, आज डॉक्टर साहिब ने बहुत अधिक खिला पिला दिया है। —क्या क्या नाम गिना रही थी ? हम तो सुनते सुनते ही हैरान हो रहे थे।"

मन में सोचा मैं सामर्थ्यवान बन कर भी कितनी ओछी हूं और वन्दना सामर्थ्यहीन होकर भी कितनी बड़ी है। सोचती थी कि नीरज बाबू से जा कर न जाने क्या क्या कहेगी, कितनी निन्दा करेगी ? व्यक्ति जैसा हो वैसे ही तो उसे दूसरे दिखाई देते हैं। अपने मानदण्डों से वन्दना की महानता नापने चली थी !

कह रही थी, "डॉक्टर साहिब अपने क्वार्टर में चार आदमी तो बैठ ही सकते हैं।" कैसा मज़ाक कर रही थी ? मैं तो कहती हूं कि वह क्वार्टर इतना विशाल है कि उसमें शहर समा सकता है। और एक अपना बंगला है ! सामान से ठसाठस अटा है। अपने बैठने तक की जगह नहीं है !

मैंने कहा, "उस दावत में मुझे भी निमन्त्रण दीजिएगा न ?" वही वन्दना से मिलता जुलता उत्तर मिला। कहने लगे, "अपने डेरे में इतनी जगह ही कहां कि आप जैसे महान अतिथि को बैठाया जा सके ?" मैंने कहा, "जहां इतने अतिथि बैठेंगे वहां एक और की गुञ्जाइश नहीं निकल सकेगी क्या ?" बोले, "खुदा गवाह है डॉक्टर साहिब, मैंने आज तक अपने डेरे पर अतिथियों को कभी निमन्त्रित नहीं किया। ऐसा, उस भुखमरों के डेरे में है ही क्या कि किसी को निमन्त्रित किया जा सके। कुछ लोग हैं जो उस डेरे में अपने-आप को बराबर के हिस्सेदार समझते हैं। ऐसे में हम लोग भूख में से ही आपस में बांट लिया करते हैं। अब देखिये न, नरेन है, तो क्या वह मेरे इनवीटेशन कार्ड का इन्तज़ार किया करता है ?

चार रोटियां थाली में हों तो दो लेकर बराबर का हिस्सा बंटा लिया करता है। और भी जितने लोग हैं सभी अपनी अहमीयत जानते हैं।" कुछ देर रुकने के बाद कहने लगे, "अपने एक शायर दोस्त हैं। दुनिया उन्हें निहायत फालतू किस्म का इन्सान समझती है इसी लिए हमारे डेरे में उनके रहने की गुञ्जाइश निकल आई है। दुनिया मसरूफ है अपने रुपये के चक्कर में इसलिए जल्दी में कई बार निहायत काम की चीजों को उठा कर फेंक देती है। एक दिन चार पैसे जेब में थे तो उन्हें क्या सूझी कि मूंगफली खरीद बैठे। जालन्धर से यहां तक पहुंचते, बस में एक भी दाना उनके हलक से नीचे नहीं उतरा! डेरे पर पहुंचते ही बोले—यार तुम्हारे बग़ैर खाने में क्या खाक लुत्फ आता? देखिये कितनी दूर से यह विलायती मेवा सहेज कर ला रहा हूं। संभालिए, और हां! मेरा हिस्सा ईमानदारी से रहने दीजिएगा, गज़ल सुनाने के बाद ऐश फरमाऊंगा। आज जसवन्त को देख कर भी यूं लगा मानो मुद्दतों से इसी डेरे का वासी है। अब बताइये कोई अतिथि कहीं दिखाई देता है? आप जानिये घर के लोगों को तो घर से निकाला नहीं जा सकता वर्ना मेरे खिलाफ ही पंचायत आ जुड़ेगी।" मैंने कहा, "तो गोया, मेहमान बन कर सिर्फ मुझे ही आना पड़ेगा?" हाथ जोड़ कर बोले, "खुदा के वास्ते हमें उलझन में मत डालिएगा वर्ना कहां से कुर्सी मेज़ ढूंढते फिरेंगे?" मेरी आवाज़ भर आई। मैंने कहा, "इसका मतलब है कि सिर्फ मैं ही एक ऐसी हूं जिसके लिए उस घर में जगह नहीं है।" उनकी हंसी अकस्मात् गम्भीरता में बदल गई। बोले, "डॉक्टर साहिब! घर के लोग भी क्या कभी घर में आने के निमन्त्रण की प्रतीक्षा किया करते हैं? वन्दना ने क्या मुझ से पूछ कर दावत की बात तय की थी? फिर आपका भी इसमें क्या कसूर है? आप पली ही ऐसे वातावरण में है जहां ऐटीकेट्स और मैनर्ज़ के चक्कर में इंसान बुरी तरह पिसता रहता है।"

सचमुच इस एटीकेट्स और मैनर्ज़ के चक्कर ने मुझे बुरी तरह पीस डाला। इस झूठे दिखावे और झूठी शान ने मुझे कहीं का भी नहीं छोड़ा। इन एटीकेट्स और मैनर्ज़ ने तो मेरा विश्वास तक मुझ से ठग लिया। एक दिन भी तो वन्दना जैसा विश्वास लेकर उस घर तक नहीं जा सकी। वन्दना जैसा विश्वास होता मेरे पास, फिर देखती कौन निकाल पाता मुझे मेरे अपने घर से ? मैं तो अविश्वास से कांपते हाथों से ही उस विचित्र द्वार की सांकल खड़-खड़ाती रही। उस खड़खड़ाहट में इतनी शक्ति ही कहां थी कि बन्द कपाट खुल पाते ? मुझ से तो इन पीपल के सूखे पत्तों की खड़खड़ाहट ही भली जिसे सुन कर सुखिया के नीरस गले से भी गीत की पंक्ति फूट पड़ती है।

सुनयना के पत्रों की कितनी ही पंक्तियां अक्सर मन में मंडराती रहती हैं। सुनयना ने लिखा था, "स्नेह ! विश्वास क्या कहीं बाहर से ढूंढने की वस्तु है जो हम लालटेन हाथ में लिए उसे बाहर के अन्धेरे में खोजते फिरें ? विश्वास तो अपने भीतर ही होता है। सोने की तरह भीतर ही भीतर उसे जला तपा कर कुन्दन बनाना पड़ता है। जो लोग हृदय में सुरक्षित विश्वास को चौक बाज़ारों की भीड़ में ढूंढने निकलते हैं मुझे उनकी बुद्धि पर सन्देह होता है। तुमने मुझे विश्वास संजोने की बात लिखी है, वह तो मैंने यथाशक्ति संजोया है। भीतर की चीज़ तो मेरी अपनी है, तुम उसे क्या दोगी ? लेकिन दुःख तो यह है स्नेह ! कि लोग ऐसे हो गए हैं कि बिना मोल दिए ही इस विश्वास को लूटे जा रहे हैं। जो कुछ उनका अपना नहीं है उस पर भी स्वार्थवश अपनी मुहर लगाते जा रहे हैं। फिर सोचती हूं, गरीब हैं तभी तो लूटते हैं। अगर इनके अपने घर में होता तो दूसरों से क्यों छीनते झपटते ? चलो अच्छा है, हमें लूट कर कोई अपनी दरिद्रता भर पाए तो अहोभाग्य !"

नीरज बाबू से यही बात कह बैठी तो बोले, "विश्वास क्या इस सुगमता से लूटा जा सकता है ? द्रौपदी चीरहरण की कथा आप जानती हैं न ? आस्था की लाज तो भगवान के हाथ होती है । दुःशासन की, चीर उतारते उतारते भुजाएं थक जाती हैं तब भी कहीं चीर उतर पाता है क्या ? यह तो और बढ़ता जाता है, निरन्तर बढ़ता जाता है और फिर लूटने वाला लूट लूट कर, थक हार कर, बैठ जाता है । जो लुट कर निश्शेष हो जाए, वह विश्वास कहां होता है ? वह तो विश्वास का भ्रम मात्र होता है । डॉक्टर साहिब ! मन की जो राह मन के बहुत भीतर तक चली जाती है न, वही फैलती हुई विश्व के असीम छोर तक निकल गई है । जब इस राह पर चल कर एक मन दूसरे मन तक पहुंचता है फिर लूटने वाला, लूटकर आपको ही लौटाता रहता है ।"

ऐसी असीम आस्था, ऐसा अपरिसीम विश्वास कहां जुटा पाई मैं ? नीरज बाबू जिन पड़ावों की बात कहते हैं वे तो एक ओर, मैं तो सुनयना के विश्वास तक भी नहीं पहुंच सकी । वहां तक ही पहुंचती तब भी कोई दरिद्र अपनी दरिद्रता तो हर पाता ! मैं तो बस विश्वास के भ्रम में ही उलझ कर रह गई । दूसरा कोई मुझे क्या लूटता मैं तो अपने ही भ्रम के हाथों लूटी गई ! मैं तो लालटेन लेकर बाहर के अन्धेरे में ही विश्वास खोजती रही ! जो भीतर था, वह बाहर कैसे मिल पाता ? समझी थी नीरज बाबू ने मेरे विश्वास की कीमत नहीं आंकी । कुछ होता पास तभी तो कोई कीमत आंकता ? जो भी आया मुझ, अपने ही हाथों लुटी पिटी, को देख करुणा के दो आंसू ढुलका कर चला गया ।

कभी कभी मन में आता है कि इतनी दूर चली जाऊं जहां मेरी दयनीय दशा पर आंसू बहाने वाला भी कोई न हो । ये आंसू शान्ति कहां देते हैं ? मेरी दयनीयता का मज़ाक उड़ाना ही इन्हें आता है ।

यदि व्यक्ति को बीता जीवन पुनः मिल सके तो भी क्या वह उसे यूं ही व्यतीत कर दे ? एक एक क्षण में अपने विश्वास के, अपनी निष्ठा के मोती टांक दे, एक एक पल को प्रेम से सजा संवार दे, एक एक घड़ी को खूबसूरती के रंगों से रंग दे, सचाई से चमका दे। लेकिन विधाता इतना अपव्ययी कहां है कि जिन पलों और क्षणों का हम सौदा कर चुके हैं वही हमें लौटा दे ? ऐसा अपव्ययी बन जाय तो विधाता को विधाता ही कौन माने ?

नीरज बाबू कहा करते हैं, "डॉक्टर साहिब ! कुछ पल ऐसे होते हैं जिनके सामने वर्षों की लम्बाई भी छोटी पड़ जाती है, जो फैल कर वर्षों को अपने में समेट लेते हैं।" अब तो कहीं से ऐसे पल मिल जाएं तभी जीवन में कुछ ऐसा हो जिसे खड़खड़ करके कहा जा सके। कहानी का सैन्ट्रल आइडिया पकड़ में आए, क्लाइमैक्स बन सके !

ऐसे पल क्या बैठे बिठाए मिलते हैं ? बैठे बिठाए मिलने लगें तो हर कोई न उन्हें बखेरता फिरे ? ऐसे पल तो अनन्त साधना द्वारा, अथक परिश्रम द्वारा, कठोर तपस्या द्वारा जुटाए जाते होंगे तभी तो ऐसे पल जीने का सौभाग्य विरलों को ही प्राप्त होता है। मैं कहां कर पाऊंगी ऐसी साधना और तपस्या ?

भीतर बैठा कोई कहने लगा ऐसे पल भले ही प्राप्त न हों, उन्हें प्राप्त करने में भी असीम आनन्द भरा पड़ा है। एक बार प्रयत्न कर के देख तो सही सन्ध्या ! घाटे में नहीं रहेगी। कम से कम ज़मीन पर गिरते समय यह सन्तोष तो होगा कि पुरुषार्थ करने में त्रुटि नहीं रही। तू क्या सुनयना से भी गई बीती है ? जीवन के वर्ष तो मरीचिका के पीछे भटक भटक कर खो दिये अब इन रहे सहे पलों को तो सहेज ले। जो कुछ पिछले तीन चार दिनों में किया है आखिर इन्हीं पलों को सहेजने के लिए ही तो किया है।

सिविल सर्जन से मन की बात कही तो विस्फारित नेत्रों से मेरी ओर देखते हुए बोले, 'डॉक्टर, तुम्हें क्या हो गया है? होश में तो हो? मैंने ये बाल यूं ही सफेद नहीं किये हैं, ज़िन्दगी के तलख़ तजुर्बों में पक कर ही ये ऐसे हुए हैं। जज़बात की, सैन्टीमैन्ट्स की एक उम्र होती है, तुम्हारी तो वह उम्र भी नहीं है। इस उम्र में जज़बात की रौ में बह कर बचकानी हरकतें करना ठीक नहीं है। डोन्ट बी सैन्टीमैन्टल। आई से देअर इज़ नो स्कोप फार प्राइवेट प्रेक्टिस ऐट प्रेज़ेन्ट। वाई अननेसेसिरिली यू आर थिंकिंग टु स्पॉयल युअर लाइफ कैरिअर?"

मैंने कहा, "सर मैं प्राइवेट प्रेक्टिस की बात मॉनिटरी टर्म्ज़ में नहीं सोच रही हूं। आइ हैव डिसाइडिड टु लीड ए पीसफुल लाइफ। आइ वान्ट काम एण्ड क्वायट एटमॉस्फियर। दिस प्रोफैशन इज़ टैकिंग माई ब्रेन अप टु अनइमेजिनेबल ऐक्सटैंट्स।"

हंसते हुए बोले, "नो मनी नो पीस, दैट इज वट आइ हैव ऐक्सपीरिएन्स्ड इन लाइफ। ऐव्री बॉडी रिस्पैक्ट्स द चेयर। जिस अमन चैन की बात तुम सोच रही हो वो किताबों के सिवाय कहीं नहीं है। ठण्डे दिल से एक बार फिर सोचो। एप्लाइ युअर माइन्ड वंस मोर यू विल एराइव एट डिफ्रेंट कॉनक्लूयन्स।"

कुछ भी कहे बग़ैर चली आई। सिविल सर्जन अपने ख्यालात में खोए रहे। व्यक्ति जीवन की दौड़ में जो अनुभव संजो पाता है, उन्हीं की सहायता से सत्य को जांचता परखता है। अन्य व्यक्ति के अनुभूत सत्य से जब हमारे सत्य का मेल नहीं बैठ पाता तो हम उसे सेन्टीमैन्टल, अस्थिर मति, अनबैलेन्स्ड माइंड, न जाने क्या क्या समझ बैठते हैं? सूरजमुखी के फूल सुन्दर हैं तो क्या इसी कारण चम्पा और गुलाब बुरे हैं? गुलाब की टहनी में कांटे हैं क्या इसी से उसकी सुन्दरता अप्रिय हो जाती है?

कुछ लोग जीवन में एक विशेष स्थान पर पहुंच कर नवीन अनुभव संचित करना बन्द कर देते हैं। शेष दिनों में संचित अनुभवों को ही खर्च किए चले जाते हैं। यही कारण है कि उनके अनुभूत सत्य में भी ठहराव आ जाता है। निरन्तर विकसित होने की गुन्जाइश जब नहीं रहती तो सत्य के ऊपर काई सी छाने लगती है। सिविल सर्जन भी शायद संचित अनुभवों के सहारे ही शेष दिन काटने के अभ्यस्त से हो गए हैं।

उस दिन नीरज बाबू कह रहे थे, "डॉक्टर साहिब, मंत्र है न ? 'हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितम् मुखम्'—बस समझ लीजिए ऋषिगण गागर में सागर बन्द कर गए हैं। यदि सत्य के दर्शन करने हैं तो सोने का ढक्कन रहते ऐसा हो पाना असम्भव है। और यदि सत्य के दर्शन नहीं हुए तो शान्ति की इच्छा करना रेत में से पानी निकालने जैसा ही समझ लीजिये।" मैंने कहा, "अपनी शान्ति रखिये अपने पास, हम लोग अशान्त ही भले हैं। शान्ति की खोज में पागल लोगों को, पैसे के अभाव में हॉस्पीटल के सामने दम तोड़ते मैं हर रोज़ ही तो देखा करती हूं। कैमिस्ट लोग इंजैक्शन्ज़ का रुपया मांगते हैं अतः आप लोगों के उपदेश सुनने वाले लोगों को उधर से खाली हाथ ही लौटना पड़ता है।" हंसते हुए कहने लगे, "यक्ष ने प्रश्न पूछा—संसार में सबसे बड़े आश्चर्य की बात क्या है ?—युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—मनुष्य प्रतिदिन अपने सामने सैंकड़ों प्राणियों को मृत्यु के मुंह में प्रवेश करते देखता है परन्तु फिर भी सोचता है कि वह अमर है, मृत्यु उसे कभी नहीं मार सकेगी ?—अच्छा यह बताइये कि जो लोग खूब इन्जैक्शन्ज़ मैडीसंस खरीदने की सामर्थ्य रखते हैं वे क्या सब के सब ही बच जाया करते हैं ?" मुझे सोच में डूबा देख कर बोले, "एक उदाहरण तो आपने दे ही दिया है अतः दूसरे उदाहरणों की बात जाने दीजिये। आप कहेंगी दवाई खरीदने की हिम्मत जिसके पास है

उसे सन्तोष तो रहता है ।—मैं कहता हूं कि दवाई के अभाव में दम तोड़ने वालों को अधिक सन्तोष रहता है । उनका अज्ञान ही उनके लिए गुणकारी सिद्ध होता है । धनी सोचता है, काश ! इंग्लैण्ड अमेरिका से दवाई मंगाई जा सकती, निर्धन सोचता है—भगवान चाहते तो क्या यूं भी न बचा लेते ? अगर आयु बढ़ी हो तो कौन मार सकता है ? आ लगी थी अतः जाना ही था । बताइये संतोष किसे मिला ? उन्हें भी आपकी तरह ज्ञान होता तो कहते—ईश्वर है ढकोसला, अगर कैमिस्ट दवाई नहीं देगा तो हम चुराएंगे या फिर छीना झपटी करेंगे ।"

दो चार मिनट अपने ही विचारों में डूबे रहे । पुनः बोले,"युधिष्ठिर की तरह एक मेरा आश्चर्य भी है । सोचता हूं कि इतनी मौतें प्रति दिन होती हैं, उनमें से अधिक संख्या इन्हीं निराश्रितों, निर्धनों की ही होती है । फिर भी यही मरने वाले लोग हर रोज़ बढ़ते जाते हैं और जिन्हें आप धन के प्रताप से मृत्यु के मुख से बचाया करती हैं उनकी संख्या प्रतिदिन घटती जाती है । फिर यही निराश्रित, निर्धन एक दिन अपनी असामर्थ्य को संजो कर ऐसे शक्तिशाली बनते हैं कि सुवर्ण के ढक्कन को हटा कर सत्य का असली रूप पहचान लेते हैं और फिर सब विधि विधान पलक झपकते ही बदल जाते हैं । आपका ज्ञान, आपके अनुभव कहते हैं—रुपया मनुष्य को हांका करता है, यही सत्य है ।—ये सामर्थ्यहीन और अज्ञानी कहते हैं—अपनी असामर्थ्य की शक्ति से प्राप्त राज्य में हम अज्ञानी ही भले ! आज से मनुष्य रुपये को हांका करेगा । निष्प्राण वस्तु प्राणवान को हांकती फिरे हमें यह अच्छा नहीं लगता । —ज्ञानियों के कानून कहते हैं—रुपया नहीं है तो हम अपना गेहूं नहीं देंगे । हमारी वस्तु है, तुम्हें इससे क्या ? हम इसका सदुपयोग जला कर, समुद्र में डुबा कर करेंगे । रुपया नहीं है तो मरो । अगर तुम मुफ्त का अनाज खा कर जी गए फिर रुपया मनुष्य को कैसे हांकेगा ?

—अज्ञानी कहते हैं—जलाने डुबाने से फायदा ? बेकार की चीज़ किसी के काम आ जाए तो इसमें बुरा क्या है ? रुपये नहीं हैं तो कोई दे कहां से ? होंगे, तो क्या देंगे नहीं ? जैसे हम फालतू चीज़ दे रहे हैं, वैसे ही वे भी फालतू चीज़ दे देंगे।"

कहने लगे, "यक्ष ने पूछा—किस को खोकर मनुष्य धनी बनता है ?—युधिष्ठिर बेचारा ज्ञानी होता तो कहता—दरिद्रता को खो कर व्यक्ति धनी बनता है। परन्तु बेचारा परले सिरे का महामूर्ख था अतः बोला—मनुष्य लोभ को गंवा कर अमीर बनता है।—देखिये, है न कैसी बेतुकी बात ?" मुझे चुप देख कर खिलखिला कर हंस पड़े। पुनः गम्भीर होते हुए बोले, "डॉक्टर साहिब ! अपने देश को इन अज्ञानियों की परम्परा ही रास आती है। अपने ज्ञान से हमारे मस्तिष्कों को प्रकाशवान न कीजिए। सुना है यही अज्ञानी लोग परोपकारार्थ अपनी हड्डियां तक दे दिया करते थे। खुद भूखे रह कर अपने सम्मुख पड़े पात्र का भोजन अतिथि को खिला दिया करते थे। इतना ज्ञान न फैलाइये कि फीस न मिलने पर, सामने मछली की तरह तड़पते मरीज़ को देख कर भी डॉक्टर पत्थर के बुत की तरह खड़ा रहे। डॉक्टर को डॉक्टर ही रहने दीजिये उसे ज्ञान के चमत्कार से शेक्सपीयर का शाइलॉक न बनाइये। इंसान को इंसान रहने दीजिए, उसे बेजान मशीनरी का पुर्ज़ा न बनाइये इसी में कल्याण है।"

मैं नीरज बाबू की बात सुन कर शर्म से पानी पानी हो गई। जी चाहा कि ज़मीन फट जाए तो उसी में समा जाऊं। लेकिन मैं कौन सी सीता थी कि धरती मां मुझ पर तरस खा कर मुझे अपनी गोद में समेट लेती ? मैं जानती थी कि फीस की बात कहते कहते नीरज बाबू के मस्तिष्क में कौन सा चित्र घूम गया था।

रेणुका मछली की तरह मेरे सामने तड़प रही थी। नीरज बाबू परेशान से कमरे में इधर उधर घूम रहे थे। मैंने कहा, "इस लड़की

के अनुचित सम्बन्ध किस से रहे हैं?" बोले, "अगर आपकी रिपोर्ट इसके बग़ैर पूरी नहीं होती तो यही लिख लीजिये कि इस गुनाह का ज़िम्मेदार मैं हूं। रिपोर्ट बाद में भी लिखी जा सकती है, मैं यकीन दिलाता हूं कि भाग कर जाने की मेरी कतई ख्वाहिश नहीं है। आप पहले इस लड़की की जान बचाइये।" मैंने नर्स की ओर देखा, नर्स ने कहा, "फीस?" बोले, "कितनी?" नर्स ने फिर मेरी ओर देखा, बोली, "सौ रुपया।" इनकी आंखों में अंगारे से दहक उठे।" बोले, "आप इस लड़की का इलाज कीजिये, मैं अभी घण्टे भर में आपकी फीस का प्रबन्ध करता हूं।" सौ रुपये नर्स को पकड़ाते हुए बोले, "डॉक्टर साहिब को उनकी फीस दे दीजिएगा।" फिर बोले, "और हां! डॉक्टर साहिब से कहियेगा कि मेरी खातिर मुसीबत मोल न लें। रिपोर्ट करके कानूनी कार्यावाही मुकम्मिल कर लें।" नर्स को दस रुपये देते हुए बोले, "आपकी फीस। ग़रीब आदमी हूं, माफ कीजिएगा।"

परिचय बढ़ा तो मैंने पूछा, "फीस कहां से जुटाई थी?" बोले, "हम कौन से किसी कुबेर से कम हैं?" मैंने कहा, "सच सच बताइये टालिये नहीं?" मन की पीड़ा पर हंसी का पर्दा डालते हुए बोले, "आप भी हर बात की मीन मेख निकाला करती हैं। कुछ किताबें फालतू पड़ी थीं उनका सदुपयोग कर दिया। अपने एक मित्र जोश में आकर एक बढ़िया सा पैन दे गए थे। सोचा मुझ जैसे घटिया आदमी के हाथ में बढ़िया सा पैन कहां शोभा देगा, सो उसे बेच दिया। बस इसी तरह से गुज़ारा चल गया। कहते नहीं हैं कि भगवान जब देता है तो छप्पर फाड़ कर देता है।" कहते कहते अपनी मानसिक यन्त्रणा को छिपाने के लिए हंस पड़े।

मेरा मन भर आया। रुपये मैंने अपनी जेब से निकालते हुए

कहा, "लीजिये और मेहरबानी करके अपनी फिज़ूल की किताबें और घटिया सा पैन वापिस ले आइये।"

अजीब नज़रों से मेरी ओर देखते हुए बोले, "मुझ ग़रीब पर शायद दया कर रही हैं?" मुझे चुप देख कर बोले, "दया की भीख तो व्यक्ति को और अधिक निर्धन बनाती है। मैं इतना दरिद्र बनने का इच्छुक नहीं हूं। अपनी दया को अपने पास ही संभाल कर रखिये शायद किसी और के काम आ सके।" मैंने संभलते हुए कहा, "दया कहां कर रही हूं? आपकी चीज़ आप को लौटा रही हूं।" कहने लगे, "बात वही ठीक थी जो नर्स ने कही थी। आपकी फीस भला मैं अपने पास कैसे रख सकता हूं? और फिर इसमें कुछ भी तो ग़लत नहीं है, फीस लेना तो आपका क़ानूनी अधिकार है न?" ज़रा सी देर रुक कर बोले, 'ऐसी दरियादिली मत दिखाइये कि बहुत ठोक बजा कर बनाए आपके क़ायदे कानून उसी बहाव में बह जाएं?" मैं कुछ भी न बोल सकी, रुपये मैंने वापिस अपनी जेब में रख लिये। मन में बैठा कोई बोल उठा, "संध्या, समय तो पंख लगा कर उड़ता है। जो समय अपने साथ अपनी महत्ता लेकर उड़ गया है वह लौट कर कहां आएगा?"

व्यतीत को लौटा लाने की ही तो सोच रही हूं? पल संजोने चली थी! मैं तो जिस पल को पकड़ना चाहती हूं, वही उड़ कर अतीत की खाई में जा गिरता है। समझी थी कि किताबों के बेचने से क्या अन्तर पड़ता है, फिर नहीं खरीदी जा सकतीं क्या? तब कहां जानती थी कि लेखक के जीवन में पुस्तकों का क्या महत्त्व होता है? नीरज बाबू ने पुस्तकें कहां बेची थीं? अपने दिल की अनमोल पूंजी को नीलाम चढ़ा आए थे! और मैं थी कि सौ रुपये में उस बेबहा खज़ाने को खरीदने चली थी। कहां जानती थी कि कुछ ऐसा भी है जो रुपयों से नहीं खरीदा जा सकता, जिसे ख़रीदने के लिए उतनी

ही बड़ी क़ीमत चुकानी होती है। ठीक है, अक्लमन्द जो ठहरी! तभी तो सोचती हूं कि रुपये द्वारा व्यक्ति का हांका जाना, यही सत्य है। कितनी फीस बटोरी है आज तक? कितने लोगों को फीस न मिलने पर तड़पते छोड़ा है? इसी दौलत के सहारे तो मन की शान्ति मिलेगी! इसी पूंजी की झाड़ू से तो वे पल बटोरे जाएंगे जो अपनी लम्बाई से वर्षों की लम्बाई को भी मात कर देते हैं!

सिवल सर्जन कहते हैं, "नो मनी, नो पीस।" धन के बग़ैर शान्ति असम्भव है। ये रुपया जुटा जुटा कर मैंने शान्ति ही तो संजोई है। कहने लगे, "युधिष्ठर आपकी तरह ज्ञानी होता तो कहता—ग़रीबी को गंवा कर व्यक्ति धनी बनता है।" जी चाहता है सिवल सर्जन से कहूं, "श्रीमान जी, आप जानते भी हैं कि शान्ति किस चिड़िया का नाम है? आपने रुपये के ज़ोर से शान्ति जुटाने का प्रयत्न किया है तभी शायद हर नाजायज़ फीस लेने पर आपकी आंखों में शान्ति नाच उठती है? झूठे सर्टिफिकेट्स, रुपये लेने के बाद जब सच्चे सर्टिफिकेट्स, बन कर निकलते हैं तभी शायद आपका मन खुशी से झूम उठता है? क्या जिन लोगों ने शान्ति को पा लिया है उनकी आंखों में वैसा ही भय झांका करता है जैसा आपकी आंखों में दिखाई देता है? क्या आनन्द से झूमने वाले आदमियों की ज़ुबान आपकी तरह ही लड़खड़ाया करती है? उनके दिल आपकी तरह ही शराब के नशे में डूब कर झूमा करते हैं? क्या शान्ति और आनन्द का नशा आपके शराब के नशे की तरह ही क्षण भंगुर होता है? ऊंह! नो मनी, नो पीस! ह्यूज मनी एटरनल पीस! लांग लिव मनी, लांग लिव दिस प्रोडिजियस पीस!

आज तक, सिवल सर्जन जैसे ज्ञानी पुरुषों के उपदेशों का अनुसरण किया है, तभी तो शान्ति और आनन्द के सागर हृदय में हिलोरें ले रहे हैं? लोभ गंवाती तभी तो धनी बनती! न लोभ त्यागा न धनी

बनी, न सुच्चा धन संजोया न मन की शांति मिली। मैं तो लोभ को सहेज सहेज कर ही धनी बनने चली थी! इस लोभ के धन को छोर में बांध कर नीरज बाबू का अडिग विश्वास, पवित्र प्रेम, सुमधुर स्नेह खरीदने निकली थी? वे तो थे युधिष्ठिर से अज्ञानी अतः यह लोभ की कमाई उनकी आंखों में चकाचौंध भरती भी तो क्योंकर? हाय री किस्मत! मैं पगली तो लोभ जुटा जुटा कर अपने हाथों ही कंगाल हो गई, अपने धन की गठरी के भार तले ही दब गई!

लोभ को देख, प्रेम कहां ठहर पाता? प्रेम तो है त्याग का सखा अतः जब लोभ ने त्याग का गला दबोचा तो प्रेम बेचारा आंसू बहाता द्वार से लौट गया। त्याग था ही नहीं तो प्रेम किससे आकर गले मिलता, किससे सुख दुख की कहता? लोभ को देख उससे मिलने घृणा चली आई। इस पाप की कमाई से घृणा के अतिरिक्त और खरीदा ही क्या जा सकता था?

दिमाग़ को लोभ ने खा डाला, दिल को घृणा ने जला डाला। मिलन चाहा, विरह मिला; शीतलता चाही, दाहकता मिली। अधिकारिणी होती, तभी तो कुछ मिलता? सुपात्र बनती तभी तो कोई आंख उठा कर देखता। कुपात्र को कौन भिक्षा देता? अब तो यही विरह और आत्मदाह जलाए जा रहे हैं। ज्यों ज्यों पीछे हटती हूं इनकी लपटें भयंकर रूप धारण करके चारों ओर से घेरे जा रही हैं। जानती हूं, फिर एक ऐसी जगह आने वाली है, जहां से पीछे हटना मुश्किल होगा और लपटों में से निकलना असम्भव, फिर जल जल कर राख होना ही शेष रह जाएगा!

नौकरानी कह रही थी, "डाक्टर सॉब, किसे बुला रही थीं?" मैंने कहा, "किसी को भी तो नहीं! क्या तुझे आवाज़ दी थी?" बेचारी सहमती सी बोली, "आपने सन्ध्या सन्ध्या कह कर दो तीन बार

बुलाया था ।" टाल दिया, कहा, "कहीं तेरे कान तो नहीं बजते ? जा ! अपना काम किया कर ।" बेचारी सहमती सी चली गई ।

यह मुझे क्या होता जा रहा है ? कहीं सचमुच ही मैं पागल तो नहीं हो गई हूं ? मैंने तो अपनी समझ में बुद्धन को आवाज़ दी थी या फिर धनिया कह कर नौकरानी को पुकारा होगा । नई है न ? तभी इसे सुनने में ग़लती लगी है । लेकिन 'धनिया' का 'सन्ध्या' कैसे सुना जा सकता है ? कहा होगा, सन्ध्या ही कहा होगा ! आजकल दिमाग़ ठिकाने ही कहां रहता है ? नौकरानी आखिर नौकरानी ठहरी ! पलट कर क्या उत्तर देती ?

नीरज बाबू, विद्यापति का पद सुना रहे थे "राधा सयँ जब पुनतहि माधव-माधव सयँ जब राधा-दारुन प्रेम तबहि नहि टूटत, बाढ़त विरहक बाधा । दुहु दिसि दारु-दहन जैसे दगधई-आकुल कीट परान······" विरहाकुल राधा पगला गई थी । स्वय ही माधव बन जाती और राधा राधा पुकारने लगती, फिर होश में आती तो माधव माधव पुकारने लगती । विरह तो फिर भी जलाता रहता ! मैं भी तो उस कीट के समान ही हूं । एक तरफ लोभ ने अशान्ति की आग सुलगाई है, दूसरी ओर तज्जनित घृणा ने आत्मदाह की । दोनों ओर से जलती लकड़ी हूं । न जाने यह दोनों ओर की आग कब सुलगती सरकती प्राणों तक पहुंच जाए, प्राण धुक् धुक् जल जाएं !

न जाने क्या व्यर्थ की बातें सोचने लगती हूं ? यही तो निश्चय किया है कि अब इस विरह से ही प्रीति बढ़ाऊंगी । यही मेरा चिर-सखा बनेगा, यही मुझे विश्वास तक पहुंचाएगा, इसी की सहायता से उन पलों को संजोऊंगी जो जीवन भर की दरिद्रता हर लेंगे ! विश्व के उस असीम छोर तक पहुंचूंगी जिसकी बात नीरज बाबू किया करते हैं । फिर मैं भी इन पीपल के पत्तों की तरह खड़खड़ करती, आने वालों से

अपनी रामकहानी कहूंगी। नीरज बाबू दांतों तले उंगली दबा कर, आश्चर्य चकित से मेरी ओर देखते हुए कहेंगे, "तुम्हारी तरह से कहानी कहना तो बिरलों को ही आता है? ऐसा शानदार क्लाइमैक्स मैंने तो किसी भी कहानी का नहीं देखा!"

सिवल सर्जन कहने लगे, "डॉक्टर तुमने बिल्कुल बचपना किया है। खैर! तुम्हारी मर्ज़ी! हू कैन चैक द व्हील ऑव द फेट? आइ एम रियली सॉरी दैट आइ हैव टु मिस ऐन् ऐक्सपीरिएन्स्ड डॉक्टर लाइक यू। इस ज़िन्दगी में मैंने वो वो घटनाएं देखी हैं जिन पर कोई भी शख्स आसानी से यकीन नहीं कर सकता। तुम्हारा अनऐक्सपैक्टिड तौर पर रिज़ाइन कर देना भी उन्हीं घटनाओं में से एक घटना दिखाई देती है। किस्मत इसी का नाम है। अब क्या करने का इरादा है?" मैंने कहा, "फ़ुरसत ही कहां मिली है सोचने की? अब फ़ुरसत मिलेगी तो आराम से बैठ कर सोचूंगी।" हैरान होते हुए बोले, "विदआउट थिंकिंग यू हैव टेकन दिस स्टैप? मोर स्ट्रेंज, मोर ट्रैजिक!" मैंने कहा, "सर, व्हट ऐवर इज़ डन दैट इज़ डन, लैट् मी थिंक फॉर द फ्यूचर।" बोले, "रियली स्ट्रेंज! अनबिलीवेबल, अनइमैजिनेबल।" चुप रही, कुछ कहती भी तो उसे समझने वाला कौन था?

धनिया को इस घर में काम करते दस दिन ही तो हुए थे। बेचारी ने सोचा होगा कि जीवन में पेट भरने का मसला हल हुआ। मैंने भी तो यही समझ कर रखा था कि एक दुखिया को और आसरा मिलेगा। कल जब जानेगी कि नौकरी खत्म हुई तो क्या सोचेगी बेचारी? बुद्धन भी घर की तरह रम गया था। दस साल का बच्चा स्नेह का ही तो भूखा होता है? डॉक्टर शुक्ला कह रहे थे कि उन्हें नौकर की ज़रूरत है, उनसे कहूंगी कि इसे रख लें। इस आश्रयहीना धनिया का क्या बनेगा? कौन ओटेगा इस व्यर्थ के बोझ को? अभी मुझे अपने

ठिकाने की खबर नहीं तो इसे कहां घसीटती फिरूंगी ? डॉक्टर शुक्ला से कहूंगी। और न सही, बेचारी खाना तो खा सकेगी ! चलो छुट्टी हुई, पूर्ण रूपेण बन्धन मुक्त हुई। गीता में है न, "अनिकेतः स्थिर मति।" वही स्थिरमति बनने का सुअवसर अनायास ही हाथ लगा है।

व्यक्ति का मन भी बड़ा विचित्र है। इस घृणा की चट्टान के नीचे ही कहीं प्रेम की पवित्र जलधारा बहती रहती है। अभी तो लोभ छोड़ने का निश्चय भर किया है, अभी से इतना मिल रहा है कि सहेजते नहीं बनता। अभी तो त्याग की झलक भर देखी है, सचमुच ऐसे क्षणों को खोज निकालूंगी जिनसे वर्षों की रिक्तता भरी जा सके। जो पिछले क्षणों में मिल गया है उसने मानों आज तक की थकन हर ली है।

मैंने सर्विस छोड़ने की खबर सुनाई तो मिनटों तक चुपचाप बैठे रहे। जानती हूं, जब बोलते हैं तो अनुभूत को निस्संकोच मन से बांटा करते हैं, जब चुप होते हैं तो हृदय-मन्थन की प्रक्रिया चलती रहती है। अन्तर्द्वन्द्व के रज्जु से निरन्तर मानस सागर को मथा करते हैं। मैंने कहा, "बोलिये न ? चुप क्यों हैं ? इतनी अच्छी खबर सुनाई है फिर भी आप चुप बैठे हैं ?" चौंकते हुए से बोले, "अधूरी खबर सुना कर ही रह गई हैं आप। पूरी खबर सुनाइयेगा तभी तो कुछ समझ सकूंगा ?" मैंने कहा, "पूरी ही तो सुना डाली है। इसके बाद और कुछ भी रह जाता है क्या ?" बोले, "पहुंचना कहां है ?" मैंने कहा, "जो अपने घर में प्रवासिनी है, उसी मां के पास।" कहने लगे, "फिर ?" मैंने कहा, "फिर क्या ? प्रवासिनी मां के पास लड़की पहुंचेगी तो क्या उसके बाद 'फिर' की गुञ्जाइश रह जाती है ?" बोले, "और फीस का प्रबन्ध ?" मैंने कहा, "जब भूखों मरने लगूंगी तो आप को लिख भेजूंगी। जानती हूं आप जीते जी मुझे भूखों नहीं मरने देंगे।" कहने लगे, "अच्छा, समझ लीजिये कि आप की कुछ

भी सहायता न कर पाऊं, तब ?" मैंने कहा, "तब क्या ? और किसी के आगे तो अब हाथ फैलाने से रही ? आप से कुछ भी नहीं बन सकेगा तो आपको बददुआएं देती देती मर जाऊंगी।" जिस दृष्टि से उन्होंने मुझे देखा, मैं तो उसी के सहारे जीवन के संतप्त मरुस्थल पार कर सकती हूं। एक दृष्टि में ही मानो उन्होंने आज तक की जलन तपन को हर लिया ! उन नेत्रों में प्रेम के अनन्त सागर लहरा आए। अचानक उनकी आंखें छलछला आईं, बोले, "सचमुच तुम्हें आज सन्ध्या कह कर पुकारने को जी चाहता है।" मेरी आंखों से प्रेमाश्रु उमड़ पड़े। बोले, "सन्ध्या, मुझे इस अनन्त सम्पदा के ऋण से न दबाओ। जानता हूं जिसके पास इतनी अतुल धनराशि हो वह मां को अपने ही घर में प्रवासिनी कहां रहने देगी ?" पुनः बोले, "मुझे याद किया करोगी न ?" मैंने अश्रुपूरित नेत्रों से नकारात्मक सिर हिला दिया। बोले, "जानता हूं, फिर भी आज पूछने का लोभ हो आया है। ऐसी 'ना' कहते तुम्हें आज पहली बार ही तो देख रहा हूं। यह 'ना' ही मेरे हृदय की रिक्तता भरने के लिए पर्याप्त है।" कुछ देर सोचते रहे, फिर कहने लगे, "सन्ध्या, भगवान से कहना कि या तो मुझ जैसे भाग्य देकर लोगों को इस धरा पर भेजना बन्द कर दें, या फिर तुम जैसों को अच्छे भाग्य देकर भेजा करें ताकि उन्हें हम जैसों के भाग्य दावानल की तरह जलाया न करें। जानता हूं कि अब तुम्हारी बात भगवान भी अनसुनी नहीं कर सकेंगे।" मेरे मुंह से अनायास ही फूट पड़ा, "नीरज बाबू ! मुझे ऐसा शाप न दीजिये। मैं तो भगवान से यही मांगना चाहती हूं कि जन्म जन्मान्तर में मुझे ऐसे ही भाग्य मिलते रहें।" डबडबाई आंखों से मेरी ओर देखते हुए बोले, "सन्ध्या ! कह नहीं सकता कि भगवान मेरी सुनेंगे या नहीं ? सुनेंगे तो यही कहूंगा—प्रभु ! अगले जन्म में सन्ध्या को ऐसे भाग्य देना कि बेचारी को जीवन भर इस दावानल

में जलना न पड़े या फिर सन्ध्या और नसीम को एक ही बना कर मुझ जैसों की भटकन कम कर देना।" मैंने कहा, "कभी घूमते घामते उस गांव में आइयेगा न ?" अजीब सी दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए बोले, "समझो, कभी घूमता घामता आ ही निकलूं तो पहचान तो सकोगी न ?" मैंने कहा, "नीरज बाबू ! इतने दिनों में मैंने पहचानना ही तो सीखा है। यही सीख पाई हूं, यह जान कर मानो जीवन की व्यर्थता मिटने सी लगी है।" कुछ देर गहरी सोच में डूबे रहे। फिर बोले, "अच्छा यह तो बताओ, तुम्हारे मन में यह जो गहन वेदना भर गई है, उसी से घबरा कर गांव जा रही हो क्या ?" मैंने कहा, "कैसी बात कहते हैं आप ? यही वेदना तो मेरी आज तक की संचित पूंजी है। सहेज कर रखने की वस्तु को घर से बाहर फेंक दूं, ऐसी पागल मैं नहीं हूं।" अजीब स्नेह से मेरी ओर देखते हुए कहने लगे, "तिल तिल कर मरने का इरादा है क्या ?" मैंने कहा, "नहीं, इतनी स्वार्थी नहीं हूं कि मृत्यु कामना करूं। घुल घुल कर जलने का इरादा है। यह इतना स्नेह जो मुझे मिल गया है, इतनी जल्दी बुझने कहां देगा मुझे ?" उनके मुंह से अचानक एक लम्बी सांस निकल गई। संयत होते हुए बोले, "सचमुच बहुत अभागा हूं। तुम भी किस वक्त मिलीं ! सन्ध्या, अब अपने डेरा गाड़ कर बैठने के दिन कहां रहे हैं? अब तो डेरा उखाड़ कर चलने के दिन सामने हैं, सोचा था चिन्तामुक्त हो कर चलने का स्वर्ण अवसर हाथ लगेगा। तुम ऐसी लोभी निकलीं कि तुमने वह स्वर्ण अवसर भी चुरा लिया।" ठहर कर बोले, "जिस सन्ध्या को उस दिन जालन्धर की भीड़ में खो आया था, वह मिली भी तो ऐसे समय जब कि डेरा समेट कर कूच की तैयारी है।" संभलते हुए बोले, "तुम्हारा दोष नहीं है सन्ध्या, अपने भाग्य ही ऐसे हैं ? विधाता की बड़ी कृपा है। उस करुणानिधान ने अपनी झोली ऊपर तक भर दी है। देखो, वह

राह जो इस वेदना में से होती हुई विश्व के असीम छोर तक चली गई है, उसी पर चल निकलना। वही एक ऐसी राह है जिसके दोनों ओर वृक्षों की सघन छाया है, स्नेह के निर्झर हैं, विश्वासों के सम्बल हैं। यही राह है जो उन मंज़िलों तक निकल गई है जहां वेदनाएं, मुस्कानों में बदल जाती हैं, फिर और आगे चल निकलती हैं।"

स्नेह को पत्र लिखूंगी, स्नेह! मुझसे धूल भरे गांव का मोह छोड़ते नहीं बना। अब सदा के लिए तुम्हारे पास आ रही हूं। तेरे लिए भार नहीं बनूंगी। सिर्फ तेरे सहारे, बग़ैर वैसाखियों के चलना सीखूंगी। ईश्वर कृपा से मेरा लंगड़ापन दूर हो गया है। कमज़ोरी है, उसे दूर होते भी देर नहीं लगेगी। मैंने मंज़िलों तक पहुंचने का महामन्त्र सीख लिया है। अब ये रात के अन्धेरे और दोपहर के झुलसा देने वाले झोंके मेरी राह नहीं रोकेंगे। अब संभल गई हूं, इस दूरी को तय करते देर ही कितनी लगेगी? बोल मुझे सहारा देगी न? नहीं देगी, तब भी ज़बर्दस्ती छीन लूंगी। तेरी करुणा को जानती हूं अतः ढीठ बन गई हूं।"

नीरज बाबू 'दीपशिखा' में से सुनाया करते हैं "यह मन्दिर का दीप इसे नीरव जलने दो—......दूत सांझ का इसे प्रभाती तक चलने दो।" कितनी ही बार इस गीत को सुन कर अनसुना कर गई हूं। कहां जान पाई कि जिसे बार बार अनसुना किया है, वही एक दिन जीवन का महामन्त्र बनेगा, इस अनसुने के प्रकाश में ही, पथ को आलोकित करते हुए, विश्व के असीम छोर तक जाने वाली राह पर चलना होगा।

उस दिन ग्रामीण औरतों ने बरगद के नीचे दिये रखे तो सोचा था, इस बेतुकी सी हरकत में गहन अन्धविश्वास के अतिरिक्त और है भी क्या? आज सोचती हूं कि वह अन्धविश्वास कहां था? अटूट

श्रद्धा, असीम विश्वास ही मुझे अपने अज्ञान के कारण धुंधला सा दिखाई दिया था। गांव की अनपढ़ औरतें पूछने पर शायद कुछ बता भी न पातीं। यही कहतीं—कैसी बात करती हो ? बरगद पूजा क्या नई है ? यह तो हमारी दादी परदादी के समय से चली आई है। हमारी दादी की दादी भी बरगद पूजा करती थीं। वे लोग क्या मूर्ख थे ? हम उनकी परम्परा को अपने जीवन में क्यों न अपनाएं ?

इन अन्धविश्वासों की हंसी उड़ाऊंगी तो गांव के लोगों में कैसे घुलमिल सकूंगी ? इन अन्धविश्वासों की जड़ में बैठी श्रद्धा, अन्तर के निगूढ़तम प्रदेश में स्थित विश्वास को समझना होगा। उस श्रद्धा और विश्वास को दीपक के आलोक में झाड़ पोंछ कर, उजला बना कर गांव वालों की धरोहर उन्हें सौंपनी होगी ताकि इन धूल अटे हीरे मोतियों को मामूली पत्थर कह कह कर बड़ी बड़ी आलीशान दुकानों के जौहरी उन बेचारों को ठगते न फिरें। ये ग्रामवासी अपने हीरे मोतियों की सही कीमत आंक सकें और निर्भय होकर जीवन का सच्चा सुख जुटा सकें, खरी पूंजी से खरी वस्तुएं खरीद सकें। इनके अटल विश्वास और अटूट श्रद्धा को अन्धविश्वासों की धूल में मैला करके, सच्ची दौलत को झूठी दौलत कह कर कोई इन्हें लूटता न फिरे। अपनी वेदना के स्नेह से भरे जीवन दीप को धूल भरे गांव के हर घर में जलाऊंगी ताकि घर घर आलोकित हो उठे, अन्धेरे में इन्हें कोई ठग न सके, ये लोग स्वर्णिम प्रभात के दर्शन कर सकें। वेदना के स्नेह से भरा यही जीवन दीप सन्ध्या का दूत बनेगा, तिल तिल करके, नीरव, अबाध, अकम्पित ; स्वर्णिम प्रभात होने तक जलता रहेगा। प्रभात होने पर इस सन्ध्या के दूत का क्या काम ? और फिर मैंने इस प्रभात से अधिक चाहा ही कब है ? लोग इस बुझे मिट्टी के दिये को, मिट्टी के ढेर पर फेंक देंगे, उसी मिट्टी में मिल कर यह निश्शेष हो जायगा! इससे महान आदर सम्मान और क्या होगा ?

असमय में दिये बुझ जाते हैं तभी तो रात्रि के गहन अन्धकार में राहें भटक जाती हैं। नीरज बाबू ग़लत कहते हैं। लोग अपनी इच्छा से डेरे कहां उखाड़ते हैं? इस अन्धेरे में चोर लुटेरे समय से पहले डेरों को उखाड़ फेंकते हैं, लोग लूट लिये जाते हैं, अन्धेरों में जिधर बन पड़ता है बग़ैर सोचे समझे भाग निकलते हैं। उसी बरगद पर, जिसकी घनी छांह तपती दोपहरी में थके पथिकों को विश्राम का निमन्त्रण देती है, रात के अन्धेरे में भूत आ बसते हैं, लोगों को वृक्ष के पास जाने में भी डर लगता है। मैं दीपक बन कर निरन्तर इस बरगद के नीचे जलूंगी ताकि अन्धकार में इस पर आ बसने वाले भूत इस पर से सदा के लिए भाग जाएं।

ये भाग्य की बात कह रहे थे। विधाता के घर से तो सभी उजले भाग्य लेकर आते हैं। इन अंधेरों में ही ये भाग्य भटक जाते हैं। वाह री सन्ध्या! अगर समय रहते इस पवित्र वेदना का स्नेह संजोया होता तो क्यों भटकते फिरते ये उजले भाग्य? तू तो आज तक लोभ, स्वार्थ, गर्व और शंका की कालिख ही बखेरती रही, कालिमा को ही आलोक कह कह कर अपने आप को ठगती रही! अब भी देर न कर, उन पलों को अपनी अनन्त साधना द्वारा, तिल तिल जल कर, नीरव घुल घुल कर प्राप्त कर ले जिनके सामने वर्ष भी छोटे पड़ जाते हैं। ऐसी कहानी कह चल जिसका क्लाइमैक्स ऐसा हो कि व्यक्ति के हृदय को झकझोरता रहे, परम्परा बनता रहे, परम्परा में से ही नित विकसित होता रहे! आने वाले नयों के बीच खड़खड़ करके गिरने वाले पुराने अनन्त काल तक अमर बनते रहें।

● ● ●

★ नीरज

किरपालसिंह कह रहा था, "नीरज साहिब, ये नया मैनेजर हरामज़ादा नम्बर एक है। आप न जाने किस गफलत में बैठे हैं? साले ने आते ही नीचे की ऊपर और ऊपर की नीचे करनी शुरु कर दी। इस सूअर को ऐन वक्त पर अगर सबक न दिया गया तो कम्बख्त सबका हुलिया टैट कर देगा। हमें तो आपकी पालिसी समझ में नहीं आती? आप पता नहीं किस नेक घड़ी का इन्तज़ार किए जा रहे हैं? एक बार इजाज़त दीजिये, दफ्तर में ही मैनेजर साला काठ का उल्लू बना नज़र न आए तो हमारा नाम बदल देना। हम तो आपकी इस 'अहिंसा परमो धर्मः' वाली पालिसी से तंग आ गए हैं। पालिसी वक्त के मुताबिक न बदली जाए तो तबाही के सिवाय कुछ भी हाथ नहीं लगता। अपनी अहिंसावादी सरकार की फौजें सरहद की हिफाजत के लिए संगीनें तान कर निकलती हैं या नहीं? आपकी नीति पर अमल करके हाथ जोड़ कर खड़ी हो जाएं तो सबकी बोलो राम हो जाए या नहीं? हम तो आपकी बर्दाश्त करने वाली सयासत से तंग आ गए हैं। कहिये तो जा कर उस सूअर के बच्चे के कदम चूम लें?"

किरपालसिंह जला भुना मेरे पास आया था। उसकी बातें सुन कर मैं आसमान से सीधा ज़मीन पर आ रहा। मैगज़ीन में से नज़्म का एक शेर पढ़ा था। उसी के रस में डूबा हुआ था। देहली से कोई 'विमल' साहिब लिखने वाले थे। मन में रह रह के खयाल आ रहा था कि विमल साहिब की अनुभूति अत्यन्त प्रबल है या फिर ज़िन्दगी की उथल पुथल ने उन्हें ठोक पीट कर पारस बना दिया है। किरपाल-सिंह की बात सुनते सुनते भी शेर का दूसरा मिसरा दिमाग़ में तैरता जा रहा था 'रोशनी का इक लमहा तीरग़ी पे भारी है।'

अचानक दिमाग़ में खयाल आया कि किरपालसिंह का मूड शेर सुना कर कुछ ठीक किया जाय ताकि ज़रा शान्त वातावरण में उससे बात चीत हो सके। मैंने कहा, "सरदार साहिब, ज़रा शेर मुलाहिज़ा फरमाइये। ये कोई विमल साहिब हैं देहली के, बस ग़ज़ब कर रहे हैं! इनकी ग़ज़लें नज्में पढ़ कर इन्सान उन्हीं में डूब कर रह जाता है। शेर है—'मुस्तकिल अन्धेरों में, मैं चला हूं गो लेकिन—रोशनी का इक लमहा तीरग़ी पे भारी है।"

किरपालसिंह गरज उठा, "ये सुसरे शायर भी अजीब जानवर होते हैं। शराब पी कर बकते फिरते हैं। झूठी उम्मीदों के दिलासे दे दे कर खुद को और ज़माने को उल्लू बनाए जाएंगे या फिर हाय इश्क, हाय इश्क की रट लगाते बाज़ारों में चुग़द बन कर घूमते रहेंगे। मैं कहता हूं, ये विमल महाराज हैं न? इनके दिन खूब अमन चैन से गुज़र रहे होंगे तभी शायरी फरमा रहे हैं। मुस्तकिल अन्धेरों में चलने वालों के ज़ेहन में बीवी की फटी साड़ी आ सकती है, बच्चों के स्कूल की फीस आ सकती है, बूढ़े मां बाप की दवाई आ सकती है या फिर आटे दाल की दूकान के मालिक बनिये का बिल आ सकता है जिसे देख कर उन बेचारों की शायरी क़िसी चूहे के बिल में घुस जाती है। ऊंह! 'रोशनी का इक लमहा तीरग़ी पे भारी है' आए हैं सूरज देवता से वरदान लेकर शायरी करने? मैं कहता हूं 'सरदार' के उस शेर के मुकाबिले में एक शेर भी नहीं है। क्या था वो? उस दिन सुना रहे थे न आप? 'और यहां तेरे बेटे, तेरी बेटियां—उनकी दुखती हुई उंगलियां—सूत के इक इक तार से—मुल्क के क़ातिलों का कफन बुन रही हैं।' या फिर, क्या था वो, 'उबलते ज्वालामुखी को कोई दबा सका है?' शायर कहां पहुंचना चाहता है और ये विमल साहिब हैं कि महात्मा बुद्ध के चेले बन कर रोशनी का गोला उठाए फिर रहे हैं। रोशनी का ज़िक्र आया और तरक्कीपसन्दी का दम भरने लगे।

मैं कहता हूं इस शायरी से तो तोबा भली ! ये विमल साहिब ज़रूर किसी मैनेजर के चमचे होंगे ? होटल में मैनेजर के साथ शराब उड़ाई और रोशनी का आतिशफिशां पहाड़ ढूंढ़ने निकल पड़े। दीज़, उल्लू के पट्ठे, ब्लडी रास्कल नकली पोयट ! हां, आप अपने असली मौजूं पर आइये ? मैं उस साले, ब्लडी रास्कल मैनेजर के बच्चे की हजामत बनाने की बात कह रहा था।"

मुझे यूं लगा था मानों आते ही किरपालसिंह जी ने मेरी लात घूंसों से पूजा शुरु कर दी है। मैं समझ रहा था कि विमल साहिब की बेइज्ज़ती का मैं खुद ज़िम्मेदार हूं। अगर मैं किरपालसिंह को शेर सुनाने की हिमाकत न करता तो बेचारे अच्छे भले शायर को इस कदर तौहीन बर्दाश्त न करनी पड़ती। फिर खयाल आया कि कुछ नक्काद 'सरदार' को भी तो इसी तरह याद किया करते हैं ? बड़े बड़े नक्काद अगर ऐसी भूल कर सकते हैं तो बेचारे किरपाल का इसमें क्या दोष ? नक्काद अपने दिल के हसद से जलते हैं लेकिन किरपाल में तो बस साफ़ बयानी की आदत है।

मुझे एक और दिन की याद हो आई। उस दिन किरपाल ज़रा लाइट मूड में था और मैं ज़रा उससे छेड़ छाड़ करने के मूड में। मैंने कहा, 'साथी, एक फड़कता शेर सुनो, बस बिन पिये झूम उठोगे ?" बोला, "नीरज साहिब, कोई जानदार शेर सुनाइएगा कभी कभी आपकी च्वाइस बड़ी घटिया होती है।"

मैंने सरदार जाफरी का शेर सुनाया, "मैकशों को मुज़दा सदियों के प्यासों को नवीद—अपनी महफिल अपना साक़ी लेके अब आते हैं हम।" छूटते ही बोला, "ज़रूर किसी नवाब की जूतियां झाड़ने वाले ने ये शेर कहा होगा ? आप भी क्या शेर ले बैठते हैं ? ऐसे शायर जो साक़ी वाक़ी की बात करें मुझे ज़हर लगते हैं। सुनाना है तो

सरदार का वो सुनाइये न ? 'कौन सा शरारा कब बेकरार हो जाये—शोलाबार हो जाये, इन्किलाब आ जाये।" हंसी के मारे मेरा पेट फटने लगा। हैरान होता हुआ बोला, "भला इसमें हंसने की क्या बात थी ? ज़रूर आपके ज़ेहन में किसी नई कहानी का प्लाट घूम रहा होगा ?" मैंने कहा, "अक्लमन्दों के वाहिद जांनशीन मेरे दोस्त सरदार किरपाल जी, जो शेर मैंने अर्ज़ किया है, वह भी सरदार जाफरी का ही है।" मेरी बात सुन कर किरपालसिंह कुछ झेंप सा गया, फिर संभलता हुआ बोला, "आप भी खूब मज़ाक करते हैं नीरज साहिब ? सरदार मैखाने और साक़ी के शेर कभी नहीं लिख सकता ?" काफी देर हंसने के बाद, जब मैंने किरपाल सिंह को मैकश और साक़ी के संकेतों की बात समझाते हुए शेर की तशरीह की तो झेंपता सा बोला, "आप भी तो ट्रेडयूनियनिस्टों को शायर बनाना चाहते हैं ? हमें तो बस 'इन्किलाब आ जाए' यही समझ में आता है। खैर ! वैसे शेर ये भी जानदार था। मैं भी दिल ही दिल में सोच रहा था कि सरदार घटिया शेर लिख ही नहीं सकता। देखिये न ! मैकश और साक़ी की बात कह कर रिएक्शनरी पोयटों को क्या कलाबाज़ी खिलाई है ?" ज़रा रुक कर बोला, "मेरा इम्तहान कभी किसी शायर की मौजूदगी में न ले बैठियेगा ? देखिये न, अब बेचारा जाफरी बैठा होता तो क्या समझता ?"

उस दिन भी वही बात याद आ गई लेकिन 'रोशनी का इक लमहा तीरग़ी पे भारी है' विमल के इस शेर की तशरीह करने का इरादा तर्क करना पड़ा। अगर कोई नक्काद होता तो क्या मजाल अपनी ग़लती कबूलता। शायर ने भले ही कुछ कहा होता, उसने अपनी दलीलों से साबित कर दिखाना था कि शेर में शेरियत नहीं है, खयाल निहायत घिसा पिटा है, तखय्युल के नाम पर निरा दिवालियापन टपक रहा है, वगैरह वग़ैरह। सोचा, किरपाल सिंह जैसा भी है इन

अलोचकों से तो लाख दर्जे भला है। जब जितनी बात समझ में आती है साफ कह देता है, नहीं समझ में आई तो वह भी स्वीकार कर लेता है। समझ में आने पर अपनी राय बदलते इसे देर नहीं लगती। विमल साहिब का शेर जिस दिन समझेगा तो इससे कहीं कड़े शब्द अपनी अक्ल के लिए इस्तेमाल करेगा। इसकी साफ दिली और नेक-नीयती इन्सान को मोह लेती है। पहले मैनेजर के बारे में एक बार ग़लतफहमी पैदा हो गई तो उसकी पगड़ी को हाथ डाल बैठा। जब ग़लतफहमी दूर हुई तो इसे माफ़ी मांगते रत्ती भर भी झिझक नहीं हुई। बोला, 'मैनेजर साहिब, बन्दा गुनहगार है, जो भी सज़ा देंगे बन्दा मंजूर करेगा।' बात आई गई हो गई। यही वजह है कि किरपाल सिंह जब किसी के करीब आता है तो दूर नहीं जा पाता।

उस दिन कॉलिज के प्रोफैसर ज्ञानसिंह मिल गए। किसी दोस्त से मिलने गया था, वहीं विराजमान थे। पता चला साहित्य के प्रोफैसर हैं। मित्र ने मेरा भी परिचय कराया। छूटते ही बोले, "आपकी राय में नाटक लिखना सरल है या उपन्यास लिखना?" मैंने कहा, "मुझे उपन्यास लिखना सरल लगता है, यह तो अपनी अपनी अनुभूति, अपनी अपनी अभिव्यक्ति पर निर्धारित है कि कौन किस ढंग से अपनी बात मानसिक सन्तोष के साथ मनचाहे रूप में कह सकता है?" कहने लगे, "तो आपका ख्याल है कि शैक्सपीयर अगर चाहता तो भी नावल नहीं लिख सकता था या कीट्स और शैली चाहते तो नाटक नहीं लिख सकते थे?" मैंने कहा, "उनकी बात मैं नहीं जानता, अपनी जानता हूं। मैं नावल ही लिख सकता हूं, वह भी घटिया सा, कवि या नाटककार बनना मेरे बस की बात नहीं है।" बोले, "यह भी कोई बात है? आप कोशिश कीजिए, ज़रूर लिख सकते हैं। हमें तो फुरसत ही नहीं मिलती वर्ना कुछ भी लिखना क्या कठिन है? कल्पना को ज़रा ऊंचा उड़ने दीजिए, कविता बन गई।

कविता को ज़रा घटना प्रधान टच् दीजिए कहानी बन गई। कहानी को थोड़ा सा विस्तार दीजिए, बड़ी कहानी बन गई। बड़ी कहानी को ज़रा घुमा फिरा कर उसमें इधर उधर के दो चार करैक्टर्ज़ और मिला दीजिये नावल बनते देर नहीं लगेगी। नावल या कहानी को स्टेज के लिहाज़ से डायलाग फॉर्म में लिख दीजिए तो सफल नाटक या एकांकी बन सकता है।" मैंने उनकी बड़ी बड़ी डिग्रियों से डरते हुए कहा, "यदि आपकी किसी रचना को सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो सके तो अहोभाग्य!" हंसते हुए बोले, "वी आर प्रोफैसर्ज़। अवर्स जॉब इज़ टु क्रिएट आर्टिस्ट्स, रियल आर्टिस्ट्स।" मुझे यों लगा कि मैं किसी प्राइवेट वर्कशॉप के सामने खड़ा, दुकान पर टंगा बोर्ड पढ़ रहा हूं, "यहां हर किस्म की बीमार साइकलों की मरम्मत होती है और सस्ती कीमत पर नए साइकल मिलते हैं।" मैंने विनय मुद्रा में कहा, "आप ही के अथक प्रयत्नों से स्वर्णिम भविष्य तक पहुंचा जा सकेगा।" हंसते हुए बोले, "आपसे मिल कर बहुत खुशी हुई। ओनली पीपुल लाइक यू कैन रियलाइज़ अवर वैल्यूज़ अदरवाइज़ वी आर कनसिडर्ड जस्ट लाइक फैक्टरी लेबर। ए ग्रेट मिसफारच्यून फॉर द नेशन।"

किरपालसिंह बोला, "इस सुसरे ने, नीरज साहिब, हमें फैक्टरी लेबर समझ रखा है? फिर दिखा ही दें इसे फैक्टरी लेबर बन कर? अच्छे भले सफेदपोश बाबुओं को ओय, अबे और तू के सिवाय बुलाता ही नहीं है। मुझे तो किसी कमीने खानदान का लगता है। अच्छे खानदान वालों के ये लच्छन होते हैं? बाबू सतपरकाश जी को बोला—तूने डाक क्लियर की है या नहीं?—अब बताइए सतपरकाश बाबू इस सुसरे के बाप लगते हैं या नहीं? बेटा, बाप को तू कह कर बुलाता है। हरामी, मुझे तो क्या कहते हैं आप गीता में उसे? खालिस बरण संकर लगता है। कानून तक बन गए हैं कि कोई भी अफसर किसी मातहत को गाली नहीं निकाल सकता, सुप्रीम कोर्ट तक ने फैसले

हम लोगों के हक में दिए हैं लेकिन इन सुसरों के कान पर जूं तक नहीं रेंगती। इतनी बड़ी अदालतों के फैसले को भी टेंगे पर रखते हैं ये लोग। यह साला यूं ठीक नहीं होगा, आप हमें रोकिये नहीं, इस हुक्म के बादशाह को सुपरलेटिव डिग्री लगा ही देने दीजिए। इसने समझ क्या रखा है कि यहां सब मुर्दे बसते हैं? हमने मेहनत बेची है, इज्ज़त नहीं बेची?"

बाबू सत्यप्रकाश जी के अपमान का दुःख मुझे भी था। मैंने मैनेजर के सामने इस अमानवीय व्यवहार को तथा इसके परिणाम-स्वरूप पैदा होने वाली स्थिति को स्पष्ट किया भी था, परन्तु सरदार किरपालसिंह जिन उपायों की ओर संकेत कर रहा था, उनसे मेरा मतभेद था। मैंने कहा, "सरदार जी, सुपरलेटिव डिग्री लगाने से परिस्थिति और बिगड़ेगी। उससे शायद हुक्म का बादशाह और भड़क उठे। अगर हुकम के बादशाह को चिड़िया का गुलाम बनाना ही है तो ज़रा समझ से काम लीजिए। उसने तो कानून तोड़ कर गलती की ही है जिसकी सज़ा उसे मिलेगी लेकिन आप भी कानून तोड़ कर डबल गलती मत कीजिये।"

किरपालसिंह बोला, "हमारे पास कानूनी लड़ाई में मुफ्त रुपया लुटाने की हिम्मत नहीं है। वर्कर्ज़ की खून पसीने की कमाई को कानूनी लड़ाई में खर्च करना सरासर ग़लती है। कानून पर एक और कानून बनेगा और जब उससे भी मालिकों के कान पर जूं नहीं रींगेगी तो फिर उस कानून की इन्टरप्रटेशन के लिए एक और ट्रिब्यूनल बैठेगा। इतना रुपया बरबाद करके इन ट्रिब्यूनल्ज़ और रैफरेंसिज़ के अलावा और कुछ मिला भी है आज तक? इन्कलाबी लड़ाई को ये लोग और पीछे सरकाए जा रहे हैं। रैफरैन्सिज़ की सौगात दे देकर ये लोग क्लास स्ट्रगल को टालमटोल के गढ़े में और लेबर लीडर्ज़ को रिफॉर्म के चक्कर में डाल रहे हैं। आपके वो आर्टिस्ट दोस्त हैं न,

क्या नाम है उनका ? हां, नरेन्द्र कुमार साथी। गाया करते हैं न ? 'मेहनतकश अब होश में आ और हाथ में झण्डा लाल उठा।' बस उसी की ज़रूरत है।" खैर, उस वक्त मैंने किरपाल सिंह को यह कह कर तसल्ली दी कि मुझे समस्या को सुलझाने का एक मौका और दिया जाय, जल्दबाज़ी करना ठीक नहीं। वह मेरी नर्म नीति को कोसता हुआ चला गया। उसके जाते ही मुझे नरेन से हुई बहस याद हो आई।

मैंने कहा, "नरेन, जो मसले नारेबाज़ी या प्रदर्शनों के बग़ैर सीधी बातचीत से सुलझ सकते हैं, उसके लिए भी श्रमिक शक्ति का यह अपव्यय आवश्यक है क्या ?" कहने लगा, "नेगोशिएशन्स से मसले सुलझते कहां हैं ? और उलझते हैं ? अलबत्ता उनके सुलझ जाने का गुमान सा ज़रूर होता है।" मैंने कहा, "सुलझते हैं, उनकी बात क्या ग़लत है ? अब देखो, हमारे आफिस की सीनिऑरिटी का मसला, ड्यूटीज़ की प्रॉबलम, ओवर टाइम का इशु, ये सब आपसी बातचीत से ही सुलझे हैं।" बोला, "सुलझे कहां हैं ? आपको चकमा देकर नया दाव चलने की कोशिश हो रही है। आप सुस्ताने बैठेंगे और मालिक लोग आपको नया धोबीपटका लगाने की सोचेंगे।" मैंने कहा, "यदि आपस में से विश्वास ही उठ जाए फिर तो कभी भी इन्डस्ट्रियल पीस, औद्योगिक शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। तुम लोग तो विश्वास को ही बीच में से उड़ाए दे रहे हो !" हंसता हुआ बोला, "विश्वास होता है आदमी और आदमी में। मगरमच्छ और आदमी का विश्वास भी कहीं होता है ? ये बड़े बड़े कारखानेदार धनपति, मगरमच्छों से कम नहीं हैं। इनपर विश्वास करने का मतलब है, इनके पेट में पहुंचना, इनका भोजन बनना।" मैंने कहा, "मगरमच्छ ये नहीं हैं, इनका स्वार्थ मगरमच्छ है। अगर इनका स्वार्थ बीच में से निकल जाए तो इन मगरमच्छों को आदमी बनते देर

ही कितनी लगेगी ?" बोला, "जब तक क्लास कन्फ्लिक्ट है तब तक इन मगरमच्छों की खुदगर्ज़ी कभी नहीं मिट सकती। एक एक्सप्लॉयटर है, एक एक्सप्लॉयटिड है। शोषक और शोषित के मध्य का स्वार्थ वर्गहीन समाज बने बग़ैर कभी नहीं मिट सकता।" मैंने पूछा, "जहां शोषित और शोषित के मध्य यह स्वार्थ आ खड़ा होता है, उसके लिए क्या इलाज है ?" उत्तर मिला, "शोषित और शोषित के मध्य जो स्वार्थ है वह है भूख और बेकारी के कारण, अभाव और साधनों की कमी के कारण। यदि प्रत्येक को साधन और अवसर प्राप्त हों, जिन्हें प्राप्त न होने देने की कसम शोषक वर्ग ने खा रखी है, तो शोषित और शोषित के बीच का स्वार्थ समाप्त होते देर न लगे। घूम फिर कर उत्तरदायित्व आखिरकार इन्हीं मगरमच्छों के ऊपर आता है।" मैंने पूछा, "जहां समाजवादी व्यवस्था स्थापित हो गई है अथवा साम्यवादी व्यवस्था बन रही है, वहां भी इन स्वार्थों का समूलोच्छेदन तो नहीं हो सका है। जब तक किसी भी क्षेत्र में व्यक्ति की दूसरे को कुचलने की, अपने विचारों को सर्वोपरि मान्यता देने की इच्छा है तब तक स्वार्थ कैसे नष्ट होगा ? आज साम्राज्यवाद और साम्यवाद लड़ते हैं फिर साम्यवाद, साम्यवाद से अथवा साम्राज्यवाद साम्राज्यवाद से झगड़ा करेगा। मनुष्य में जब तक बर्बरता है, अत्याचार है, अहंकार और राज्य लोलुपता है, भले ही वह व्यक्तिगत रूप में हो अथवा गुटों की शक्ल में, शान्ति स्थापित नहीं हो सकती।" तुनकता हुआ बोला, "घबराने की कोई ज़रूरत नहीं। आप हाथ पर हाथ धरे बैठे रहिये खुद ब खुद शान्ति स्थापित हो जायगी। देख नहीं रहे हैं आप, ये साम्राज्यवादी शक्तियां शान्ति स्थापित करने के लिए कितने शानदार ऐटम बम, हाइड्रोजन बम बना रही हैं ? इनके फटते ही बस शान्ति ही शान्ति स्थापित हो जायगी। उधर साम्यवादी शक्तियां विश्व शान्ति की बात कहती हैं तो वे आप को बर्बर, अत्याचारी और

सत्ताकांक्षी न जाने क्या क्या दिखाई देती हैं। इन भूखे भेड़ियों को खुली छूट दे दीजिए, सब कुछ चाट चाट कर अमन कायम कर देंगे। भेड़ें और मेमने रहेंगे ही नहीं तो में में कौन करेगा?" मैंने कहा, "भई, धीरज से मेरी बात सुनो और मुझे समझाओ। समझने के लिए ही तो तुम से पूछ रहा हूं। मानसिक सन्तुलन खोने पर जो बहस होती है उसमें प्रेस्टीज का मसला आ खड़ा होता है। कहते हैं न, 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' लेकिन जब यह मानसिक सन्तुलन न रहे तो होता है 'वादे वादे जायते सत्य विनाशः' — तुम लोग विश्व शान्ति की बात करते हो वह ठीक, लेकिन आन्तरिक मसलों को हिंसा द्वारा सुलझाना चाहते हो। उधर अमेरिका वाले आन्तरिक मसलों को शान्ति से सुलझाना चाहते हैं लेकिन विश्व की समस्याओं को हिंसा द्वारा। एक ओर इन्टरनैशनल पीस है लेकिन इन्टरनल स्ट्रगल, दूसरी ओर इन्टरनल पीस है और इन्टरनैशनल स्ट्रगल। मैं ज़रा मोटे दिमाग़ का आदमी हूं, इसलिए बात मेरी समझ में नहीं आती। यदि हिंसा एक जगह बुरी है फिर वही दूसरी जगह भली कैसे बन जाती है? यही तो रोना है कि जिसे एक अपने लिये विष समझता है, दूसरे को वही अमृत कह कर बांटता फिरता है।" नरेन बोला, 'यार, बोर न करो। तुम्हारे दिमाग़ में भूसा भरा हुआ है और चले हो सयासत में गतका खेलने। तुम बुनियादी बात को क्यों भूल जाते हो? हम चाहते हैं शोषितों का भला, वे चाहते हैं मुट्ठी भर मुनाफाखोरों के हितों की रक्षा। आप दोनों को बराबर रख कर तोल रहे हैं। डाकू हथियार उठाता है दूसरों को लूटने के लिए, साधू शस्त्र संभालता है आत्मरक्षा के लिए। तुम हो निरे मिट्टी के माधो, बस अपने हरि-भजन की रट लगाये जाओ। मैं कहता हूं जनाब आंखों पे छींटे दीजिये छींटे, बहुत हो चुका हरिभजन और सन्ध्या कीर्तन।" मैंने कहा, "एक ने आत्म रक्षा के लिये शस्त्र उठाया और दूसरे ने लूटने के लिये

फिर होने दो घमासान ! जब लड़ने ही निकले हो फिर यह क्यों कहते हो कि डाकू चार गोलियां क्यों चलाता है, जब कि हम में एक ही चलाने की सामर्थ्य है ? जिससे जितना बन पड़ेगा, लड़ेगा । हथियार उठाने पर भी यदि आत्मरक्षा न हुई, फिर तो तसल्ली हो जायेगी न ?" कहने लगा, "बहादुरी से मरने की तसल्ली तो रहेगी । कोई बुज़दिल तो नहीं कह सकेगा ?" मैंने कहा, "बुज़दिल तो आदमी उसी क्षण बन जाता है जब हिंसा का सहारा लेता है । बहादुरी तो इसमें है कि आदमी दूसरे को नेक बनाने के लिये हंसता हंसता मर जाये, चेहरे पर शिकन तक न आये ।" कहने लगा, "आप इन्किलाबी ताकतों को ही झुठलाये दे रहे हैं ?" मैंने कहा, "नहीं तो ! इन्किलाबी भी पहले मरने के लिये तैयार होते थे तब क्रान्ति के लिये निकलते थे । उनका उद्देश्य भी आत्मबलिदान द्वारा देश को स्वतन्त्र कराना होता था । आत्मरक्षा की बात सोच कर आज तक कोई क्रान्तिकारी नहीं बना, आत्मबलिदान की बात सोच कर ही स्वतन्त्रता संग्राम के अमर शहीद क्रान्तिकारी बने थे । तुम नाम आत्मबलिदान का लेते हो, सोचते हो आत्मरक्षा की बात । जब आत्म-बलिदान के लिये तैयार हो ही गये हैं फिर डाकू छोड़ शैतान आ जाये, भय कैसा ? देखो भई नरेन ! हमें हथियार उठाना नहीं आता, कभी बचपन में झूठा तमञ्चा चला कर भी तो नहीं देखा । अलबत्ता ज़माने की ठोकरें खा खा कर हम बेख़ौफ़ी से मरना ज़रूर सीख गये हैं । तुम डाकुओं और भेड़ियों की बात कहते हो, नादिर और चंगेज़ भी आ जाएं तो हम नहीं डरने के । कभी ज़रूरत पड़े तो हमें उनके सामना खड़े कर देना । वैसे भी टूटे फूटे सामान में ही हमारी गिनती होती है, और किसी काम आने से रहे ? अगर इन नादिरों और चंगेज़ों की चमचमाती तोप तलवारों को देख कर हमारी मुस्कान में रत्ती भर भी फ़र्क़ आ जाए तो हमारा नाम अपने दोस्तों की फहरिस्त में से हमेशा के लिये काट देना । हां, अगर कभी

झूठमूठ का भी तमञ्चा उठाने के लिये कहोगे तो वह अपने से ही नहीं उठने का।" नरेन अजीब बौखलाहट की आवाज़ में बोला, "साथी, मुझे तुम्हारी अक्ल पर तरस आता है। हम तो नास्तिक ठहरे, क्या कहें? अगर तुम्हारा खुदा सचमुच कहीं है तो वह तुम्हें सेहतमन्द अक्ल का दान बख्शे। ताज्जुब है यार तुम्हारी मोटी अक्ल पर! तुम मार्क्स के फलसफे को ही झुठला रहे हो? क्लास स्ट्रगल में से ही तुम्हारा यकीन उड़ गया है? मैं कहता हूं इस ट्रेड यूनियनिस्टों के धन्धे को छोड़ कर, शहर के किसी नुक्कड़ पर पानबीड़ी सिगरेट की दुकान खोल लो। हम भी आते जाते कभी एक आध गिलौरी बनवा लिया करेंगे। हद है यार हद है, तुम्हारी अक्ल के दिवालियापन की? ओफ्फ हो! जनाब मार्क्स से बड़े फलसफादां बनने निकले हैं। अमां यार, शीशे में कभी सूरत भी देखी है अपनी? नहीं देखी तो आज ज़रूर देखना?" कहते कहते नरेन ठहाका लगा कर हंस पड़ा। हंसी थमने पर बोला, "मेरे यार, किसी मन्दिर के पुजारी बन जाओ, खूब बढ़िया हलवा पूड़ी, लड्डू पेड़े मिला करेंगे। नानसैन्स! यू डॉन्ट बिलीव इन क्लास स्ट्रगल ईवन? व्हट ए पिटी? यू ऐक्सपेक्ट ए मिरेकल इन सोसाइटी विदआउट क्लास स्ट्रगल! यू चुग़द डिसिपल ऑव दोज़ शर्टलैस भूदान सर्वोदय वालाज़। हाऊ यू ऐक्सपैक्ट क्लास कांशेस-नैस इन जनरल मासिज़ विदआउट क्लास स्ट्रगल? जब तक जनाब तबकाई मफ़ाद कायम हैं, क्लास कन्फ्लिक्ट रहेगा और जब तक ये कन्फ्लिक्ट है तबकाई जद्दोजहद होगी। सोसाइटी ठोस धरती पर रहती है, मैटीरियलस्टिक् इन्वायरनमैन्ट्स अहम रोल अदा करते हैं। युअर नेगोशिएशन्ज़ मीन्स एन अननैसेसिरी आब्स्टेकल इन इन्टैं-सिफाइंग क्लास स्ट्रगल। अब आया कुछ आपके दिमाग़े शरीफ में? आइ डोन्ट नो हाऊ ए मैच्योर्ड ट्रेडयूनियनिस्ट लाइक यू हैज़ चेंज्ड इन टु ए राइट रिवीज़निस्ट विदइन ए नाइट्स टाइम? कहीं उस

लेडी डॉक्टर का चक्कर वक्कर तो नहीं ?" बात खत्म करते करते फिर एक बार नरेन ने कहकहों से आसमान गुंजा दिया। मैंने कहा, "नरेन ! मैंने आज तक अपने अनुभवों से सत्य को ग्रहण करना सीखा है। आंखें बन्द करके किसी दूसरे के अनुभूत सत्य को अपना कह कर ओढ़े फिरना न मुझसे हुआ है और न हो सकेगा। बुद्ध या गांधी ने, मार्क्स या लेनिन ने कोई बात कही है अतः उसके आगे सत्य का विकास रुक गया, यह मैंने कभी नहीं माना। मुझे जब, जहां से, जैसी भी स्थिति में सत्य मिला है मैंने उसे झुठलाया नहीं, ग्रहण कर लिया है। अपने देश में एक हुए हैं ऋषि दयानन्द, शायद तुम उनका नाम आज पहली बार सुन रहे होगे। वे महर्षि एक बहुत पते की बात कह गये हैं कि व्यक्ति को सत्य को ग्रहण करने और असत्य को त्यागने के लिये सर्वदा समुद्यत रहना चाहिए। सयासत और गुटबन्दी के लिहाज़ से देखा जाए तो बात बहुत घटिया थी क्योंकि इसे ग्रहण करने से गुटबन्दियों की बुनियाद कमज़ोर होने लगती है, लेकिन मुझ अक्ल के अन्धे को यह बात जंच गई और मैंने उसे छोर से बांध लिया। मुझे चाहे तुम राइट रिवीज़निस्ट कह लो, चाहे सर्वोदय वालों का अनुयायी समझ लो लेकिन उससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा, क्योंकि मैं जानता हूं कि मैं जो कुछ हूं वही रहूंगा। किसी के कुछ कहने से, मुझे समझने में ग़लती लग सकती है, मेरे होने में ग़लती नहीं लग सकती। नोक झोंक, ताने उलाहनों से से सहम कर दिल की बात पर पर्दा डालने के मेरे दिन निकल गए, अब तो तलवार की नोक सीने पर कोई रख दे तब भी दिल की बात ही मुंह से निकलती है। जैसा समझता हूं, वही कहने में किसी को कुछ मिले या न मिले, मेरा आत्मसन्तोष नष्ट नहीं होता। कभी सोच सोच कर डरा करता था कि लोग मुझे क्या समझेंगे, अब यही चिन्ता होती है कि पहले अपने आप के सामने तो सच्चा हो लूं। मेरे लिए न तुम्हारे

मार्क्स और लेनिन छोटे हैं और न बुद्ध और गांधी अंतिम अवतार हैं, यही वजह है कि मेरा किसी भी गुट से मेल नहीं बैठ पाता। मैं इन सब को उस सत्य के विकास की, जो अनन्त है, विभिन्न सशक्त कड़ियां समझता हूं। मार्क्स ने आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन ला कर सेहतमन्द सामाजिक ढांचे की बात कही है वह मेरे लिए अक्षरशः सत्य है। इतना अहसान फरामोश मैं नहीं कि इतने बड़े दार्शनिक को नकार दूं। क्लास स्ट्रगल की बात मार्क्स और एंजल्ज़ ने कही है उसे भी मैं मानता हूं। मार्क्स ने इतना बड़ा दर्शन विश्व को दिया है, यह ठीक है परन्तु फिर भी साम्यवाद के प्रसार के उसके बहुत से अन्दाज़े ग़लत निकले। स्टालिन की नीति को आज उसी के साथी समयानुसार विभिन्न रूपों में ढाल रहे हैं तो क्या वे साम्यवाद के विरोधी हैं? मेरे लिए क्लास स्ट्रगल की अहमीयत होते हुए भी उसका रूप बदल गया है क्योंकि मैं उस देश में पैदा हुआ हूं जहां बुद्ध ने लोभ को त्याग कर महान बनने की बात कही है और गांधी ने उस कथनी को सामर्थ्यानुसार सामाजिक जीवन में ढालने का प्रयत्न किया है। वर्ग संघर्ष अमीर ग़रीब का ही नहीं नेकी और बदी का भी है। नेकी एक वर्ग है, बदी दूसरा वर्ग है। यह संघर्ष व्यष्टि, समष्टि, प्रान्त, देश, महाद्वीप, अन्तर्राष्ट्र, जाति, रंग, वर्ण, सम्प्रदाय, मत, विचार, कला, दर्शन, हर स्तर, हर रूप और हर क्षेत्र में होता रहता है। इस बड़े संघर्ष का ही एक छोटा सा लेकिन अहम हिस्सा शोषक और शोषित का संघर्ष है। तुम कहते हो इस संघर्ष के बाद स्वतः शान्ति स्थापित हो जायेगी क्योंकि ग़रीब कोई नहीं रहेगा। महाभारत जैसे महाकाव्य में युधिष्ठिर, यक्ष के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहता है—केवल लोभ गंवा कर ही अमीर बना जा सकता है।—व्यक्तिगत लोभ का स्थान वर्ग-स्वार्थ ने अथवा पार्टी-स्वार्थ ने ले लिया तो भी लोभ तो रहा ही। पहले लोभ के कारण व्यक्ति भूखा था फिर लोभ के कारण ग्रुप भूखा रहेगा, समाज भूखा

रहेगा, देश भूखा रहेगा। गांधी कहता है—मजबूत इमारत बनानी है, उसे कई मंज़िलों की ऊंचाई तक ले जाना है तो बुनियाद खूब मजबूत रखो क्योंकि कमज़ोर बुनियाद किसी भी समय सारी मेहनत को बेकार कर सकती है।—वह बात अलग है कि आज उसी के अनुयायी उस महात्मा की बात भूल, ताश के पत्तों का महल खड़ा कर रहे हैं। क्योंकि मैंने हर स्थान से सामर्थ्यानुसार सत्य को उठा लिया है अतः मैं कहता हूं कि वर्ग-संघर्ष करना है तो करो लेकिन लोभरहित हो कर करो। गांधी ने एक बात बड़ी मार्के की कही है—लोभ ही हिंसा का मूल कारण है।—मैं कहता हूं कि तुम्हारे कहे अनुसार हथियारों की झंकार से और बमों की गड़गड़ाहट से, माना कि हर जगह लाल झण्डा फहरा गया फिर क्या ये लाल झण्डे आपस में नहीं लड़ेंगे? हंसिया हथौड़े वाला तारों वाले से लड़ेगा, तारों वाला हल कुदाल वाले से लड़ेगा। सोच लो, अगर अपनी क्लास स्ट्रगल के बाद इस बात की गारण्टी दो कि इन्सान लालची नहीं रहेगा, बर्बर नहीं रहेगा तो हम भी तुम्हारे साथ चल निकलने को तैयार हैं। नरेन, हथियार तो बर्बरता के समर्थक हैं, इनके उठाने से तो बर्बरता अधिक फैलेगी। जिस सत्य को कहने वालों से क्रुद्ध होकर हमने उन्हें विष दिए, सूलियों पर लटकाया, गोलियों से जिनके सीने छलनी किये अब उन्हीं की बात हम अपने ही बनाये हथियारों से डर कर मान रहे हैं या नहीं? मैं कहता हूं, अब क्यों इन ऐटम और हाइड्रोजन बमों को समुन्दरों में फेंकने की बात करते हो? तुम तो हिंसा के पुजारी हो न? खूब पटाख़े और आतिशबाज़ियां चलाओ, खूब बरातें निकालो, खूब धूम धाम से जशन मनाओ। नरेन! तुम हथियार उठाने की बात कहते हो, मैं कहता हूं अपने हाथों की तरफ तो देखो? दूसरों को ज़हर पिला कर, सूलियों पर लटका कर, गोलियों से भून कर ये हाथ अपने गुनाहों के डर से कांप रहे हैं, इनमें हथियार कहां उठ सकेंगे और अबकी

उठेंगे भी तो याद रखना कि इस बार इन्सान और किसी को गोलियों से नहीं भूनेगा, अपनी बन्दूक का कुन्दा अपने सिर में मारेगा, अपने पिस्तौलों से अपनी आत्महत्या करेगा, अपने बमों से अपनी सृष्टि को विधवा बनायेगा !"

नरेन की हंसी कहीं खो गई थी। अजीब आवाज़ में बोला, "कामरेड, यू आर टर्न्ड इन ए मैड एण्ड आई थिंक आई विल ऑलसो मीट द सेम फेट इफ वी कन्टिन्यू द डिसकशन सो लैट अस स्टाप इट एण्ड टॉक ऑन ए लाइट सब्जैक्ट।" मैंने कहा, "नरेन, सचमुच मैं पागल हो गया हूं क्योंकि दूर दूर तक मुझे अंधेरों के सिवाय कुछ भी दिखाई नहीं देता। ले दे कर सिर्फ तुम लोगों पर उम्मीद थी अब वह भी मिटती जा रही है। हिंसा, रक्तपात, लूट, कत्ल, बलात्कार और अन्याय में से तुम प्रेम, मुहब्बत, त्याग, भाईचारा और इन्सानियत ढूंढने चले हो ! यह सर्वथा असम्भव है, बिल्कुल नामुमकिन है। मानता हूं तुम बहुत फराख़दिल हो, बहुत समझदार हो, मज़हबी जनूनियों की तरह तंगदिल नहीं हो, सम्प्रदायवाद के विष से तुम्हें घृणा है परन्तु तुम्हारे हथियारबन्द इन्किलाब में भी तो वही कुछ होगा जो इन मज़हब के जनून में अंधों ने देश का बँटवारा करते समय किया था ? उस कत्ल ग़ारत में मेरी नसीम आग की लपटों में फेंक दी गई थी, इस बार तुम इस सन्ध्या को बेइज़्ज़त करोगे या इसे किसी बम के धड़ाके से उड़े मकान के मलबे के नीचे दबा देख कर कहकहे लगाओगे। नरेन ! जानते हो जब नसीमें बाज़ारों में नंगी करके जलूसों की शक्ल में निकाली जाती हैं, सन्ध्याएं इन्किलाब के नाम पर बमों की आग में भून दी जाती हैं तो क्या होता है ? तब मुहब्बत की घनी वादियों में रात को सियार और कुत्ते, इन्सानियत की लाश खाया करते हैं, तरक्की के खण्डहरों पर उल्लू बोला करते हैं और बरबादी की चुड़ैलें बाल खोल कर, सभ्यता और संस्कृति का

खून पी पी कर नाचा करती हैं ! मैं यह खौफनाक नज़ारा देख चुका हूं, तभी पागल हो गया हूं, यही चाहता हूं कि मेरे पागलपन से ही तुम कुछ सीख सको । सचमुच इस डॉक्टर सन्ध्या के चक्कर में ही मैं फंस गया हूं तभी तुम्हारे इन्किलाब से मुझे डर लगने लगा है ।' पहले वे निर्दोष नर्सें जली थीं जो एक मज़हब का चीथड़ा उतार कर दूसरे मज़हब का चीथड़ा नहीं पहनना चाहती थीं, इस बार वे सन्ध्याएं इन्किलाब की आग में जलेंगी जो बीमारों को सेहत दे सकती हैं, किसी मौत के मुह में फंसी औरत को मौत के मुंह से निकाल उसके पति को सौंप सकती हैं । इन मौत से बचाने वाली सन्ध्याओं को तुम मौत के घाट उतारोगे तो इन्सानी तरक्की के दिल की धड़कन रुक नहीं जायेगी क्या ? इन्किलाब लाना ही है तो खुद मर कर लाओ, दूसरों को मार कर न लाओ । दूसरों को मार कर इन्किलाब नहीं आते इन्किलाब के छलावे आया करते हैं, एक बड़ी जंग के बाद, उससे कहीं बड़ी जंग के बादल विश्व पर मंडराया करते हैं ।"

नरेन बोला नहीं था, चुपचाप उठ कर चला गया था । जाते समय उसके चेहरे पर अजीब मुर्दनी सी छा गई थी मानों उसने अपने दोस्त की लाश किस बहुत बड़े मलबे के नीचे दबती देख ली हो ।

नरेन का इन्किलाब जब आएगा तब आएगा लेकिन सन्ध्या बेचारी तो इस भारी मलबे के नीचे दबने से फिर भी न बच सकी ! अपने लोभ, दम्भ, वर्ग अभिमान, अहंकार, झूठे प्रदर्शन के ढेर के नीचे ही दब गई ! और मैंने भी उसे बुरी तरह दबते देख कर, उसकी बेबसी पर कहकहे लगाने के सिवाय कुछ भी तो नहीं किया ? जब उसे किसी के सहारे की ज़रूरत थी, मैं उसे ठोकर लगा कर तड़पते देखता रहा । जब वह चीख रही थी तब मैं अपने आदर्शों की बांसुरी बजाने में लीन रहा । जब वह सिसकी तो मेरी अहमन्यता मुस्करा दी । नरेन

तो हिंसा की बात कहता ही है, मैंने तो इस सन्ध्या बेचारी पर अत्याचार कर कर के नादिर और चंगेज़ को भी मात कर दिया ! माना कि, सन्ध्या में क्रोध था, विक्षिप्तता थी, चिड़चिड़ापन था, नीरसता थी, उदासीनता थी, खुरदरापन था, कर्कशता थी, लेकिन भारी इमारत के शहतीरों और ईंटों के नीचे दबा व्यक्ति इससे अधिक की सामर्थ्य ही कहां रखता था ? शायद मेरे प्रयत्नों से यही मैला और बदसूरत चेहरा कुछ निखर उठता, संवर जाता लेकिन मुझे तो अपने महान आदर्शों का प्रदर्शन करने से ही फुरसत नहीं थी। दुःख से कराहते व्यक्ति को सान्त्वना के दो बोल कहने की अपेक्षा, उसे थपथपाने की अपेक्षा, मुझे उसके पास खड़े हो कर लैक्चरबाज़ी करने की धुन समाई थी ! महान प्रगतिवादी और सुधारवादी के यही तो लक्षण थे ?

नसीम के भी व्यर्थ ही राग अलापता रहता हूं। अच्छा हुआ आग में जल मरी। अगर जीवित रहती तो सन्ध्या का सा सुख ही तो उसे मिलता ? बेचारी मेरे आदर्शों की भारी भरकम चट्टानों के नीचे दब कर मर जाती ! नसीम ने मेरे हाथ को अपने दोनों हाथों में भींचते हुए एक दिन कहा था, "विदेशियों की ग़ुलामी की ज़ंजीरें हम तोड़ फेंकें, इक्तिसादी तौर पर आज़ाद हो जाएं, ये मज़हब की झूठी दीवारें न रहें, फिर हमें भला कौन अलग कर सकता है ?" मैंने उस की आंखों में झांकते हुए कहा था, "और हम कितने खुश किस्मत हैं कि इसी सपने को पूरा करने में लगे हुए हैं। इस दौर के लोगों ने कितना सुनहला सपना देखा है ? आज तक लोगों ने ऐसे सपने कहां देखे थे ?"

नसीम आज होती तो मेरी आंखों में अजीब ग़म में डूबी आंखों से झांकती हुई कहती, "ये हमें क्या हो गया है नीरज ? क्या इन्हीं सपनों के सहारे मैं यहां तक खिंची चली आई थी ? ये अपने सपनों पर ग्रहन क्यों लग गया है ?"

लेकिन नसीम होती तो क्या मैं ऐसा अभिग्रसित बन पाता ? वह तो ऐसी थी कि कांटों को छू दे तो फूल बन कर मुस्करा उठें।

एक दिन दफ्तर से जल्दी लौट आया। देखता क्या हूं कि नसीम ने सारी किताबें उलट पलट कर छोड़ी हैं। बाल बिखरे हुए, दुपट्टा लापरवाही से ज़मीन पर आराम फरमाता हुआ। मुझे उमीद भी नहीं थी कि नसीम मेरी ग़ैर हाज़री में भी मेरे कमरे में यूं धमा चौकड़ी मचा सकती है। मैंने उसके बाल खेंचते हुए कहा, "ताला कैसे खोला है जनाब ने ?" चीखती हुई बोली, "पहले बाल तो छोड़ो !"

मैंने बाल छोड़े तो फर्श पर पड़ी तार दिखाती हुई बोली, "मास्टर-की दिखाई नहीं दे रही है हुजूर को ?" मैंने पूछा, "क्या कर रही थी यहां ?" हंसती हुई बोली, "तुम्हारी तलाशी ले रही थी कि कहीं तुम्हें और कोई लड़की लव लेटर्ज़ तो नहीं लिखती ? भई, तुम जैसे बाबुओं का क्या भरोसा ? कहीं ज़रा सी खूबसूरती देखी और दिल पर हाथ रख कर गा उठे—आहें न भरीं शिकवे न किए—।" मैंने उसकी पीठ पर मुक्का लगाते हुए कहा, "किसी हसीना के खतूत मिले या नहीं ?" खिलखिलाती हुई बोली, "कभी अपनी सूरत भी देखी है आइने में ? हसीना, और तुम्हें खत लिखेगी ? आपको ही तो देख कर किसी शायर ने कहा होगा—पहलुए हूर में लंगूर खुदा की कुदरत ! मैं कहती हूं क्या कहने हैं जनाब के ? किसी फिल्म कम्पनी में जाएं तो डायरैक्टर बेचारा कहे—हुजूर मुझे बहुत देर से एक हीरो की तलाश थी। अल्ला-ताला के फ़ज़ल से आज आप दिखाई दिए हैं। कहां थे आज तक ?" मैंने कहा, "क्या किताबों का हुलिया बिगाड़ कर रख दिया है ? न जाने तुम्हारा बचपना कब तक बना रहेगा ?" कहते कहते मैं चारपाई पर बैठ गया। गले में बाहें डालती हुई बोली, "अगर तुम्हारा साथ बना रहा तो रोज़े महशर

तक।" मैंने नसीम को अपने सीने में समेट लिया। हंसती हुई बोली, "छोड़िए भी ! कोई बदकिस्मत एक बार आपके चंगुल में फंस जाए सही, ऐसा उलझाते हैं कि बेचारा ज़िन्दगी भर राह भूला रहता है।" मैंने उसके कान खींचते हुए कहा—"राह खुद भूलती हो और झूठी तोहमत दूसरों पर ?" रूठने का नाटक करती हुई बोली, "जाइये, हम नहीं बोलेंगे आप से ! दूसरे लोगों से तो पर्दा करना चाहिए न ?" मैंने कहा, "बाल की खाल उतारना तो कोई तुमसे सीखे ?" कान सहलाती हुई बोली, "और चमड़ी उतारना कोई तुमसे। मैं ही हूं जो आपके इस क़दर ज़ुल्मो सितम बर्दाश्त कर लेती हूं। बीवी आएगी तो आपके उलटे कान पकड़वाया करेगी।" मैंने कहा, "गालियां निकालने पर उतर आई हो ?" बोली, "तुम्हें क्या ? और किसी को नहीं अपनेआप को निकाल रही हूं।" मैंने कहा, "और किसी को भी तो लग सकती हैं ?" बोली, "और किसी को कैसे लग सकती हैं ?" मैंने उसकी पीठ पर मुक्का लगाते हुए कहा, "ऐसे"। कहने लगी, "तुम मारने पर ही उतर आए हो तो हम चले जाते हैं।" मैंने कहा, "आने को किसने कहा था ?" हंसती हुई बोली, "हुक्म तो ऐसे चला रहे हो तो जैसे निकाह पढ़ के लाए हो ?" मैंने कहा, "भई, अपनी ओर से तो निकाह उसी दिन पढ़ा जा चुका जिस दिन तुम गा रही थीं—'इश्क से तबीयत ने ज़ीस्त का मज़ा पाया—दर्द की दवा पाई, दर्दे लादवा पाया।" बोली, "अब बताइये, इसी को कहते हैं न होश गुम होना ? 'दीवाने ग़ालिब' ढूंढने आई थी। सोचा शायद ग़लती से किताब यहीं रह गई हो। नहीं मिली तो आपकी किताबों पर ग़ुस्सा उतारना शुरू कर दिया ! अच्छा चलती हूं, वर्ना अम्मी जान जाते ही दर्दे लादवा का इलाज शुरू कर देंगी।" जाने लगी तो मैंने कहा, "सुनो तो ?" आंखों में फूल बिखेरती हुई बोली, "क्या ?" मैंने कहा, "इधर कांटों में उलझने क्यों चली आया करती

हो ? अंजाम जानती तो हो ? इस फिज़ूल के भटकने से फायदा ?" बोली, "कोई दिन गर ज़िन्दगानी और है—अपने जी में हमने ठानी और है।" मैंने कहा, "किसी दिन कांटों पर चलते चलते, तलवे लहुलोहान हो गए तो हमसे न कहना ?" बोली, "उसी दिन का तो इंतज़ार कर रही हूं और वह है कि आगे ही आगे भागता जा रहा है !"

कांटों को फूल बनाने वाली नसीम आग में जल मरी तभी तो होशोहवास गंवा बैठा हूं। सन्ध्या बन कर मिली भी तो अपनी बदहवासी में डूबती को और डुबो बैठा ! वाह रे नीरज ! खूब ठाठ से ज़िन्दगी जी ली, अब रह ही कितने दिन गए हैं ? 'होशो हवासो तावो तवां दाग़ जा चुके—अब हम भी जाने वाले हैं सामान तो गया।'

मैं खुद सामर्थ्यशाली होता तभी तो सन्ध्या को इन भारी भरकम चट्टानों के नीचे से निकालता ! बेरहमों ने मेरी सामर्थ्य को तो आग की लपटों में जला डाला ! ऐसा सामर्थ्यहीन मैं, मलबे के नीचे दबी, चीख़ती चिल्लाती सन्ध्या को छटपटाते, तड़पते, कराहते, दम तोड़ते देखता रहा। 'रही दोनों तरफ ये बेबसी—न वो आ सके, न मैं जा सका !' बस, सन्ध्या की दयनीय दशा को देख देख आंसू बहाने के सिवाय कुछ भी तो न कर सका ! आवाज़ तक भी तो गले से न निकल सकी। शायद मेरी चीखोपुकार सुनकर ही कोई उसकी मदद कर सकता !

यह कोहेनूर सा चमकदार हीरा जिसे किसी शहन्शाह के ताज की ज़ीनत बनना था, वर्ग अभिमान, स्वार्थ, लोभ, अहंकार और दम्भ की ठोकरों से चूर चूर हो कर रह गया ! यह मुहब्बत से सराबोर दिल जिसे इश्क की सूरत निखारनी थी, प्रेम के अमर साहित्य में नये पृष्ठ जोड़ने थे, अभिजात्य वर्ग द्वारा बपौती में मिली शंका, कटुता,

अविश्वास तथा अनिश्चितता के क्रूर हाथों द्वारा टुकड़े टुकड़े करके फेंक दिया गया ! यह इल्म और हुनर से रोशन दिमाग़, योग्यता और प्रतिभा से दिपदिपाता मस्तिष्क जिसने सभ्यता और संस्कृति, तहज़ीब और तमद्दुन के विकास में योगदान देना था, उच्च-मध्य वर्ग की धरोहर में मिली विक्षिप्तता, कुंठा, घुटन और निराशा के भार के नीचे चकनाचूर हो गया ! इधर मैं अपनी बदहवासी में, अपने आदर्शों और अहमन्यता की चकाचौंध में, अपने वर्ग द्वारा प्राप्त अनगिनत हीन मनोभावनाओं के अन्धेरों में, अपने टूटेपन की रिक्तताओं में लगातार भटकता रहा। कहीं दूर, बहुत दूर से, संध्या के चीखने चिल्लाने की करुण क्रन्दन और आर्तनाद की आवाजें आती रहीं और इधर मैं अपने मन के सन्तप्त मरुस्थलों में भटकता रहा। बस, इसी भूल भुलैया में, मरीचिका में शीशे टूट गए, साग़र फूट गए, हीरे चूर चूर हो गए ! ये टूटे हुए शीशे, चकनाचूर हीरे चुभने के सिवाय कर भी क्या सकते थे ? चुभते रहे, और शायद आखिरी घड़ी तक चुभते रहेंगे ! 'फ़ैज़' ने कहा तो है 'ये साग़रो-शीशे लालो-गुहर, सालम हों तो कीमत पाते हैं—यूं टुकड़े टुकड़े हों तो फ़क़त, चुभते हैं—लहू रुलवाते हैं।"

दोष इसमें न सन्ध्या का है, न मेरा है ! चुभने और लहू रुलवाने का अक्षय वरदान तो हमें, इन द्वेष, हिंसा, स्वार्थ, वैमनस्य, सयासत, सम्प्रदाय, गुटबन्दी, पार्टीबाज़ी, छीना झपटी और लूट खसूट के देवी देवताओं ने दिया है। जब तक ये देवी देवता मौजूद हैं अक्षय वरदानों में कमी आ ही कैसे सकती है ? ये वरदान तो निरन्तर फलते फूलते रहेंगे हम अकिंचनों के ऊपर सुख वृष्टि करते रहेंगे, कृतकृत्य होते रहेंगे। सन्ध्याओं और नीरजों के सौभाग्य हैं कि वे इन देवी देवताओं के देश में जनमे पले हैं ! ये देवी देवता इतने कृपालु हैं, इतने दयालु हैं कि हमारे अनकहे, अनचाहे हमारे ऊपर सुखों की अनन्त वृष्टि करते रहते हैं।

उस दिन किरपालसिंह कहने लगा, "नीरज साहिब, बहुत दिनों

से बात मेरे मन में उठ रही है इसलिए आज कहने से रुकूंगा नहीं। आखिर कब तक यूं ही रहियेगा ? इन यूनियनों के, लिटरेचर और सयासत के काम तो चलते रहे हैं चलते रहेंगे। आप अपनी सोने जैसी ज़िन्दगी को क्यों मिट्टी में मिला रहे हैं ? मेरा कहा मानिये तो अब शादी कर ही डालिये। रिश्ता ढूंढना मेरा जिम्मा रहा। जैसी भी लड़की आप कहें देखी खोजी जाए ?" मैंने कहा, "किरपाल, फिजूल की बातों में वक्त ज़ाया न किया करो। देखो, वह मिस्टर चोपड़ा के केस की फाइल है न, उसे तैयार कर लो। बेचारे की दो साल से इन्क्रीमैंट रुकी हुई है।" किरपाल बोला, "फाइल को मारिये गोली, इस वक्त आप मेरी बात टालिये नहीं। शादी के मसले पर बात चल रही है, आप इशु साइडट्रैक कर रहे हैं।" मैंने कहा, "अब क्या तुम्हें मेरी शादी की उम्र दिखाई देती है ? कुछ अक्ल की बात किया करो। जब देखो तुम्हारी अक्ल घास चरने गई होती है ?" बोला, "फिलहाल तो खैर उम्र है। हां, अलबत्ता आठ दस साल और यूं ही टालमटोल में बीत गए तो फिर वाकई उम्र निकल जाएगी।" मैंने कहा, "किरपाल अपना दिल बूढ़ा हुए तो मुद्दत हो गई। जिस बात की दिल से अहमीयत ही निकल गई उससे क्या फायदा ?" किरपाल बेचारा फाइल में उलझता हुआ बोला, "आप हर लिहाज़ से सीनियर हैं इसलिए चुप रह जाना पड़ता है, वर्ना आपकी यह सनक बिल्कुल बेबुनियाद है, ज़िद के सिवाय कुछ भी नहीं है। मुल्कों के तमाम बड़े बड़े रहनुमाओं ने भी तो आखिर कुछ सोच समझ कर ही शादियां की होंगी, या फिर सन्यास ग्रहण कर लीजिये ताकि हम लोग इस मसले को लेकर ज़ेहनी परेशानी का शिकार न हों। कोई साथी आपके मुंह पर कहने की जुर्रत नहीं करता, आपकी पीठ पीछे ये वर्मा, दत्ता, शुक्ला और गुप्ता सब मेरी जान खाते रहते हैं। कहिये तो एक दिन एजन्डा घुमा कर इसी

इशु पर मीटिंग बुला ली जाय।" मुझे किसी दूसरी फाइल में उलझा देख, कुछ देर बड़बड़ा कर खामोश हो गया।

मैं फाइल के पन्ने पलटता रहा, कुछ भी देख न सका। दिमाग़ी कशमकश चलती रही। नसीम और सन्ध्या को लेकर दिमाग़ में अन-गिनत तस्वीरें बनती रहीं, मिटती रहीं, मिट मिट कर फिर बनती रहीं। मैं झुंझला उठा, "काम के वक्त फिज़ूल की बातें न किया करो। कल इन दोनों केसिज़ की तारीख है और तुम्हें ब्याह की शहनाइयां सूझ रही हैं। रज्जन बेचारा डिसमिस हो गया तो जीते जी उसके घर की खानाबरबादी हो जाएगी और तुम इधर शादी को रो रहे हो।"

झुंझलाहट के बावजूद आग की लपटों में जलती नसीम और रेगिस्तानों में भटकती सन्ध्या का चेहरा दिखाई देता रहा, फिर दोनों चेहरे मिल कर एक हो गए। अचानक दोनों चेहरों की जगह सूनी कांटों भरी पगडण्डी पर चलती रेणुका दिमाग़ में घूम गई। चलती चलती गिर पड़ती, गिर कर संभलती, सभल कर फिर चलने लगती। मैंने फाइल बन्द कर दी। यूनियन ऑफिस से उठ कर चला आया। किरपाल को कह आया कि फाइल लिए जा रहा हूं। घर पर ही बैठ कर केस तैयार करूंगा। किरपाल यूं देखने लगा जैसे उसने कोई बहुत बड़ा गुनाह कर दिया हो।

घर आकर सोचता रहा—किरपाल सच ही कहता है। ऐसे मन से तो यह यूनियन का काम भी नहीं चलेगा। नौकरी भी आखिर किस लिए कर रहा हूं? क्यों न बाकी दिन सन्यासी बन कर ही काट दूं? खाना खाया और किसी द्रख्त के नीचे सो रहे। सुबह फिर देने वाला देगा। इतनी लम्बी उम्र देकर जो भेजा है तो खुद ही खाने कपड़े का भी प्रबन्ध करेगा। 'चाह गई चिन्ता मिटी मनवा बेपरवाह—जा को कछु न चाहिये सो जग शाहन्शाह।' इस यूनियन के काम से फायदा?

भूख क्या मिटेगी ? जिसे सौ मिलता है वह डेढ़ सौ चाहता है, जिसे डेढ़ सौ मिलता है वह पांच सौ और पांच सौ वाला डेढ़ हज़ार बमय बंगला मोटरकार ! अगर पांच सौ वाले को कहो कि दो सौ, सौ वाले को दे दे फिर दोनों इकट्ठे हो कर दुश्मन से जूझ लेना तो अगले दिन यूनियन से बाहर ! यूनियन क्या हुई, टकसाल हो गई । कहो, "सौ रुपये वाले को तुम्हारे जितनी ज़रूरत नहीं है क्या ?" जवाब मिलेगा, "आप जानिये नीरज साहिब ! इस ज़माने में लिविंग स्टैंण्डर्ड भी तो मेन्टेन करना पड़ता है ?" लाठी गोली के समय लिविंग स्टैण्डर्ड वाला गायब, सौ-रुपये वाला झण्डा लिए आगे आगे । सौ रुपये वाला, दफ्तर का भी नौकर और बाहर का भी नौकर । सरमायेदार की एक्सप्लायटेशन को रोते हैं, यहां तो वर्कर, वर्कर को एक्सप्लायट कर रहा है । उस दिन गुप्ता से कहा, "रञ्जन बेचारा सस्पैंड है, बेचारे के लिए कुछ चन्दा इकट्ठा करना है, दो रुपए निकालो !" साफ दामन बचा गया, "नीरज साहिब, आज तो शेव तक के लिए पैसे नहीं हैं ।" दत्ता अगले दिन बता रहा था, "गुप्ता साहिब फैमिली के साथ गैलरी में बैठे सिनेमा देख रहे थे ।" सिनेमा को पैसे हैं, रञ्जन के लिए पैसे नहीं हैं क्योंकि बेचारे ने इन लोगों के बोनस के लिए हड़ताल की, जेल गया, लाठियां खाईं । समझ में नहीं आता कि यही गुप्ता साहिब कल को सोशलिज़्म और कम्यूनिज़्म की गाड़ी खेंचेंगे ? अजीब गोरखधन्धा है, कुछ समझ में नहीं आता कि ये तबाही के से आसार क्यों बनते जा रहे हैं ? सिगरेट गोल्ड फ्लेक का पिएंगे और यूनियन के चन्दे के नाम पर ठन ठन गोपाल । नये मैनेजर ने नाक में दम किया, गुप्ता साहिब को चार्जशीट मिला तो किरपाल की सिफारिश ले आए, "नीरज साहिब, गुप्ता साहिब का पिछले एक साल का चन्दा ले लीजिये, बमय एडमिशन फी । नये सिरे से मैम्बर इन रोल कर लीजिये ।" किरपाल इसे कहेगा, "नाऊ कामरेड गुप्ता इज़ रियलाइज़िंग द इम्पार्टैन्स ऑव

द यूनिटी। ही इज़ बिकमिंग क्लास कॉशस। रिवोल्यूशन इज़ ऐप्रोचिंग फास्ट।" क्या इन्हीं स्वार्थियों के लिए ज़िन्दगी के चार दिन तबाह कर रहा हूं ? अगर यही क्लास कांशेसनैस डिवैलप होती रही तो इन्सानी कीमतों का, इन्सानी तरक्की का खुदा हाफिज़ ! मार्क्स कहता है—अगर आर्थिक स्वार्थ एक हैं तो लोगों को संगठित होते देर नहीं लगेगी। —अगर इसी का नाम संगठन है तो यही एक दिन आपसी सिर फुटौवल का कारण बनेगा।

रूस में क्या हुआ ? स्टालिन ने कहा, ट्राटस्की गद्दार है, मारो गोली। खुश्चेव ने कहा, बेरिया देशद्रोही है निकालो राह का कांटा। अपने देश में वही बात ज़रा सफाई से होती है। एक लीडर दूसरे लीडर से दिन में हाथ मिलाता है, रात को उसे रास्ते से हटाने की सोचता है। अमेरिका तो खैर है ही हिंसा का साक्षात् अवतार। कहीं कोरिया में मारधाड़, कहीं कांगो का सत्यानाश। मैं कहता हूं सब प्रलय के लच्छन हैं !

ऐसे में चली है यह सन्ध्या अन्धेरे में दीपक बन कर जलने ! इसे भी एक दिन कैद करके कहा जाएगा, "बड़ी डॉक्टर बनी फिरती हो ! ऐसी ऐसी दवाइयां इजाद करो कि बीमारियां बढ़ें, फसलें ज़हरीली हो जाएं, लोग धड़ाधड़ मरने लगें, अमन कायम हो जाए। नहीं करतीं ऐसे महान आविष्कार तो मरो इसी काल कोठरी में।"

दीपक जलाने चली है ? पागल कहीं की ! मैं कहता हूं तुम किसे दिये की रोशनी दिखाना चाहती हो ? लोगों को अन्धेरा पसन्द है, उजाड़ पसन्द है, तबाही पसन्द है फिर दिया जलाने से फायदा ? अच्छी भली कमा खा रही थी, व्यर्थ का दर्शन छांट कर बेचारी का रहा सहा सहारा भी गंवा दिया ? इस दिये को संभाल कर रख लो। जब बग़ैर किसी कफ़न के इंसानियत की लाश किसी गढ़े में दफना

दी जाए तब उसके मज़ार पर यह दीपक जला देना। अभी किसी को दिये की रोशनी नहीं चाहिये क्योंकि सब अक्लमन्दों को लोभ और सत्ता की तलाश है और ये चीजें अन्धेरों में आसानी से जुटाई जा सकती हैं!

लेकिन 'फ़ैज़' ने तो इससे उलट बात कही है, "कब लूट झपट से हस्ती की दूकानें खाली होती हैं—यां परबत परबत हीरे हैं, यां सागर सागर मोती हैं।" फ़ैज़ जैसा शायर, जिसने खूने दिल में उंगलियां डुबो ली हैं, ग़लत नहीं कह सकता, ग़लत नहीं सोच सकता? फ़ैज़ में और प्रोफ़ैसर ज्ञानसिंह में फ़र्क है। फ़ैज़ प्रोफ़ैसर ज्ञानसिंह की तरह साहित्यिक रचनाओं की मरम्मत नहीं करता, अपने दिल के खून से रचनाओं को निखारता संवारता है, उजली बनाता है। यह मुझे क्या हो गया है, मैं अपने जज़बात की रौ में बह कर इतने बड़े शायर की बात को झुठलाने चला हूं? सचमुच 'यां परबत परबत हीरे हैं, यां सागर सागर मोती हैं।' फिर ग़म क्यों हो? लूटने वाले लूटते लूटते भले ही थक जाएं, हम लुटाते लुटाते नहीं थकेंगे। उस दिन सालम हीरे मोती के दर्शन हुए तो थे लेकिन उनकी बात सोच ही कहां पाया?

उस दिन घण्टे भर के लिए मानों स्वर्ग आंखों के आगे घूम गया। जन नाट्य संघ वाले तराना गाया करते हैं 'अगर कहीं है स्वर्ग तो उतार ला ज़मीन पर—तू ज़िन्दा है तो ज़िन्दगी की जीत में यकीन कर।' सचमुच स्वर्ग, ज़मीन पर उतर आया था! वन्दना और जसवन्त को देख कर यूं लगा मानों दोनों ने एक दूसरे की ज़िन्दगी के ज़हर को पी कर ख़तम कर दिया हो। दोनों प्रेम का अमृत पी कर अमर हो गये हों। ऐसा विश्वास, ऐसी निष्ठा, एक दूसरे के लिए ऐसी चाह, ऐसा बलिदान कहां देखने में आता है? लगा किसी अजब देश में आ निकला हूं।

मैंने हंसी हंसी में जसवन्त से कहा, "जसवन्त बच के रहना ? लड़की तुमने बहुत ज़बर्दस्त चुनी है। जानते भी हो, कातिलों के खानदान की है, कहीं जान से हाथ न धोने पड़ें ?" जसवन्त मुहब्बत भरी नज़रों से वन्दना की तरफ देखता हुआ बोला, "नीरज साहिब, हम तो इनकी नज़र के पहले वार से ही कत्ल हो गये थे, अब बचा ही क्या है ? अब ले दे के बेचारी अकेली ही रह गई हैं और उम्मीद है कि इतनी बेवकूफ तो नहीं होंगी कि खुदकशी की बात सोचें।" वन्दना शरमाती हुई बोली, "मैं तो कातिलों के खानदान की लड़की ही हूं लेकिन ये तो खुद कातिल हैं। इन्होंने खत की शक्ल में जो पहला ऐटम बम का गोला फेंका था, अपनी दुनिया तो उसी से मिट गई थी। कहो तो नीरज साहिब के सामने लिखित प्रमाण पेश कर दूं ?" जसवन्त बोला, "बताइये जनाब, ऐसी बीवी के साथ कहीं गुज़ारा हो सकता है क्या, जो खाविन्द के कान काटती फिरे ?" वन्दना बोली, "आप जैसे शौहर को तो दूर से ही सलाम भली।" बोलते बोलते उसके गालों पर गुलाबी रंगत खिल उठी।

मैंने पूछा, "सुनाओ जसवन्त कैसी गुज़र रही है ?" हंसता हुआ बोला, "बहुत दुष्ट बीवी मिली है। दिन भर मैं फैक्टरी में लोहा कूटता हूं और घर आने पर ये मेरा दिमाग़ कूटती है।" वन्दना बोली, "दिमाग़ कूटती हूं तभी तो सैक्रेटरी बने हो ! जिस दिमाग़ को सही सांचे में ढालना हो उसे खूब ठोकना पीटना पड़ता है। अच्छा, आप बताइये नीरज साहिब, मेरी बात ग़लत है क्या ?" वन्दना के प्रति असीम स्नेह उमड़ आया। मैंने कहा, "ठोकने पीटने में खुदगर्ज़ी की वजह से कुछ कमी करती हो तभी शायद जसवन्त कुछ कच्चा रह गया है।" जसवन्त हाथ जोड़ता हुआ बोला, "मुझे जीने दीजिये साहिब, क्यों मेरी जान के पीछे पड़े हैं आप भी ?" मैंने कहा, "अभी कह रहे थे

कि क़त्ल हो चुके हो ?" मुहब्बत में डूबी नज़रों से वन्दना की ओर देखता हुआ बोला, "कत्ल करके जिलाना भी तो इन्हें आता है ?" मैंने कहा, "जसवन्त, अपनी खुशियों को मुझ से बचा के रखो भई, कहीं नज़र न लग जाये ?" वन्दना जसवन्त की तरफ देखती हुई बोली, "आप अपनी नज़र लगाएं इतने फराखदिल आप हैं ही कहां ?" पुनः बोली, "आपकी नज़र किसी को लग जाये तो पारस न बन जाए ? तभी तो इन्हें, जो कि लोहा पीटते पीटते खुद लोहा बन गए हैं, आप के पास उठा लाई हूं।" मैंने कहा, "हम तो खुद जंगाल लगा लोहा हैं जसवन्त, पारस बनाने की हिम्मत हम में कहां ? "वन्दना बोली, "वो कौनसा शेर है 'मजाज़' का — 'सब के तो गिरेबां सी डाले — अपना ही गिरेबां भूल गये।' मैंने कहा, "शेर, बहुत खूब है वन्दना लेकिन मेरे जैसों के लिये नहीं है। हम तो ऐसे हैं कि 'मजाज़' के लफ्ज़ों में ही कहूं तो यही कहते बनता है, 'हमें नाकाम रहना है — हमें नाकाम रहने दे।' जसवन्त बोला, "कैसी बात करते हैं आप नीरज साहिब ! आपका नाकाम रहना तो उन तमाम कामगारों को चैलेंज है जो कायनात का चेहरा निखारने का दम भरते हैं। हम कम अक्ल ज़रूर हैं लेकिन कम दिले नहीं हैं। हमारी मेहनत पर इस क़दर शक न कीजिये।" फिर वन्दना की ओर देखता हुआ बोला, "और अब तो राहों में शमएं रोशन हो गई हैं, अन्धेरों में इतनी हिम्मत कहां कि हमें भटका सकें ?" मैंने कहा, "वन्दना, भई मेरी अजीब आदत है। ये मीयां बीवी की जोड़ी घर पर आई है और चाय पानी की बात एक-दम से भूला जा रहा हूं ? ठहरो, बातें फिर होंगी पहले मुझे अपनी ड्यूटी सरअंजाम देने दो।" हंसती हुई बोली, "सच जानिये, पेट, गले तक भर गया है। पेट में कुछ भी डालने की रत्ती भर भी तो गुञ्जाइश नहीं है। अगर चूरन हो तो थोड़ा सा ज़रूर दे दीजिये।"

मैंने कहा, "तो यूं कहो कि किसी बड़े घर से दावत उड़ा कर आ रही हो।" शरारत से आंखें नचाती हुई बोली, "आपके घर के सिवाय और कहीं खाने की बात हम लोग सोच ही कैसे सकते हैं?" मैंने कहा, अपना डेरा तो यही है जसवन्त साहिब। एक दिन वन्दना को साथ लेकर आइयेगा, खुद ही बनाइयेगा खुद ही खाइयेगा।" वन्दना, जसवन्तसिंह की ओर देखती हुई बोली, "नीरज साहिब बहुत चालाक हो गये हैं। लोगों को चक्कर में डालने के लिये अपने नकली घर में पड़े रहते हैं। असली घर इनका नहीं है।" फिर बोली, "डॉक्टर साहिब ने इतना खिला दिया है कि पूछिये मत। चीज़ों की फहरिस्त बनाने लगूं तो दिमाग़ चकरा जाये। अच्छा अगली बार दावत आपके रही।" मैंने कहा, "तारीख़ निश्चित करके लिख देना।" हंसती हुई बोली, "फायदा! जानती हूं कि तारीख़ बताने पर भी बाज़ार से सौदा इन्हें लाना पड़ेगा और रसोईघर का चार्ज मुझे सम्भालना पड़ेगा। रही आपकी पसन्द नापसन्द की बात, सो आपके सामने जो भी परोस दिया जाए वही ठीक है। खाना खाते वक्त दिमाग़ आपका कभी खाने में रहा हो तो पसन्द नापसन्द का डर भी हो।" कहते कहते वन्दना की आवाज़ कांप गई। जसवन्त से छुपा न रहा। बोला, "खाना बनाने की शेखी बघारती फिरती हो। अच्छा, इस बार मैं और नीरज साहिब मिल कर खाना बनाएंगे। याद करोगी कि कभी खाना खाया था।" हंसती हुई बोली, "मेरी हज़म करने की ताकत आप जैसी नहीं है, मैं लोहा नहीं कूटती। खाना बनाने से पहले किसी हकीम का इन्तज़ाम कर लीजियेगा।" संजीदगी को हंसी में बदलने देर नहीं लगी। जसवन्त उठता हुआ बोला, "आइरन एण्ड स्टील वर्कज़ यूनियन की सालाना कान्फ्रेंस हो रही है, आपको इनवीटेशन देने आया हूं। ओपन सैशन आप भी ऐड्रस कर रहे हैं, इश्तिहारों में नाम छप चुका है। वारण्ट जब निकल ही चुका है तो

तारीख पर पहुंच ही जाइयेगा। मैंने आपसे पूछ लेना ज़रूरी समझा था लेकिन सब शरारत वन्दना देवी जी की है।" वन्दना मेरी ओर देखती हुई बोली, "भूलिएगा नहीं, ज़रूर आइयेगा। इसी बहाने हम लोगों के घर के भाग जाग सकेंगे।"

जसवन्त और वन्दना के चले जाने के बाद दिमाग़ में जन नाट्य संघ वालों का गीत घूमता रहा, "अगर कहीं है स्वर्ग तो उतार ला ज़मीन पर!" सोचा जब तक ये लोग कसम खाए हैं तब तक परबत और सागरों को कौन नीलाम चढ़ा सकता है? कौन सालम हीरे मोतियों को तोड़ सकेगा? ये हीरे मोती साबित रहे तो ज़मीन पर स्वर्ग आते देर ही कितनी लगेगी? मैं अपने ग़म में डूब कर शायद ज़माने की रफ्तार का साथ नहीं दे पा रहा हूं, पिछड़ता जा रहा हूं, बिसरता जा रहा हूं। कान्फ्रेंस में जाऊंगा तो यह दूरी कुछ कम होगी। मुझसे अच्छी तो वह रेणु है जो रक्तरंजित पगों से कण्टकाकीर्ण पगडण्डियों पर बढ़ी जा रही है, गिर गिर कर संभले जा रही है, संभल संभल कर विघ्न बाधाओं की असामर्थ्य पर मुस्करा रही है।

अभी कुछ दिन पहले ही तो पत्र मिला था। लिखा था, "नीरज भैय्या! मेरा विवाह, शचीन बाबू के साथ हो रहा है। अपने विवाह के साथ 'शुभ' शब्द जोड़ कर, इस महान शब्द की गरिमा को कलंकित करना नहीं चाहती। कुछ लोग होते हैं जिन्हें अप्रिय ही प्रिय होता है, गरल ही अमृत होता है, त्याज्य ही ग्राह्य होता है। शचीन बाबू भी शायद उन्हीं में से हैं। मुझे तो यूं लगता है कि इस पृथ्वी पर कुछ लोग विषपान करने के लिए ही अवतरित होते हैं ताकि धरा असह्य बोझ से डगमगा न जाय। मैंने इनसे कुछ भी नहीं छिपाया है, अपनी कलंक गाथा बग़ैर लुकाये छिपाये कह दी है। यदि फिर भी ये विषपान करने के लिए समुद्यत हैं तो इनके भाग्य! यदि किसी दिन मुझे त्याज्य समझ कर, कलंकिनी कह कर त्याग देंगे तो भी इन

पर नालिश करने नहीं निकलूंगी। इन्हें इस अग्राह्य, अपवित्र, अश्रेष्ठ पर ही मोह हो आया है तो वही भुगतें!

ऐसे अशुभ विवाह पर कौन सगा सम्बन्धी आता? शचीन बाबू की ओर से मिसेज़ कपूर हैं, जिन्होंने शचीन बाबू को बच्चे की तरह पाल पोस कर, पढ़ा लिखा कर, इतिहास का प्रोफैसर बना दिया है। माता पिता, चाचा चाची, स्वजन कुटुम्बी, बन्धु बान्धव, सभी द्वारा मैं परित्यक्ता हूं। आपके लिए भी मैं कलंकिनी, स्नेह पात्र हूं या नहीं, कह नहीं सकती। फिर भी भीतर बैठा कोई कहता है कि तेरे भैय्या तेरे अपने हैं। उसी से प्रेरित या प्रताड़ित हो कर आपसे इस अशुभ विवाह पर पहुंचने का आग्रह कर रही हूं। आप होंगे तो सच कहती हूं, मुझे बन्धु बान्धवों की, स्वजनों और कुटुम्बियों की अनुपस्थिति बिल्कुल नहीं खटकेगी। देखिये, मुझे निराश न कीजिएगा। जानती हूं कि इस अपवित्र आयोजन में सम्मिलित हो कर आप भी कलंकित ही होंगे लेकिन यह भी तो जानती हूं कि कलंक को आप से भय लगता है।" —अन्त में लिखा था—आपकी कलंकिनी बहिन, रेणुका।

रेणुका भी तो टूटा हीरा थी! यह शचीन बाबू कौन हैं जिनमें टूटे हीरे मोतियों को साबित बनाने की अक्षय सामर्थ्य, अतुल शक्ति विराजमान है। इन्हें नहीं चुभते ये टूटे हीरे, मोती? या फिर चुभन ही इनके लिए असीम शक्ति बन जाती है? इस संसार में किसी वस्तु का अन्त नहीं है। अद्भुत है यह संसार! मैं तो नीरज तक ही अन्तिम छोर समझा था, परन्तु यह राह तो नीरज से होती हुई शचीन तक निकल गई है।

हम तो अपने ही ग़म में डूबे रहे। हम, शचीन बाबू की तरह टूटे हुओं को सालम क्या बनाते? हम तो ग़म में पागल होकर साबित और सालिम हीरों को आज तक तोड़ तोड़ कर, चूर चूर करके फेंकते रहे। फिर इस ज़िन्दगी की डोर भी फैल कर न जाने कहां तक चली

गई है ? कहीं भी तो आखिरी सिरा दिखाई नहीं देता ! अपनी हालत देख कर 'हफीज़' का वह शेर अक्सर दिमाग में घूम जाता है, 'मुसीबत और लम्बी ज़िन्दगानी—बुज़ुर्गों की दुआ ने मार डाला—'

जब बुज़ुर्गों की दुआ लग ही गई है, इस लम्बी ज़िन्दगी का सफर काटना ही है तो फिर दिल ही दिल में घुटता क्यों रहता हूं ? सुनसान लमहों में चीख़ता चिल्लाता क्यों हूं ? रेणुका से भी गया बीता हूं क्या ? और दम भरता हूं आदर्शों का, प्रगति का, शान्ति और सन्तोष का। किरपाल से बात करता हूं तो किरपाल कहा करता है, "नीरज साहिब ! हमें भी अपने जैसा पक्का ट्रेड यूनियनिस्ट बना डालिये ताकि ये सुसरी नाउम्मीदी और मुर्दा दिली, ये सुसरे खौफ़ और ग़म हमें देखते ही आंख बचा कर पास से गुज़र जाया करें। न जाने आप कौनसा फौलादी कुश्ता खा कर जवां हुए थे ? सच जानिये साहिब, दस बजे के बाद अपनी आंखों में तो तारे नाचने लगते हैं और एक एक के दो दो दिखाई देने लगते हैं। धन्य हैं आप, बारह बजे देखो तो केस तैयार कर रहे हैं, एक बजे देखो तो पढ़ रहे हैं। मैं कहता हूं उस कुश्ते की एक आध फक्की हमें भी फंकवाइये न ?" और वन्दना 'मजाज़' का शेर मुझ जैसे निकम्मे और खस्ताहाल के लिये पढ़ रही थी 'सब के तो गिरेबां सी डाले, अपना ही गिरेबां भूल गए।' हमें फटे गिरेबां रफू करने कहां आते हैं, हमें तो अच्छे भले गिरेबां चाक करने आते हैं। हम जमीन पर स्वर्ग क्या उतारेंगे, हमें छू कर तो स्वर्ग भी नरक में तब्दील हो जायेगा।

मुझ से तो ये सन्ध्या और रेणुका लाख दर्जे हिम्मती निकलीं। टूट कर भी बनती रहीं, गिर कर भी संभलती रहीं, मर मर कर भी जीती रहीं।

ये किरपाल और दत्ता, शुक्ला और गुप्ता कहीं आदर्श, प्रगति, शान्ति और सन्तोष के पर्दे में लिपटे दर्द, छटपटाहट, पलायन, क्रन्दन,

घुटन को देख पाएं तो दर्द के मारे इनकी चीखें निकल पड़ें, होशो-हवास खो बैठें, पागल हो जाएं। अगर मेरे आदर्श सच्चे होते, मेरी *निष्ठा अटल होती*, मेरा *विश्वास अजेय* होता तो क्या मेरे हाथों ज़माने की सूरत न संवरती ? क्या मेरे हाथों ये सन्ध्या जैसे अनमोल हीरे यूं ही टूट टूट कर तबाह और बर्बाद होते ? मैंने अपनी घुटन और तड़पन, पलायन और क्रन्दन को, शान्ति, प्रगति के आदर्शों के लिबास से सजा संवार कर दुनिया की आंखों में धूल झोंकने के सिवाय सीखा ही क्या है ?

उस दिन किरपाल कह रहा था, "नीरज साहिब, कहानी क्या लिखी है आपने बस दिल निकाल कर रख दिया है। कोई सुसरा पत्थर दिल ही होगा जो इस कहानी को पढ़ कर भी अश्कबार न हो ?"

दिल निकाल कर कहां रखता हूं, दिल तो छुपा छुपा कर रखता हूं ताकि लोग उम्मीदों का दामन भी न छोड़ दें। लोग रचनाओं को पढ़ पढ़ कर वाह वाह करते हैं, खून बहाते दिल को कहां देखते हैं ? अच्छा है, इसी पर्दे को कायम रख कर अगर लोग उम्मीद का दामन थामे रहें तो बुरा क्या है ? अपने खून के आंसू किसी का मन बहला जाएं तो इससे बड़ी खुशकिस्मती और क्या हो सकती है ? अच्छा है, *अपना खून आंसू बन बन कर लोगों का मनोरंजन तो करता है ?*

और एक वह हैं, प्रोफैसर ज्ञानसिंह। पूछ रहे थे, "नावल लिखना आसान होता है या नाटक ? कविता को ठोक पीट दीजिये कहानी बन गई, कहानी को ज़रा फैलाइये नावल बन गया !" मानों कह रहे थे, "रैले साइकल अच्छा होता है या हरक्यूलीज़ ? हिन्द साइकल में अंग्रेज़ी हैंडल और मडगार्ड लगा दीजिये खालिस रैले नज़र आयेगा ! स्टार साइकल पर अमेरिकन काठी फिट कर दीजिये और हरक्यूलीज़ कह कर किसी भी गंवार को थमा दीजिये।" प्रोफैसर साहिब की टाई

पकड़ कर कहना चाहिये था, "साहित्य रचने में और साइकल मरम्मत मार्का प्रोफैसरी करने में अन्तर है। केवल कल्पना को खुले छोड़ कर शायरी नहीं बनती, शायर अपनी नज़्मों को, ग़ज़लों को, अपने जिगर का खून पिलाता है तभी कहता है—"तू खुश है कि तुझ को हासिल हैं, मैं खुश कि मेरे हिस्से में नहीं—वो काम जो आसां होते हैं, वो जल्वे जो अर्ज़ां होते हैं—" कहानीकार खून के आंसू रोता है तभी इन्सान को उन रचनाओं के साफ आइने में अपनी जिंदगी का अक्स नज़र आता है। जब आप क्लास पढ़ाने के बाद रात को आराम से खर्राटे भर रहे होते हैं उस वक्त उपन्यासकार अपने उपन्यास के पात्रों के आंसू अपनी कलम की नोक पर समेटा करता है।" लेकिन आप को क्या? किये जाइये टूटे साइकलों की मरम्मत, बेचे जाइये हिन्द को रैले बना कर और स्टार को हरक्यूलीज़ बना कर? राष्ट्र के माथे से आपने अभाग्य रेखा नहीं मिटानी है क्या? बस लगे रहिये यूं ही दिन रात! राष्ट्र खुद ब खुद एक दिन अपना माथा दीवार से फोड़ लेगा। फिर न माथा रहेगा और न माथे की लकीर! आप मज़े से शतरंज या ताश की बाज़ी लगाइयेगा या इलैक्ट्रिक गिटार की धुन पर नाचियेगा क्योंकि नीरो की बंसरी तो पुरानी पड़ गई है, आपके मॉडरन टेस्ट्स से कहां मेल खायेगी? आप कलाकारों को घड़ते रहिये, फिर चिन्ता किस बात की है?

मैं भी किन व्यर्थ के झंझटों में सिर खपाता रहता हूं? प्रोफैसर ज्ञानसिंह अपना काम अगर किए जा रहे हैं, किए जाएं? मैं उन पर टीका टिप्पणी करने वाला कौन हूं? वे अपना काम किये जाएं, मुझे अपने काम में लगे रहना चाहिये। लोगों को उनके आलीशान महल से अपना डेरा अधिक पसन्द आएगा तो उसी में आ बैठेंगे? हम कौन से पोलीस इन्स्पैक्टर हैं कि हर किसी को छड़ी की नोक से हांकते फिरें? उनका काम उन्हें मुबारिक? अपना काम है घुले

जाना, बहे जाना, राह के कूड़े कर्कट को बहाये जाना और उस समुद्र में मिले जाना, जहां पहुंच कर सब कुछ सागर में मिल कर सागर बन जाता है।

मुझ से अच्छी तो यह सन्ध्या है। सब कुछ सागर की तरह अपने में समेटे गई है। मैं ठहरा बरसाती दरिया, न उमड़ते का पता, न सूखते का पता! नन्हीं सी जान है तो क्या? सीने की आग से रोशन तो है? अपनी वेदना के स्नेह से, जीवन-दीप जला, जग का अन्धकार हरने निकली है। जब तक स्नेह की अन्तिम बूंद रहेगी टिमटिमाती रहेगी और फिर किसी से शिकवा शिकायत का एक भी शब्द कहे बग़ैर चिर निद्रा में लीन हो जाएगी।

अपना नया जीवन शुरु करने से पहले मिलने चली आई। मेरी तरह ढुलमुल यकीन कहां थी? पलक झपकते ही सब पर्दे उतार फेंके। मामूली सी सफेद साड़ी, आभूषण विहीन सज्जा, साधारण से चप्पल। आंखों में जितनी दूर तक झांको असीम विश्वास के सागर लहराते! विस्मय विमूढ़, विस्फारित नेत्रों से उस अनुपम छवि को मन्त्र मुग्ध हो निहारता रहा। सोचता रहा, कहां गया वह अभिजात वर्ग का अभिमान, असत्य का आडम्बर? प्रदर्शन, गर्व, अहंकार कहां गया? विक्षिप्तता, कुंठा, घुटन, निराशा कहां गई? लोभ, स्वार्थ, कहां भाग गए? 'महादेवी' की अकम्पित, अचञ्चल, दीपशिखा सी सन्ध्या सामने खड़ी रही, मैं उसे निहारता रहा, देखता रहा। लम्बे लम्बे वर्ष पलों में सिमट आए! मानों दीपक के जलते ही अन्धकार भाग खड़ा हुआ। जिसे इतना भारी, इतना बोझिल, इतना गहन, इतना भयानक समझा था, दीपक के प्रकाश मात्र से ही भाग खड़ा हुआ। अन्धकार, अविश्वास, अभिमान में शक्ति कहां थी कि इस दिव्य प्रकाश के सम्मुख ठहर पाता? निर्निमेष नेत्रों से देखते हुए मैंने कहा, "कहां थीं अब तक?" सन्ध्या के स्नेहाश्रु उमड़ आए। बोली, "अंधेरे में

भटक रही थी।" मैंने कहा, "क्यों?" साड़ी के छोर से आंसू पोंछती हुई बोली, "जलना कहां सीखा था?" मैंने अपने आंसू पलकों में समेटते हुए कहा, "सन्ध्या, मुझे, जलाने के सिवाय और कुछ आता ही कहां है? जीवन में इससे अधिक सीखने का सुअवसर कभी भी तो हाथ नहीं लगा।"

दीर्घ निश्वास छोड़ती हुई बोली, "मेरे अहोभाग्य! इससे अधिक ले भी लेती तो मुझसे सहेजते न बनता?" लाख प्रयत्न करने पर भी मेरी आवाज़ कांप गई। मैंने कहा, "आखिर कब तक जलती रहोगी सन्ध्या? जल जल कर यह रिक्तता कहां भरी जा सकेगी?" डबडबाई आंखों से मेरी ओर देखती हुई बोली,—"प्यास ही से भर लिए अभिसार रीते, निमिष से मेरे विरह के कल्प बीते।" स्वर को संयत करती हुई बोली, "प्रार्थना करने के विधि विधान तो मैं भूल गई अतः वह सामर्थ्य मुझ में नहीं रही। आपके सामने तो हमेशा ही धृष्ट रही हूं। आपकी सरलता को देख वह ढिठाई भीतर वहीं निरन्तर जड़ें जमाती रही है। ऐसे में अनायास ही खुरदरापन मेरी अनुनय में आ जाता है। 'महादेवी' का वह गीत गा कर सुना दीजिये 'ज्वार को तरणी बना मैं इस प्रलय का पार पा लूं—आज दीपक राग गा लूं।" मैंने कहा, "मुझसे, तुम्हारी पसन्द का गाते कहां बनेगा?" अजीब स्वर में बोली, "अपनी पसन्द का सुना दीजिये, उसे ही अपनी पसन्द बना कर तर जाऊंगी।" मुझसे ना कहते नहीं बना। गीत समाप्त करके सन्ध्या की ओर आंखें उठाईं तो सजल नेत्रों से टकटकी बांधे मेरी ओर देख रही थी। मैंने कहा, "क्या देख रही हो?" कम्पित स्वर में बोली, "वही जो जीवन की शेष राह में देखना है।" मैंने कहा, "इसे ही पलट पलट कर देखोगी तो राह ही कैसे कटेगी? और लम्बी नहीं हो जाएगी क्या? थक नहीं जाओगी क्या?" रुलाई को रोकती हुई बोली, "पलट पलट कर क्यों देखूंगी? जो प्रति पल साथ रहेगा उसे पलट कर देखना

पड़ेगा क्या ? राह तो तभी लम्बी होगी जब साथ नहीं रहेगा ।" पुनः उसी स्वर में बोली, "जहां भगवान से नसीम और सन्ध्या के एक बनाने की प्रार्थना करोगे, वहां यह भी मांगना कि अगले जन्म में इस सन्ध्या को जल जल कर दिपना सिखाने में इतना विलम्ब न करें। पहले दिन से ही तुम्हारी सन्ध्या जल जल कर प्रकाश बिखेरना सीख ले ताकि अन्धेरों में वही फिर गुम हो कर न रह जाए जिसे इस बार अंधेरों में भटक भटक कर गंवा बैठी हूं।" कहते कहते सन्ध्या अपने मन के आवेग को रोक न सकी। संयत होने का प्रयत्न करती हुई बोली, "जिस गांव में जा रही हूं, वहां औरतें बरगद के नीचे शुभ-कामनाओं के दीपक जलाया करती हैं। मैं भी जलाया करूंगी, लोक-लाज करते मुझसे नहीं बनेगा। जिसे मन से चाहा है उसके लिए शुभकामना मांगने में लज्जा कैसी ?" मैंने कहा, "बुज़ुर्गों की दुआएं ही कौनसी कम हैं जो तुम और दोगी ?" बोली, "निस्वार्थ भाव से मांगी दुआएं तुम्हें खूब फलेंगी। तुम निश्चिन्त रहो, अपने स्वार्थ के लिए नहीं मांगूंगी, लोगों के हित के लिए ही मांगूंगी।" खड़ी होती हुई, दोनों हाथ जोड़ कर बोली, "आज्ञा दीजिए, चलती हूं।" सन्ध्या के आंसू पूरे वेग से उमड़ पड़े, रुंधी आवाज़ में बोली, "सौ रुपया फीस ली थी न ? मेरे पास सुरक्षित पड़ी है। मैंने उससे बहुत बढ़िया रेशमी कपड़ा ख़रीद कर रख लिया है। जिस दिन मरूंगी उस दिन ज़रूर गांव पहुंचियेगा। दुलहिन की तरह खूब सजा संवार कर मुझे सहारा दीजियेगा।" मैं कुछ भी बोल न सका। डबडबाई आंखों से सन्ध्या को देखता रहा। हाथ जोड़ कर उसने सिर झुका दिया। बोली, "इन पैरों को हाथ लगाने जैसी पवित्रता मुझ में नहीं है, अगले जनम में जुटाऊंगी।" सन्ध्या चली गई। मेरी डबडबाई आंखों में बहुत देर तक दीपशिखा सी उसकी छवि दिपदिपाती रही।

जिसके अक्षय प्रताप से सन्ध्या इतनी सशक्त बन गई है, मैं तो उसकी रट लगाता रहा। आज तक उसके असली स्वरूप को ही न पहचान सका। लोगों के हित के लिए मेरी लम्बी उम्र मांगने की बात कह रही थी! यदि असीम निष्ठा, अटूट आस्था ही न हुई तो लम्बी उम्र क्या ख़ाक करेगी? मैं तो आज तक इनका स्वांग ही भरता रहा, उससे अधिक कुछ भी नहीं कर पाया। स्वांग भरने में इतनी शक्ति है, यदि सचमुच वैसा ही बन निकलूं तो? जब यह लम्बी ज़िन्दगी काटनी ही है तो रो रो कर क्यों काटूं? हंस हंस कर क्यों न काटूं? इस अपने रोने धोने से, भले ही इसे कितने ही पर्दों में लपेट कर रोया जाए, दूसरों का हित क्या होगा? आप तो डूबूंगा ही, दूसरों को भी हित के नाम पर डुबोऊंगा!

सन्ध्या, नसीम, नरेन, रेणुका, किरपाल, दत्ता, सबका ही इतिहास लिखने बैठा हूं तो इस ढुलमुल यकीनी, अनिश्चय, पलायन, अनास्था से कैसे काम चलेगा? मुझसे तो किरपाल ही कहीं अधिक विश्वास जुटाए है। जो निश्चित हुआ उसी पर कमर बांध कर चल निकला। फिर चाहे राह में आंधी आए या तूफान, पहाड़ हो या चट्टान किरपाल नहीं रुकने का। किरपाल समझता है कि मैं इन लोगों का सम्बल हूं, सहारा हूं, मार्गदर्शक हूं! इन्हें क्या खबर कि मैं तो इन्हीं लोगों के साहस, विश्वास, लगन, परिश्रम, और पुरुषार्थ के सहारे आज तक चला जा रहा हूं! ज़रा बोलने में अधिक चतुर हो गया हूं, सो उसी के कारण इन्हें धोखा लगता रहता है। सन्ध्या, वेदना का प्रश्रय ले यदि इतनी सशक्त हो सकती है तो मैं क्यों नहीं हो सकता? मेरा कर्मक्षेत्र तो सन्ध्या से कहीं अधिक विस्तृत है, मुझे सफल होने के लिए सन्ध्या से कई गुना अधिक शक्ति और साहस जुटाना होगा। अपने पथ पर अपनी अनन्त वेदना के सहारे ही बढ़ूंगा। जीवन में यह जो असीम स्नेह, अगाध प्रेम मिला है इसका पग पग पर इतिहास

लिखता हुआ विश्व के उसी छोर तक पहुंचूंगा जिसके बारे में सन्ध्या नरेन और किरपाल से कहा करता हूं। कितनी ही बार तो 'दीपशिखा' में से पढ़ा करता हूं—'मैं चिर पथिक वेदना का लिए न्यास'''सबका चरण लिख रहे स्नेह इतिहास''''' ' पढ़ कर भी पढ़ कहां पाया हूं ? रटता रहा हूं। बहुत रटा, अब तो रटे हुए को जिन्दगी में ढालना है।

दत्ता मीटिंग्ज़ में 'साहिर' की नज़्म सुनाया करता है 'मैं चाहूं भी तो ख्वाब आवर तराने गा नहीं सकता।' बहुत गा लिया, बहुत रट लिया, अब तो रटे हुए को अमल में लाने की घड़ी सिर पर आई है। चल निकल नीरज ! स्वार्थ, लोभ, यश मान, गर्व, मोह, आडम्बर, प्रदर्शन, सब से बचता हुआ चल निकल। बाट ही कितनी है ? गिरते पड़ते अगर यहां तक पहुंच गया है तो जब मजबूत कदमों से चल निकलेगा फिर तो कहना ही क्या ? यूं ही नाहक हौसला छोड़ने चला था, हिम्मत हारने चला था, एक दो पड़ाव और मार, वे सामने खड़ी मंज़िलें मुस्करा रही हैं, मुस्करा मुस्करा कर बुला रही हैं।

नरेन, किरपाल, दत्ता, शुक्ला, मिसरा, सब को साथ ले ले। इनमें कोई भी छोड़ने लायक नहीं है। सबकी अपनी अपनी सचाई है। अगर इन्हें छोड़ देगा, इनसे घृणा करेगा तो सत्य को कहां खोजेगा ? इन्हीं की सचाइयों में से और बड़ी सचाइयां निकलेंगी। सत्य और अधिक प्रगति करेगा और अधिक विकसित होगा। "सब आंखों के आंसू उजले—सब के सपनों में सत्य पला ''' कब दीप खिला कब फूल जला ''' कब सागर उर पाषाण हुआ कब गिरि ने निर्मम तन बदला ''' " इनमें कोई भी झूठा नहीं है। सबकी अपनी अपनी अनुभूत सचाइयां हैं, सबको साथ ले ले। अगर इनसे घृणा करके इन्हें राह में ही छोड़ देगा तो कहीं ऐसा न हो कि मंज़िलें तुझ अकेले स्वार्थी को देख अपने शेष स्वजनों के लिए खून के आंसू

रोती रह जाएं ? याद कर, बाबा दिलीप सिंह ने यही तो कहा था, "नौजवान ! इन मंज़िलों को सुहागिनें बनने से पहले ही कहीं विधवा न बना देना ?" वन्दना और जसवन्त अगर अपने भगीरथ प्रयत्नों द्वारा स्वर्ग को ज़मीन पर उतारने में जुट गए हैं तो तू क्यों निठल्ला बैठा है ? जिस स्वर्ग के आदर्श बखाना करता है, उसे इसी पृथ्वी पर साकार करने के लिए बाकी के बचे खुचे दो दिन तो लगा दे !

मुझे क्या हो गया था ? क्या सोचने लगा था ? 'मुसीबत और लम्बी ज़िन्दगानी—बुज़ुर्गों की दुआ ने मार डाला।' निठल्ला बैठा था तभी तो ये बचे खुचे दो दिन भी लम्बे लग रहे थे ? बुज़ुर्गों ने तो यह सोच कर दुआएं दी थीं कि तू उनके प्रयत्नों को सिरे तक पहुंचाएगा। वे जिस स्वर्ग को ज़मीन पर उतारने के लिए जी जान की बाज़ी लगा गए, और नाकाम हसरतें लिए जेल की सलाखों से सिर टकरा टकरा कर, पागल हो हो कर मर गए, उस बहिश्त को तू ज़मीन पर उतारेगा। एक भगीरथ ने स्वर्ग से गंगा उतारी थी, उसी देश की मिट्टी में पला तू नया भगीरथ इस बार स्वर्ग को ही पृथ्वी पर उतार लाएगा।

और मैं लम्बी ज़िन्दगानी का रोना रोने बैठा था ! 'स्वल्पं तथायुर्बहवश्च विघ्नाः'। सन्ध्या बेचारी सच्ची है। जानती है कि इन दो दिनों में स्वर्ग कहां उतरेगा ? तभी लोगों के हित के लिए उम्र की दुआएं मांगा करती है। इस छोटी सी ज़िंदगी का बेहतरीन हिस्सा तो रोने धोने में गंवा दिया। अपना ग़म, दूसरों की खुशी बन कर अगर न चमका तो क्या खाक ग़म हुआ ! मैं लम्बी उम्र का रोना रोने बैठा था ? अब अक्ल आई है तो सामने बचे दो दिनों को देख कर दिल बैठा जा रहा है। अब तो 'कासमी' के शेर की याद आ रही है 'मुझे और ज़िन्दगी दे कि है दास्तां अधूरी—मेरी मौत से न होगी मेरे ग़म की तर्जुमानी।'

किरपाल और नरेन से, दत्ता और शुक्ला से अक्सर नाराज़ हो जाया करता हूं। नाराज़ होने से काम कैसे चलेगा? स्वर्ग को ज़मीन पर उतारना एक आदमी का काम कहां है? इसके लिए तो सैंकड़ों किरपाल आ जाएं और हज़ारों नरेन आ जाएं, लाखों दत्ता आ जाएं और करोड़ों शुक्ला आ जाएं, तब भी कम हैं। इन अलग अलग दायरों को तोड़ना होगा, तभी तो ये एक होंगे। एक न हुए तो स्वर्ग कहां से उतरेगा ज़मीन पर? हर एक की अपनी अपनी ढाई ईंट की मस्जिद बनती रहेगी और फिर इन्हीं मन्दिर मस्जिदों की ईंटें उखाड़ उखाड़ कर ये एक दूसरे का सिर फोड़ने निकलेंगे। फिर स्वर्ग के नाम पर नसीमें और सन्ध्याएं आग में जलेंगी और नीरज बसने से पहले उजड़े स्वर्ग के खण्डहरों में धाड़ें मार मार कर रोया करेंगे और इस उजड़े स्वर्ग में प्रेमी और प्रेमिकाएं, मुहब्बत से भरे दिल, अल्हड़ नवयुवतियां और बांके किसान, छैले मज़दूर और रंगीले बाबू, सब उम्र घटाने की दुआएं मांगा करेंगे!

अहोभाग्य! इन शेष दो दिनों में भी अक्ल आ गई। अब तो ये दिन अपने ग़मों को दूसरों की खुशियों में ढालने के काम आएं तो इस से बड़ी खुशकिस्मती और क्या हो सकती है!? अपने से स्वर्ग न भी उतर सके लेकिन बुज़ुर्ग जिस मेहनत को करते करते थक कर सो गए हैं उस मेहनत में कुछ कड़ियां तो और जुड़ेंगी, कुछ तो तरक्की होगी, कुछ तो स्वर्ग ज़मीन के करीब आएगा, कुछ तो राहें कटेंगी, कुछ तो मंज़िलें सिमटेंगी? कोटि-कोटि धन्यवाद है उस प्रभु का! उसने इन अनन्त वेदनाओं के वरदान देकर मुझे इस पुण्य कार्य में कुछ कर पाने योग्य बनाया तो है! राहें कटती चलें, मंज़िलें सिमटती चलें इससे अधिक मैंने चाहा ही कब है?

● ● ●

★नरेन्द्र

इस बीमारी से बच निकलने की आशा नहीं थी, फिर भी बच ही निकला ! वैद्य, डॉक्टर, हकीम, होम्योपैथ सब ही तो जवाब दे बैठे थे ! सभी को विश्वास था कि मैं उस बिन्दु पर जा अटका हूं जहां से मौत ही अपनी ओर खेंच सकती है, जीवन अपनी ओर नहीं खेंच सकता । फिर इस जीवन ने कैसे अपनी ओर खींच लिया ? साथी, मित्र, बन्धु बान्धव, सभी अन्तिम दर्शन करने की सी मनस्थिति लेकर आए थे और मन ही मन आत्मा की शान्ति की प्रार्थना कर के चले गए थे । आखिर यह क्या था जिसने मृत्यु के मुंह से मुझे बाहर खेंच लिया ? कौन था जिसने खोई ज़िन्दगी फिर मुझे लौटा दी ? डॉक्टर कहते थे ब्लड प्रेशर है, हकीम कहते थे सारी मशीनरी ही गड़बड़ा गई है, वैद्य जी का ख्याल था खून ही पानी बनता जा रहा है, होम्योपैथी वाले चिकित्सक का कहना था कि शराब ने फेफड़ों को छलनी कर दिया है और अपना ख्याल था कि वही वक्त आ पहुंचा है, मुद्दत से जिसकी इन्तज़ार थी ; फिर इन सभी निराशाओं के ऊपर कौनसी आशा अपनी अमृत वर्षा करती हुई अदृश्य में जा छिपी ?

बीमारी भाग खड़ी हुई थी परन्तु उसकी सहेली निर्बलता अभी जा नहीं पाई थी । किसी की बात सुनने में, पढ़ने लिखने में, सोचने गुनगुनाने में मन नहीं लगता था । जी चाहता, बस चारपाई पर आंखें बन्द करके लेटा रहूं और दिमाग़ में जो कुछ भी कूड़ा कर्कट भरा पड़ा है उसी तरह दबा रहे । शरीर, दिल, दिमाग़ सब सोते रहें, आंखें बन्द किए रहें । यही सोचता हुआ लेटा था ।

रसोईघर में मां, मनोरमा से कह रही थीं, "इतनी देर कर दी, जरनैल को दूध का कटोरा दे आ जा कर!" मनोरमा की झुंझलाई हुई आवाज़ सुनाई दी, "मैंने ठेका नहीं ले रखा किसी के इलाज का? और भी बीसियों काम करने हैं। जब फ़ुरसत मिलेगी मैं तो तभी दूंगी। तुम्हें फ़ुरसत हो तो दे आओ जाकर?" मां बोली, "अजीब आदत है तेरी लच्छो! मैं तो तुझे आज तक समझ नहीं पाई। आठ दिन बेहोश पड़ा रहा तब तो उसके बिस्तर के पास से हिली नहीं और उसके होश में आते ही कभी इधर लुक, कभी उधर छिप।" मनोरमा का स्वर सुनाई दिया, "मुझे क्या? कोई मरे, कोई जिये! मुझे तो अपने मरने से ही फ़ुरसत नहीं है। रोटी पका कर खेतों पर देने जाना है। सुबह से जो हल की मूठ पकड़े है उसकी किसी को फिकर नहीं और जो यहां खाट पर पड़ा पड़ा बेकार की तोड़ रहा है उसकी तुम्हें फिकर लगी है। जिसे निठल्ले बैठे चिकना चुपड़ा खाने को मिले वो क्यों ठीक होने लगा? मुझे इतना बुखार हो तो गोबर थापने बैठ जाती हूं। जनम लिया किसान के घर में और नखरे करने चले हैं बाबुओं जैसे? मुझे नहीं किसी की फिकर। मैं रोटी लेकर खेत पर जा रही हूं। कोई मरे, कोई जिये मुझे क्या?" मां की आवाज़ सुनाई दी, "फिर मरने दिया होता? उस वखत तो आंसुओं के हार पिरोने से ही बाज नहीं आती थी? आराम करने को कहो तो तुझे नींद उड़ने की बीमारी लग गई थी। फिकर नहीं थी तो गुरुद्वारे जा जा कर किस के लिए माथा रगड़ती थी? ग्रन्थी जी से तावीज़ बनवा बनवा कर खाट से बांधने की क्या जरूरत थी? बाबे का रोट क्यों बांटती फिरती थी, समाधों पर जा जा कर दिये क्यों जलाती थी? आज अच्छा हुआ है तो तुझे फिकर नहीं है! मैं कहती हूं तुझे किसी ने या तो मसान खिला दिए हैं या तुझे कुछ कर करा दिया है। तभी तेरा दिमाग़ खराब हो गया है। रात को भी न जाने क्या ऊटपटांग

बके जाती है ? जरनैल ज़रा ठीक हो जाए, चलने फिरने लगे, इसे कहूंगी कि तुझे जाकर दरबार साहब नहला लाए या देहरा गुरभाग-सिंह जा कर तेरा हाथ हौला करवा लाए।" मनोरमा बोली, "मुझे तो कुछ भी नहीं हुआ है मां जी। उनींदी रही हूं तभी ज़रा दिमाग़ में खुश्की हो गई है। चार दिन आराम से सो लूंगी तो सब ठीक हो जाएगा। जेठ कह रहा था कि बीमारी पर चार सौ लग गया है। फिज़ूल खरच करने से फायदा ? अपने ही गुरद्वारे से तबीत ले आऊंगी, क्या सचमुच मैं रात को बड़बड़ाती हूं ? क्या बड़बड़ाया करती हूं मां जी ?" मां बोली, "मुझे क्या वो सब याद रहता है। आज रात ही कह रही थी—बाबा कालू माफ कर दे, इस बार माफ कर दे फिर ऐसा नहीं करूंगी। माता चिन्तपुरनी मेरी भुल चुक माफ कर, तेरी कंजका बिठाऊंगी।" कुछ देर तक मनोरमा की कोई आवाज़ नहीं आई। फिर बोली, "मां जी, एह बिल्कुल ठीक हो जाए तां असीं माता दियां कंजकां पूजांगे। जदों एह बिमार सी तां मैं दिले इ दिल बिच्च माता दियां कंजकां सुखियां सी।" मां की रुंधी हुई आवाज़ सुनाई दी, "तूं एन्नी चंगी एं कुड़िये, फेर पता नईं तैन्नूं की हो जांदा ए ? तू तां चन्न वरगी सां, पता नईं तैनूं किसे ने की कर करा दित्ता ए ? मैं कहंदी हां तू इक बार डेरे जा के हथ हौला कराया तां मेरे दिल दा वैम मिटे। जी नाल जहान ए कुड़िये ! पैसा तां हथ दी मैल ए। जित्थे चार सौ होया ए उत्थे सवा चार सौ सई, ओह वाहेगुरु बड़ा बेअन्त ए, बस ओह दी नज़र सुखलड़ी चाही दी ए। अच्छा तू जैल नूं रोटी दे आ मैं ही जरनैल नूं दुध दे दवांगी।"

मनोरमा मेरी चारपाई के पास से सिर पर रोटियां रखे और हाथ में लस्सी की छोटी बाल्टी पकड़े चली गई। जाते जाते एक अजीब उचटती सी नज़र मुझ पर डालती गई। न जाने उस नज़र

में गिला शिकवा था या पश्चात्ताप था? कल्याण कामना थी या विक्षिप्तता थी? सामाजिक बन्धन का बोझ था या दिल की सूनी हसरतों की प्यास थी? गुस्से की लहर थी या मुहब्बत की बदली थी?

मां दूध का कटोरा दे गई। सहारा दे कर मुझे बैठाने के बाद उस ने दूध का कटोरा मेरे हाथों में थमा दिया।

बचपना याद हो आया, मेरी आंखें भर आईं। बचपन में मुझे दूध पीना अच्छा न लगता। मां मुझे अपनी गोद में बैठाती हुई कहती, "दुध नईं पीवेंगा तां चूड़यां दी कुड़ी धन्नी वरगा बण जावेंगा! जे चन्न वांग बणना एं तां अक्खां बन्द करके इक्को इ घुट च सारे छन्ने दा दुध मुका दे।" मैं कहता, "मां! मैं नईं पीणा दुध। मैंनूं चंगा नईं लगदा।" दूध का कटोरा मेरे मुंह से लगाती हुई कहती, "दुध नईं पीवेंगा तां बाज्जां वाले वरगा बहादुर किवें बणेंगा? तीर कमान किवें चलावेंगा? खंडा किवें बाहेंगा? देग तेग फतेह किवें करेंगा?"

दूध पीकर मैंने कटोरा मां के हाथ में दे दिया। मां उठ कर चली गई। कुछ देर मैं तकिये का सहारा लिए बैठा रहा। फिर आंखें बन्द करके लेट गया। दिमाग़ में ख्यालात का समुन्दर सा उमड़ पड़ा।

कहीं मेरी अलगरज़ी, कमअक्ली, कटुव्यवहार, अनुत्तरदायित्व की भावना, उपेक्षा, अपमान की असह्य यन्त्रणा, व्यंग बाणों की बौछार, वासना और घर की जर्जर आर्थिक स्थिति ने ही तो इस चांदनी जैसी शीतल, सुन्दर, दूध धुली, उजली मनोरमा को अछूत कन्या, विक्षिप्त प्रवासिनी नहीं बना डाला? क्या मनोरमा पहले दिन से ही ऐसी थी? जब पहले पहल मनोरमा ने इस घर में प्रवेश किया तो

क्या इसी मनोरमा को देख कर मां ने कहा था, "जरनैल हुए साड्डे हत्थों तां गया। एह चन्न वरगा मुखड़ा तक्कदयां तक्कदयां ओनूं साडी वल तक्कण दा वेल किथे मिलेगा?"

उस रात जब मनोरमा का मुंह ऊपर उठाते हुए मैंने कहा था, "मेरे जैसी किस्मत तो शहन्शाहों को भी नसीब नहीं होती। इतना रूप, इतना हुस्न, इस टूटे फूटे घर में न जाने कैसे आ पहुंचा?" तो क्या इसी मनोरमा ने चारपाई से नीचे उतर मेरे पैरों को पकड़ते हुए कहा था, "मेरी जगह तां त्वाडे एनां चरना विच है। मेरे भाग तां अति चंगे सां जो मैंनूं इनां चरना दी सेवा करन दा मौका वाहेगुरु ने बख्शाया ए।" क्या इसी मनोरमा की आंखों से छलछल करते आंसू मेरे पैरों पर गिर पड़े थे? क्या इसी मनोरमा को उठा कर मैंने अपने अंक में भर लिया था, अनगिनत चुम्बनों से इस का चेहरा भर दिया था?

मैंने पूछा था, "तुम्हारा नाम क्या है जानती हो?" मनोरमा ने कहा था, "त्वानूं जेड़ा चंगा लगे ओह ही रख लओ।" मैंने मनोरमा की आंखों में अपनी आंखों का प्यार उंडेलते हुए कहा था, "तुम आज से मनोरमा हो, लच्छो नहीं हो। तुम जैसी सुन्दरता की प्रतिमा को मनोरमा कहना ही अच्छा लगता है। आज से तुम मेरी मनोरमा हुई।" क्या इसी मनोरमा ने बेसुध होकर मेरे गले में बाहें डाल दी थीं?

फिर देखते देखते क्या हो गया इस मनोरमा को? इस चांद को ग्रहण क्यों लग गया? किसने इस दूध धुली चांदनी में धूल उलीच दी? इस मन के उजाले में अंधेरा घोल दिया? मनोरमा की सरलता ने या मेरे कपट ने? इसकी सादगी ने या मेरी कुण्ठाओं ने? इसके फूहड़ पन ने या मेरी मूर्खता ने? इसके खरेपन ने या मेरे

खोट ने ? इसके पवित्र प्रेम ने या मेरी अनियन्त्रित वासना ने ? इसके त्याग ने या मेरे स्वार्थ ने ? इसके विश्वास ने या मेरी उपेक्षा ने ? इसके कुविचार ने या मेरे पतन ने ? मनोरमा तो मेरे चरणों में बैठी थी, फिर इसे कौन सा बवंडर अपने में उड़ा ले गया ?

अगर यह मनोरमा सचमुच पतिता बन गई थी तो इसने मौत से जूझ कर मुझे बचाने की शक्ति कहां से पाई ? नीरज बताया करता है, "भई नरेन, तुम्हारे मार्क्सवाद में ये व्यर्थ की बातें नहीं हैं। और फिर निश्चित समय पर मृत्यु ने सत्यवान को आ दबोचा। सावित्री भी यमराज के पीछे चल दी। उस पवित्र प्रेम, महान त्याग, अजेय पातिव्रत के आगे यमराज बेचारे की एक न चली। महाशक्तिशाली यमराज उस अबला नारी के आगे पराजित हो गये। फिर सत्यवान यूं उठ खड़ा हुआ मानों अभी अभी सो कर उठा हो! सावित्री ने समझा मेरे पति जिस शक्ति के कारण चिरनिद्रा से पुनः उठे हैं, वह मेरी अपनी कहां है ? इन्हीं के प्रबल प्रताप से तो मुझे यमराज को विवश करने की अक्षय शक्ति मिली है। मैं गर्व किस बात का करूं ? सावित्री ने अपने आंसुओं से सत्यवान के चरण पखार दिये। मानते हैं तुम्हारे मार्क्सवाद में इक्वैलिटी है, ड्यू राइट्स टु विमेन है, फ्रीडम ऑव पार्टिसिपेशन इन सोशल लाइफ है, लिबर्टि टु इन्ज्वाय क्लब्ज़ ऐण्ड सिनेमाज़ है लेकिन ऐसा त्याग, ऐसी निष्ठा, ऐसा पातिव्रत, ऐसा निरहंकार, ऐसा पवित्र प्रेम कहां है ? माना अपने देश में इसी को बहुत छला गया है, बहुत लूटा गया है, बहुत मलिन किया गया है, शोषित बनाया गया है लेकिन फिर भी यह अक्षय भण्डार निश्शेष नहीं हुआ है। कर्ण महादानी, महाबली, महा प्रतापी, महा-योद्धा, महात्यागी था परन्तु जब सूर्य द्वारा प्राप्त कवच कुण्डल धारण कर लेता तो अजेय, अमर, अपराजित बन जाता। तभी तो कहता हूं कि अगर तुम्हारा मार्क्सवाद इस देश में आ पहुंचा है

तो उस महाबली, महाप्रतापी को कवच कुण्डल धारण कर लेने दो तभी वह अमर और अजेय बनेगा। जानते हो न हम पूर्वीय हैं ? सूर्य हमारे देश से उदित होता है। अतः इस मार्क्सवाद को कवच कुण्डल मिलेंगे तो इसी देश से मिलेंगे और कहीं मिलने से रहे।

तभी तुम्हारा मार्क्सवाद विनीत हो कर कह सकेगा—विजय के लोभ से, गौरव के मद से, राज्य के स्वार्थ से मैं वीरों के सत्यमार्ग से विचलित न होने पाऊं। मैं निरन्तर विनम्र बन कर अपना उत्तरदायित्व निबाहता रहूं, प्रगति के पथ पर निरन्तर अग्रसर होता रहूं, मानवता का सम्बल बनता रहूं।"

कम्बख्त इस विश्वास से बोलता है कि तर्क वितर्क की भारी भरकम चट्टानें पानी में तिनके की तरह बह जाती हैं। इस विश्वास ने ही उसे दिव्य दृष्टि प्रदान कर दी है। मैंने एक दिन पूछा, "यदि किसी की पत्नी पापाचरण में प्रवृत्त हो तो उसे क्या करना चाहिए ?" कुछ पल सोचने के बाद विश्वास में डूबे गम्भीर स्वर में बोला, "पति को चाहिए कि वह पत्नी को क्षमा कर दे। इसमें और किसी को लाभ हो या न हो, पति का अपना लाभ अवश्य है। क्षमा में ही ऐसी शक्ति निहित है जो पत्नी के अनाचार को धो सके।" मैंने पुनः शंका प्रकट की, "यह लाभ है या आत्म प्रवंचना है ? यथार्थ को आप लोग ढंकते रहते हैं तभी तो बुराई पनपती है ?" कहने लगा, "पहला प्रश्न तो यह है कि क्षमा वही कर सकता है जो खुद पवित्र आत्मा होता है, अन्य व्यक्ति नहीं कर सकता। इस प्रकार किसी पर दोषारोपण करने से पहले अपने खरे खोटेपन की पहचान अनायास ही हो जाती है। बताओ हुआ न महालाभ ? तुम लोग भी तो सैल्फ अनैलिसिस की बात कहा करते हो ? यह क्षमा करना भी कुछ वैसा ही है। अब मान लीजिए कि आप में क्षमा करने की शक्ति है तो प्रमाणित हो गया कि आप पवित्र आत्मा हैं। पति पत्नी होते हैं एक दूसरे के

पूरक, आप मानते ही हैं। पूरक होने के कारण, पति, पत्नी की आत्मा में और पत्नी, पति की आत्मा में देख प्रतिदिन ही अपना रूप संवारा करते हैं। स्त्रियों को वैसे भी पुरुषों की अपेक्षा रूप का कहीं अधिक मोह होता है अतः इसमें सन्देह नहीं कि स्वच्छ आत्मा के दर्पण में अपना कुरूप चेहरा देखते ही झट उसे धोने संवारने बैठ जाएंगी। हुआ न दूसरा महालाभ ? यदि पत्नी का चेहरा सजा संवरा है और दर्पण पर धूल छा जाने से मैला दिखाई देता है तो वह झट दर्पण की धूल झाड़ने बैठ जाएगी। हो गया तीसरा महालाभ ? अब सोचिए ज़रा, आपकी पत्नी की आत्मा पवित्र है लेकिन आपको उसपर क्रोध आता है यानि आप में खोट आ गया है तो आप अपने दर्पण में देख अपना चेहरा निखारने की फिक्र करेंगे। हुआ न चौथा महालाभ ? अब बताइये कहां तक इन लाभों को गिनिएगा ? अब कहिए इसमें आत्मप्रवंचना कहां है ? यह यथार्थ दृष्टि हुई या नहीं ? आप इसे भी अयथार्थ कह कर हमारी राय को फटीचर राय कहते रहें तो आपकी मर्ज़ी !"

जिस दिन नशे में धुत, लुटा पिटा सा घर लौटा था उस दिन मनोरमा ने कहा था, "एह की हुंदा जांदा है त्वानूं ? तुसीं दा इहां दे कदे वी नईं सी ! मनदी हां मैं बोहत पढ़ी लिखी नहीं हां, मैंनूं चज नाल बोलणा वी नईं आंदा, शहरी कुड़ियां वांग मैंनूं कपड़े पाणा दी, सजन संवरन दी वी जाच नहीं सही, पर त्वाडी बण के रहण दी जाच ता मैंनूं है ही। चलो मन्नया मैं त्वाडी मनोरमां बनण दे काबल नईं ओ सई लेकिन त्वानूं तां मैं अपना बणा के रख ही सकदी हां। ऐडा की गुनाह हो गया है मेरे कोलों ? मैंनूं इवें ता नां रोलो !" मैंने शराब के नशे में डूब कर मनोरमा के एक थप्पड़ जमा दिया था। चीख़ते हुए कहा था, "दूर हो जाओ मेरी आंखों के सामने से। तेरे वरगी गंवार ते फूहड़ औरत नूं मेरे वरगे आर्टिस्ट दी जिंदगी विच ज़हर

घोलने दा कोई हक नहीं है।" देखते देखते पवित्र आत्मा का दर्पण ज़मीन पर गिर कर टुकड़े टुकड़े हो गया था। मनोरमा उन टूटे टुकड़ों को ज़मीन से समेटती कमरे से बाहर निकल गई थी।

अगले दिन मैं भूखा था। मनोरमा को मैंने अपने पास बुला लिया था। मनोरमा डरती सहमती मुझ तक चली आई थी। चारपाई पर बैठती हुई बोली थी, "अज फेर ज़हर पीण दी ग़लती करन लग्गे ओ?" मैंने अपनी भूख मिटाने के बाद कहा था, "जिस दिन चार पैसे कोल होणगे उस दिन एह ज़हर पीणा होर किते चला जावांगा! खरीद के नईं ल्यांदा इस ज़हर दी बोतल नूं?" मनोरमा डबडबाई आंखों से देखती हुई बोली थी, "त्वाडा कोई कसूर नईं, मेरे ही भाग फुट गए नें।" सिसकती सिसकती वह चली गई थी। रहे सहे शीशे के टुकड़े भी चूर चूर हो गए थे।

नीरज जिस दर्पण में देख कर चेहरा निखारने की बात कहता है उसे तो मैंने खुद ही चूर चूर कर दिया। दर्पण ही नहीं रहा तो अपने धूल भरे चेहरे को कैसे निखारूं? मैंने तो ज़िन्दगी भर यथार्थ के नाम पर अयथार्थ को अपनाना सीखा है। यदि मनोरमा के दिल का शीशा, मेरे हाथों यूं चूर चूर न होता तो क्या वह, वही चांदनी जैसी उजली मनोरमा न रहती? लेकिन मैंने आज तक शीशों को साफ करना, टुकड़ों को उठा कर जोड़ना सीखा ही कब है? यह तोड़ फोड़ तो शायद मेरी आदत बन गई है। खुद ही तो मैंने अपनी मनोरमा को अपनी मर्ज़ी के मुताबिक घड़ा है। जब मेरे रंगों के स्पर्श से निखरी संवरी तस्वीर सामने आई है, फिर बौखला क्यों गया हूं, चीखता चिल्लाता क्यों हूं? कौनसा गाना है वह? 'तस्वीर बनाता हूं तेरी ख़ूने जिगर से' यह ख़ूने जिगर से बनी तस्वीर ही तो आंखों के आगे मुस्करा रही है! वाह रे नरेन! अक्लमंदों के वाहिद जांनशीन, साबित शीशों के चाहने वाले!

विश्वास से ही तो टूटे शीशे जुड़ते हैं, लेकिन मैंने तो आज तक विश्वास की कमी को सन्देह से पूरा करना ही सीखा है। वाह रे यथार्थवादी !

रेणुका ने यही तो कहा था, "क्या तुम इसी सन्देह की पूंजी लेकर प्रेम पाने के लिए निकले थे ?" मैंने उसी रेणु को, जो मुझे विश्वास देना चाहती थी, टूटे टुकड़ों को जोड़ना सिखाना चाहती थी, ज़ोरदार थप्पड़ लगा कर उसके सुकृत्य का बदला चुकाया था।

रेणुका ने भी तो मनोरमा के ही शब्द दोहराये थे, "नरेन ! तुमने बहुत अच्छा किया ! विषपात्र की यथार्थता को समझते हुए, यथा समय उठा कर परे फेंक दिया।"

कैसा है यह मेरा यथार्थवाद ? इसे छूते ही अमृत-पात्र, विष-पात्र बन जाता है ! नीरज कहा करता है न ?—"यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः" मैं तो सैल्फ अनैलिसिस की दुहाई देना जानता हूं, मैंने मनोरथ सिद्ध न होने पर आत्म विश्लेषण करना कहां सीखा है ? यह भी हो सकता है कि मेरे मनोरथ ही मुझ पलायनवादी को, झूठे यथार्थ के रंग में रंगे सियार को देख, आंख बचा कर खिसक जाते हों ? या फिर इतना पापी हूं कि मुझे छूते ही पुण्य, पाप बन जाता है, चरित्र की पवित्रता, चरित्रहीनता बन जाती है, पातिव्रत, तिरिया चरित्र बन जाता है !

रेणुका ने कहा था, "हम औरतों को झूठ के बाटों से सत्य का सौदा करना नहीं आता। नरेन ! लोग तिरिया चरित्र की बात करते हैं परन्तु हम औरतें ये सब चरित्र कहां जानती हैं ? तुम लोग झूठ की रक्षा के लिए हमें इन तिरिया चरित्रों से सजा संवार देते हो। क्योंकि हम तुम्हारा दुःख देख नहीं सकतीं अतः तुम्हें सुखी देखने

के लिए इन तिरिया चरित्रों को सिर झुका कर अपना मान लेती हैं।"

तो क्या मेरे सुख के लिए ही मनोरमा ऐसी बनी है? क्या मेरे दुःख को सहन न कर पाने के कारण उस बेचारी ने ये तिरिया चरित्र ओढ़ लिये हैं? मैंने ही तो चाहा था कि यह अनपढ़, गंवार, फूहड़, अशिक्षित, असभ्य और अपटु मनोरमा मुझ से दूर चली जाए, मुझे जलाया न करे। मेरे कलाकार को यही प्रिय था कि यह सभ्यता और संस्कृति से कोसों दूर रहने वाली स्त्री, मेरी कल्पना का, मेरी कला का गला न घोंटा करे। यही तो मेरी हार्दिक इच्छा थी कि यह फूहड़ औरत मेरे घर की दासी बन कर रहे। घर के पशुओं को चारा डाल दिया करे, खाना बना दिया करे, सूत कात लिया करे, गोबर थाप लिया करे और बदले में खाना खा लिया करे, मेरे अमन में खलल न डाला करे।

जो मैंने चाहा है वही तो इस आज्ञाकारिणी दासी ने किया है। लेकिन यह दासी भी तो आखिर नारी थी, बेजान मिट्टी का खिलौना तो नहीं थी? नर की तरह नारी की भूख भी तो अपनी जगह अटल यथार्थ थी। अगर सृष्टि क्रम में नारी को यह भूख न लगा करती तो सृष्टि ही कैसे फूलती फलती? यदि सामाजिक नियम अपनी जगह ठीक हैं तो प्राणिशास्त्रीय नियम भी तो अपनी जगह अटल हैं। सामाजिक नियम तो फिर भी देश, काल और स्थिति अनुसार बदलते रहते हैं परन्तु ये प्रकृति द्वारा निर्मित प्राणिशास्त्रीय नियम तो अपनी जगह पर सुस्थिर हैं, अपरिवर्तनीय हैं, चिरन्तन हैं। नारी की यदि यह नैसर्गिक प्रवृत्ति न होती तो क्या यह सृष्टि बूढ़ी हो कर एक दिन समाप्त न हो जाती? यह नैसर्गिक प्रवृत्ति ही तो है जिसके कारण यह सृष्टि नित नूतन है, चिर विकसित है, प्रति पल स्पन्दित है, सदैव आकर्षणमयी है।

नीरज 'धर्म और समाज' का रैफरेंस दिया करता है—"प्रेम, केवल ज्वाला से ज्वाला का मिलन नहीं है अपितु आत्मा को आत्मा की पुकार भी है।" आत्मा के दर्पण के तो मैंने कर दिए टुकड़े क्योंकि कभी उस की आवश्यकता ही नहीं समझी! ऐसे में आत्मा की पुकार का प्रश्न ही कहां उठता? जब यह स्वच्छ दर्पण ही टूट गया तो फिर ज्वाला से ज्वाला का मिलन शेष रह जाना स्वाभाविक ही तो था। जब प्रेम का आधार ही नहीं रहा तो फिर यह चंचल मन, ज्वाला से मिलन का उत्सुक जो भी कर बैठे वही कम! महर्षि वात्स्यायन कह तो गए हैं, "कः कदा किं कुतः कुर्यादिति को ज्ञातुमर्हति।" वही तो कह गए हैं कि प्रेम और सहानुभूति को गंवा कर स्त्री को नैराश्य आ घेरता है, वह चिन्ता समुद्र में डूब जाती है। और फिर ऐसी, चिन्ता सागर में डूबती निराश स्त्री पति से बदला लेने लिए शरीर को अन्य पुरुष के लिए अर्पित कर देती है। है नहीं वह वात्स्यायन का कथन? —"सा प्रीतियोगम-प्राप्ता तेनोद्वेगेन दूषिता। पुरुषद्वेषिणी वा स्याद् विद्विष्टा वा ततोऽन्यगा॥" और वह महाभारत में भी तो इसी ओर संकेत है, "न चासां मुच्यते कश्चित् पुरुषो हस्तमागतः। गावो नव तृणानीव गृह्णन्त्येता नवं नवम्।"

यही सब देख सुन कर, सोच समझ कर तो समाज के पथप्रदर्शक पवित्र विवाह की व्यवस्था कर गए हैं। कह गए हैं कि 'विवाह प्रकृति द्वारा निर्मित प्राणिशास्त्रीय नियमों और मनुष्य द्वारा रचित सामाजिक विधि विधानों में सामञ्जस्य स्थापित करने की प्रक्रिया है। विवाह के सुदृढ़ बन्धन के लिए प्रेम अनिवार्य है, आवश्यक है। प्रेम ज्वाला से ज्वाला का मिलन ही नहीं अपितु आत्मा को आत्मा की पुकार भी है।'

मैं था अपने ढंग का अनोखा यथार्थवादी अतः नये प्रयोग करने

निकल पड़ा। प्रेम को तो मैंने एक चांटा जड़ कर भगा दिया। सुदृढ़ आधार जब जर्जर हो गया तो विवाह के महल को ज़मीन पर आते देर नहीं लगी। इस अनोखे प्रयोग से मनोरमा बन गई रोटी कपड़े पर पलने वाली घर की दासी या फिर रह गई मात्र स्त्री। पतिव्रता गृहिणी को मैंने मार डाला। नैसर्गिक प्रवृत्ति के अटल सिद्धान्त के अनुसार दासी स्त्री, ज्वाला के मिलन के लिये चंचल हुई और अपने आप को सोमेन के लिए समर्पित कर बैठी। इसमें अनहोनी क्या हुई ? मैंने जिन मनोरथों को संचित करना चाहा था, उन्हीं के वरदान से तो मनोरमा ऐसी बनी है ?

मनोरमा ही क्यों, रेणुका भी तो इन्हीं अद्भुत और महान प्रयोगों की लपेट में आ कर नष्ट हुई है ? अपने ही अज्ञान द्वारा पवित्र आत्माओं को मिटा कर, अपनी वासनापूर्ति के लिए निर्मल मनों को नष्ट कर, अपने अनोखे सन्तोष के लिए दूध से धुले, चांद से उजले चेहरों पर कालिमा पोत कर मैं तो बना बैठा हूं महान प्रयोगवादी, प्रतिभा सम्पन्न यथार्थवादी और मेरे निरर्थक, मिथ्या, आधारहीन प्रयोगों की खातिर अपने शरीर, मन और आत्मा को न्योछावर करने वाली स्त्रियां बनी हैं, कुलटा, कलंकिनी, विपथगामिनी, गृहसुख विनाशिनी, अमंगलकारिणी, चरित्रभ्रष्टा, त्रियाचरित्र निपुणा एवं दण्डनीया !

तभी तो नीरज कहा करता है, "औरत भी रुपए की तरह बेजान है। कम से कम, अक्लमन्द लोग यही मानते हैं। बिल्कुल इस बेजान रुपए से मिलती जुलती समस्या इस बदनसीब औरत ज़ात की है। सहस्रों वर्षों से यह शोषित ही चली आई है।"

जानदार होती तो मुझ जैसे प्रयोगवादियों और यथार्थवादियों से पिटने की अपेक्षा, हाथ में छड़ी लेकर हमारे दिमाग़ को दुरुस्त न

करती ? खुद दासी बनने की अपेक्षा हमें अपना दास न बनाती ? हमारे मिथ्या प्रयोगों के लिए खुद ईंधन न बन, हमें आग में न झोंकती ?

लेकिन नीरज तो कहता है, "नरेन ! तुम लोग व्यर्थ ही डरते हो ? जिस दिन तुम इन पाषाण शिलाओं को मानवी बनाने के लिए अपने अपराध स्वीकार कर लोगे, दण्ड के लिए इनके हाथ में छड़ी दे दोगे उस दिन भी ये छड़ियों को परे फेंक आंसुओं का ही प्रयोग करेंगी। तुम लोगों को तो अपने मन का भय ही खाए जा रहा है, वही तुम लोगों के लिए भयंकर शाप बन गया है। उसी शाप की ज्वालाएं सारे मानव समाज को चारों ओर से घेरे ले रही हैं। अच्छा हो कि हम लोग इन भयंकर लपटों से बचने के लिए यथा समय मन का भय त्याग अपने अपराध स्वीकार कर लें। दण्ड देना नारी का स्वभाव नहीं है, हमारी क्रूरता की छाया ही यदा कदा उस पर पड़ जाया करती है। सहनशीलता, मृदुलता, शान्ति, समर्पण, प्रेम, बलिदान, त्याग और क्षमा को गूंथ कर ही विधाता ने इस नारी जाति की रचना की है। इसे तलवार से काटना नहीं आता, बग़ैर गर्व किए आंसुओं से धोना भर आता है। हम अपने स्वार्थ और अपनी क्रूरता के कारण जब इन्हें पाषाण प्रतिमाएं बना देते हैं तो ये बेचारी पाषाण शिलाएं रो भी तो नहीं सकतीं। इनको निर्जीव बना कर जब हम लोग इनकी सहनशीलता का स्वांग भरते हैं तभी हमारे बुरे दिन प्रारम्भ होते हैं।"

सोचा था कि यह फूहड़, गंवार, असभ्य और अशिक्षित मनोरमा जब मुझसे परे हट जाएगी तो मेरी कला का, मेरे आर्ट का, मेरे गीतों का, मेरे नाटकों का दम नहीं घुटेगा। इस मैली छाया से बच कर मेरी कला निरन्तर विकसित होगी, मेरे लिए यश और ख्याति के असंख्य द्वार खुल जाएंगे।

खुद ही तो कहा करता हूं—"सुर गले से नहीं निकलते दिलों की गहराइयों से निकलते हैं। कितना ख़ून आंसुओं की शकल में ढलता है तब कहीं जाकर गीत का एक बोल बनता है। जब कलाकार उन बोलों की कीमत बग़ैर चुकाए उन्हें उठाना चाहता है तो बोल छिटक कर उससे दूर जा बैठते हैं। जब आर्टिस्ट दिलों के सुरों पर गाता है तभी गीतों के बोल मुहब्बत के रस में सराबोर महबूबाओं की तरह सुरों के गले से आ लिपटते हैं।"

दिलों को तो अपने हाथों चूर चूर कर दिया, फिर सुर चीखें न बनते तो और क्या खाक बनते? आंसुओं को तो कहकहों की तलाश में लुटा दिया, मिटा दिया, फिर गीत मरसिए न बनते तो और क्या बनते? बोलों की कीमत बग़ैर चुकाए उन्हें उठाने चला था तभी तो वे नफरत से मेरे मुंह पर थूक, उजाड़ों और वीरानों में भटक गए। जब दिलों के सुरों को भूल, वासना और स्वार्थ की तानें अलापना शुरू किया तभी तो ये सच्चे सुच्चे बोल, मुहब्बत के रस में सराबोर महबूबाएं बन कर सुरों के गले में गलबहियां डालने की बजाए मजबूरी और लाचारी के कीचड़ में डूबी वेश्याओं की तरह चीखों की जेबें टटोलने निकल पड़े! वाह भई नरेन! कहा कुछ, किया कुछ, दिखाया कुछ, दिया कुछ, बनाने के नाम पर मिटाया, हंसाने के नाम पर रुलाया, जलाने की जगह बुझाया, बुझाने की जगह जलाया! और ये सब कारनामे करके चाहा यह कि लोग कहें—महान गीतकार है, जन कलाकार है, लोकता का नाटककार है, संघर्षों का गवैया है, बलिदानों की जीती जागती तस्वीर है, नये युग के सपनों की ताबीर है। तार ही टूट गए तो यह दिल का सितार क्या बजता? टूट कहां गए खुद ही तो कसने की धुन में तोड़ दिये?

मुझसे न तो क्षमा करते बन पड़ा और न अपराध स्वीकार करते ही बनता है। दोनों ही के लिए जिस विशाल हृदय की

आवश्यकता है, वह मेरे पास कहां ? क्षमा करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता । किसी ने अपराध किया होता तभी तो उसे क्षमा करता ? अपराध तो मेरे अतिरिक्त किसी ने भी नहीं किया । मैंने ही अपना अपराध दूसरों के सिर मढ़ दिया है । अपराध भी मैं ही करूं और न्याय करने भी मैं ही बैठूं, यह अद्भुत दर्शन है मेरा ! अपराध मैंने किया था और चाहता यह था कि मनोरमा उसे अपना कह कर मुझ से क्षमा मांगे, मेरे आगे नाक रगड़ रगड़ कर गिड़गिड़ाए । पथभ्रष्ट मैं था और उसे कुपथगामिनी कहने चला था । मैं किसी को क्षमा क्या करूंगा, क्षमा तो मुझे मांगनी चाहिये । मिले, मिले, न मिले, न मिले लेकिन एक बार हिम्मत करके मांग तो देखूं ? लेकिन किस बात की क्षमा मांगूंगा ? अपनी चरित्रहीनता, स्वार्थ, मलिन-वासना, क्रूरता और अमानवीय प्रवृत्तियों की ! मतलब यह कि मनोरमा के सम्मुख स्वीकार करना होगा कि जिन जिन दोषों और कुकृत्यों का बखान करके मैंने उसे बदनाम किया था वे दोष और कुकर्म उसने नहीं, मैंने किये थे । उसके सामने अपराध स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है, कोई उपाय नहीं है ।

अपनी ही स्त्री के सम्मुख अपराध स्वीकार कर लेने जैसी विशालता, महानता मेरे पास कहां है ? यह भी क्या पता कि क्षमा मिल ही जाएगी ? नीरज ठहरा आदर्शवादी, उसे क्या खबर कि दुनिया वैसी नहीं है जैसी किताबों में दिखाई देती है । मान भी लो कि मैं अपराध स्वीकार कर लूं, लेकिन मनोरमा मेरी स्वीकृति को ही आधार बना कर मुझे बदनाम करने पर तुल गई तो क्या होगा ? मैं तो कहीं का भी नहीं रहूंगा । न घर का न घाट का । धोबी का कुत्ता बना इधर उधर भटकता फिरूंगा ।

जो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है, साफ समझ में आता है, नीरज

की ऊटपटांग बातों में फंस कर उसे ही झुठलाने बैठा हूं। सीधी सी तो बात है। मनोरमा न जाने कब की जली भुनी बैठी है, मेरी ग़लतियों के पता चलते ही, गुनाहों के ज़ाहिर होते ही, बदला लेने के लिए कमर बांध लेगी। हाथ नचा कर गांव की गली गली में, घर घर में मेरी गौरव गाथा सुनाती फिरेगी। कहेगी, "मां, देख लिए अपने लाल के लच्छन! इसी नेक सपूत के लिए मेरी ज़िन्दगी बरबाद करनी थी?"

फिर मन ही मन अब सोमेन को चाहने भी तो लगी है। इधर मैंने अपने अपराध स्वीकार किये और उधर मनोरमा को सोमेन से ब्याह रचाने का मौका मिला! सोमेन भी तो यही चाहता है। मनोरमा मेरी काली करतूतें उससे कहेगी और वह झटपट पंचायत बुलाने को दौड़ेगा। औरतों के दिल में बात पचती ही कहां है? ये तो मरद ही होते हैं कि डाके कत्ल तक की बातों को भी दिल ही दिल में हजम कर जाते हैं। इसका मतलब यह है कि भरी पंचायत में अपने ही हाथों, अपने मुंह पर बदनामी की कालिख मलनी होगी और पतन के गधे पर सवार होकर गली गली में घूमना होगा। लोग नीरज जैसे भावुक तो हैं नहीं कि इस दृश्य को देख उनकी आंखें भीग जाएंगी। पतन के गधे पर बैठ, बदनामी की कालिख मले जब मेरा जलूस निकलेगा तो लोग कहकहे लगाते हुए, ईंट पत्थर मारते हुए कहेंगे, "असली नाटक तो आज हो रहा है। ऐसा बढ़िया नाटक आज से पहले हमने कहां देखा था? अहा हा! क्या शायरों जैसी सूरत बनी है, सचमुच असली गीतकार का बच्चा दिखाई देता है। क्या शान से सीना तान कर इन्किलाबी फौजों के हरावल दस्ते का सिपाही जा रहा है। हद है भई, आज तो शायरी साक्षात् गधे पर सवार हो कर निकली है।" सोमेन और मनोरमा ड्योढ़ी के दरवाज़े में खड़े, यह तमाशा देख कर खूब खिलखिला कर हंसेंगे।

सोमेन कहेगा, "देख रही हो, आज जरनैल दूसरी बार घोड़ी पर चढ़ा है।" मनोरमा कहेगी, "तुम अकलमन्द होते तो यह नीच पहली बार ही ऐसी घोड़ी पर चढ़ता।"

वाह रे नीरज! तुम्हारी बातों में फंस गया होता तो निकलवा दिया था तुमने हमारा तवारीख़ी जलूस! इसी को कहते हैं खालिस दोस्त। तुम जिसके दोस्त बन गए फिर उसे दुश्मनों की ज़रूरत ही क्या है? कोई तुम्हारी नसीहतों पर अमल कर निकले तो म्युनिसिपैलिटी को ईंट रोड़ों के चार पांच ट्रक बाहर से मंगवाने पड़ें। दुनिया में तीन ही अक्लमन्द पैदा हुए हैं। फरहाद, मजनूं और नीरज। उसके बाद भगवान ने सोचा यही तीन रोशनी के मीनार काफी हैं औरों की क्या ज़रूरत? तुम्हारा भगवान बड़ा दयालु है। अगर तुम जैसे दो चार और भेज देता तो रोशनी के मारे ही लोगों की आंखें अंधी हो जातीं। दिखाए चलो बस लोगों को रोशनी? मेरे दोस्त तुम्हें डर किस का है? किए जाओ लोगों को अन्धे! जब सब अन्धे हो गए फिर मजे से राज करना। प्रियदर्शी सम्राट् अशोक की तरह अपनी नसीहतों के शिलालेख जगह जगह जड़वा देना। इसी को तो कहते हैं कि एक ने कही, दूसरे ने मानी, कहें नानक दोनों ज्ञानी! वाह, ज्ञानियों के वारिस नीरज साहिब वाह! मरवा दिया था मेरे दोस्त! अगर तुम्हारी बताई राह पर चल निकलता तो पड़ गए थे धड़ाधड़ चमरौधे दस नम्बरी जूते। हो गई थी एक अच्छे भले आर्टिस्ट की बग़ैर टकों के हजामत।

मैं नीरज जैसा मूर्ख नहीं हूं कि अपनी हजामत बनवाता रहूं। मैं तो मनोरमा और सोमेन की हजामत बना कर दम लूंगा। ऐसी हजामत बनाऊंगा कि नीरज भी दांतों तले उंगली लिए देखता रह जायेगा। सोचती होगी, 'मर तो जाना ही है। चार दिन चारपाई के

पास बैठ कर लोगों की आंखों में धूल झोंक दूं। जब राह का कांटा निकल जाएगा फिर चार दिन मगरमच्छ के आंसू बहा कर मज़े से सोमेन के साथ रंगलियां मनाने का सुनहरी मौका अपने आप ही हाथ लग जाएगा।' मैं भी इतनी कच्ची मिट्टी का बना नहीं हूं जो ज़रा सी ठोकर से टूट जाऊं ! समझते क्या हो ? मैं तो एक एक को मार कर, एक एक का क्रिया कर्म करके फिर आराम से मरूंगा। क्षमा मांगूं उससे, जिसे ठोक पीट कर सीधी राह पर लाने की ज़रूरत है।

जो गुरु जन उपदेश दे गए हैं, वे नीरज से लाख दर्जे अधिक अक्लमन्द थे। नीरज की तरह अक्ल के अन्धे गांठ के पूरे नहीं थे। वे एक एक बात को जांच परख कर अपने सदुपदेशों की धारा बहा गए थे। उन गुरु जनों ने ही तो शिक्षा दी है, "ढोर, गंवार, शूद्र और नारी ये सब ताड़न के अधिकारी।" गुरुजन कहते हैं कि इन चारों की जितनी कुटम्मस की जाए ये उतने ही ठीक रहते हैं और नीरज साहिब फरमाते हैं कि नारी के चरणों को छू कर क्षमा मांगो, यही आनन्द प्राप्ति का मार्ग है ! बुज़ुर्ग कहते हैं कि औरत को पाओं की जूती बना कर रखो और नीरज साहिब का फलसफा फरमाता है कि पहले अपने सिर की टोपी उतार लो और फिर अपने पैर की जूती उतार कर अपने ही सिर पर तड़ातड़ लगाना शुरु कर दो, दो मिनट में ठण्डक पड़ जाएगी, तेल मालिश की ज़रूरत ही नहीं रहेगी। वाह रे नीरज साहिब, बे पीर उस्ताद।

एक दिन यही बहस चल निकली तो मैंने गुरुजनों का सदुपदेश दोहरा दिया। नीरज खिलखिला कर हंस पड़ा, फिर अचानक ही उसकी आंखें भर आईं। कुछ संभल कर बोला, "तुम्हारे वही गुरुजन यह भी कह गए थे कि शूद्र यदि भूल कर भी वेद वाक्य सुन ले तो ब्राह्मण या क्षत्रिय को पूर्ण अधिकार है कि उसके कानों में रांगा

पिघला कर उसे जन्म भर के लिए बहरा कर दे । तुम भी यही चाहोगे क्या ? जिस काल में ऐसे नियम बने होंगे, उस समय सामाजिक स्थिति विशेष समुन्नत नहीं होगी ।"

कुछ देर रुक कर बोला, "जिन शूद्रों के कानों में रांगा पिघला दिया जाता था, जानते हो वे कौन थे ? वे तुम्हारे प्रोलतारी वर्ग के बहादुर सिपाहियों के दादा, परदादा थे । जिन ब्राह्मणों ने ये नियम बनाए थे, वे उस काल के बूर्जुआ थे । बूर्जुआ को डर था कि प्रोलतारी अपने को यदि उन जैसा समझ बैठेगा तो अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठाने की सोचेगा, उनका तख्ता पलट देगा अतः उन्होंने उनके ताड़ने की व्यवस्था कर दी ताकि वे जीवन भर पीठ और सिर सहलाते रहें, इन्किलाब करने की न सोचें । कार्लमार्क्स इससे बिल्कुल उलट कहता है । वह कहता है कि बूर्जुआ के कानों में ढोल भी बजाओगे तो उसे सुनाई नहीं देगा क्योंकि उसके कान सोने चांदी की खनखनाहट सुनते सुनते बहरे हो चुके हैं । तुम अगर अपनी बात सुनाना चाहते हो तो प्रोलतारी वर्ग को सुनाओ क्योंकि उसके पास इस घटाटोप अन्धेरे में से निकलने वाली सुबह की उम्मीद के सिवाय कुछ भी नहीं है । तुम्हारी बातें सुन कर वह अंधेरे से डरना छोड़ देगा । अगर लेनिन और स्टालिन जो खुद शूद्र वर्ग के थे तुम्हारे गुरुजनों के उसी सदुपदेश का प्रश्रय लेते जिसका सहारा तुम ले रहे हो तो आज भी रूस की धरती पर मज़दूर, किसानों की पीठ पर ज़ारशाही के सनसनाते कोड़े बरस रहे होते, आज वहां की धरती पर इसी शूद्र वर्ग का राज्य न होता, तुम्हारा प्यारा लाल झण्डा न फहराता ।"

कुछ देर सोचता रहा, फिर बोला, "मेरे दोस्त ! इन्सानी तरक्की के इतिहास को सिलसिलेवार पढ़ना सीखने की कोशिश करो । हमें खुले तौर पर मान लेना चाहिये कि दिमाग़ी तौर पर मार्क्स के फलसफे

को सही मान लेने के बावजूद भी हमारे अन्दर विरसे में मिले सैकड़ों रूढ़िवादी कुसंस्कार मौजूद हैं। ये संस्कार जब कभी हमें गफ़लत में फंसे देखते हैं या खुदगर्ज़ी के नशे में लड़खड़ाता देखते हैं तो दिल के छिपे कोनों से निकल कर हम पर चौतरफा हमला शुरु कर देते हैं। ज़रूरत इस बात की है कि हम गफ़लत छोड़ें और इस खुदगर्ज़ी के नशे को परे फेंकें।"

कम्बख्त दलीलों में तो पेश जाने नहीं देता। अगर इसकी दलीलों में फंस कर कहीं इसकी नसीहत पर अमल कर बैठो तो फिर लो जूतियों के हार। आज तक इसने अपने पागलपन में उलझ कर बनाया क्या है? भई, थी एक लड़की, मान लो तुम्हारी उससे मुहब्बत भी थी लेकिन कौनसी कोहकाफ की परी थी कि उसी के चक्कर में उम्र गंवा दो? बीसियों उस जैसी और फिरती हैं, एक जल मरी तो क्या हुआ? लेकिन वही एक 'ना' जो पकड़ी है जनाब ने, तो आज तक 'हां' नहीं बनी। घर बसा नहीं, चार पैसे जोड़े नहीं, सलीके का पहनना ओढ़ना, खाना पीना सीखा नहीं और चले हैं शेख पीर सलीम चिश्ती के शागिर्द बनने। चलो, और कुछ नहीं तो चार भले आदमियों से दोस्ती ही कर लो किसी आड़े वक्त में काम आएंगे लेकिन वह हुनर भी नदारद। अक्लमन्दी ही क्या हुई अगर आपके तीरोनश्तर से तंग आकर दोस्त दुश्मन न बने? कहो, "भई, किसी रूठे दोस्त को चल कर मना ही लो।" जवाब मिलेगा, "देखो नरेन! मेरा दिमाग़ न चाटा करो यार? क्या खामखाह की ज़िद ले बैठते हो? मुझे अपने आप से ही फुरसत नहीं है और तुम चले हो दोस्तों के मोरपंख मेरे सिर में खोंसने! मतलब की बात किया करो यार! मुझे तुम्हारी फिजूल की बातें सुन सुन कर ज़ेहनी कोफ्त होने लगती है।" ले दे कर हम अकेले इनकी दोस्ताना नसीहतों को सुनने के लिए रह गए हैं सो जी जान लगा कर दोस्ती

निभाए जा रहे हैं। मिलते ही पूछेंगे, "क्यों भई, अब तो गृहस्थी की गाड़ी मज़े से चल रही है न?" फिर न जाने किन वीरानियों में खोए हुए फरमाएंगे, "तुम बहुत खुशकिस्मत हो यार! इन आपसी लड़ाई झगड़ों के सुनहरी मौके तुम्हारे हाथ तो लगते हैं! हमारे हिस्से में तो फराखदिल लोगों ने ये खूबसूरत लड़ाई झगड़े तक नहीं रहने दिये। सच कहता हूं जब कभी तुमसे घरेलू लड़ाई झगड़े की बात सुनता हूं तो तुम्हारी किस्मत पर रश्क होने लगता है। नरेन! तुम्हें क्या मालूम, इन्हीं लड़ाई झगड़ों की ओट में कहीं मुहब्बत परवान चढ़ती रहती है, तमन्नाएं जवान होती रहती हैं, आरज़ूएं मचलती रहती हैं, एक दूसरे पर फ़िदा होने के लिए रूहें तरसती रहती हैं।"

मैं कहता हूं कि एक बार कहीं भूल भाल कर 'ना', 'हां' में बदल जाए वही फिर पूछूंगा, "क्यों दोस्त, किस भाव बिकती है? इस लड़ाई झगड़े की ओट में मुहब्बत परवान चढ़ रही है या नफरत? तमन्नाएं जवान हो रही हैं या शकूक? आरज़ूएं मचल रही हैं या परेशानियां? रूहें तरस रही हैं या रूहें भटक रही हैं?" जानता हूं, फिर हकीकत पर अपने आदर्श का पर्दा डाल जाएगा। जो झूठ है, उसे ही सच कह कह कर मेरा दिमाग़ पागल कर देगा।

मुझे तो कुछ भी समझ में नहीं आता। अजीब कशमकश में उलझ गया हूं। इससे बेहतर था कि सेहत न संभलती, मर गया होता। इस दिन रात की परेशानी से तो छुट्टी मिलती।

कभी कभी तो जी चाहता है कि इस पागल दोस्त की नसीहतों पर ही अमल करके देख लूं तो शायद मानसिक शान्ति प्राप्त हो सके। मैंने ही अपनी करतूतों से इस मीठी गृह कलह में ज़हर घोल दिया है। नीरज ठीक ही कहता है, इसी की ओट में मुहब्बत परवान चढ़ती है।

अभी शादी हुए महीना भर ही हुआ था। काम से कहीं बाहर

गया हुआ था, शायद प्रान्तीय कान्फ्रेंस हो रही थी। एक दिन पहले ही लौट आया। लगभग दोपहर को घर पहुंचा था। मनोरमा थाली में परोस कर खाना ले आई। मैंने कहा, "तुम नहीं खाओगी मनोरमा?" कहने लगी, "अभी मुझे खाना खाए तो आध घण्टा भी नहीं हुआ है।" मैंने हंसते हुए कहा, "अजीब पतिव्रत धर्म है तुम्हारा? स्त्री, पुरुष से पहले खाना नहीं खाती। तुम तो सारे धर्म शास्त्र ही उलट पुलट किये दे रही हो।" कहने लगी, "मुझे क्या पता था कि आप आज आएंगे? कह के तो कल के लिए गए थे।"

मैंने कहा, "जो स्त्रियां पतिव्रता होती हैं उन्हें तो दूर बैठे पतियों की भी पल छिन की खबर लगती रहती है।" रूठने का अभिनय करती हुई बोली, "जो पति हर वक्त अपनी पत्नियों की बात सोचते हैं उन्हीं के बारे में यह ठीक है। तुम्हारा ध्यान तो न जाने कहां कहां उलझता फिरता होगा? फिर तुम्हें तो एक से एक पढ़ी लिखी मिलती होंगी, मुझ अनपढ़ को याद करने की फुरसत ही कहां मिलती होगी?" मैंने कहा, "देखो मनोरमा, तुम्हारी मुहब्बत से खिंचा वक्त से एक दिन पहले ही चला आया हूं?" मचलती हुई बोली, "इतनी बड़ी गाली निकालते हुए शर्म तो नहीं आती?" मैंने कहा, "तुमने ही कौनसी कसर उठा छोड़ी है?" कहने लगी, "आज से आपकी और मेरी लड़ाई, बोलना बन्द।" रात पैर दबाने बिस्तर पर बैठी तो मैंने पूछा, "लड़ाई खतम हो गई क्या?" मोती बिखेरती हुई बोली, "लड़ना मुझे आता ही कहां है? अनपढ़ जो ठहरी। आप से सीखूंगी।"

मैंने उस दिन गीत लिखा था 'हर कदम ते इक निशानी रह गई' नीरज गीत सुन कर खुशी से झूम उठा था। उसने गीत की तारीफ के पुल बांध दिए थे और उस तारीफ को सुन कर मेरी आंखों में मनोरमा से हुई मधुर कलह की तस्वीर घूम गई थी।

लेकिन ये सब तो बीती बातें हैं। उस समय की जब सितार के तार नहीं टूटे थे, दिल नहीं टूटे थे, सुर नहीं डूबे थे, बोल नहीं उखड़े थे। अब उन पुरानी बातों को याद करने से क्या फायदा? क्या मिलेगा दुखते ज़ख्मों को और दुखा कर, रिसते नासूरों को छेड़ कर, दबी चिनगारी को कुरेद कर?

मैं तो इन, यथार्थों, आदर्शों, गुरुजनों की शिक्षाओं, बुज़ुर्गों की नसीहतों, हालात की आंधियों और ज़माने की गर्दिशों की भीड़ में बुरी तरह गुम हो कर रह गया हूं। चलता चलता ऐसी जगह आ गया हूं जहां से चारों तरफ अनेकों छोटी बड़ी राहें चली गई हैं। समझ में नहीं आता किस राह पर निकल पड़ूं? डरता हूं कि ग़लती से कहीं ग़लत राह चुन बैठा तो आज तक की ज़िन्दगी की मुश्किलों को झेल कर तय किया सफर बेकार न हो जाए? कहीं अन्धेरी खाइयों में गिर आज तक के जमा किए हुए तजुर्बात की पूंजी न गंवा बैठूं? घने जंगलों में भटक भटक कर चीख चीख कर पागल न हो जाऊं? इन जलते रेगिस्तानों में दौड़ दौड़ कर प्यासा ही न मर जाऊं? क्या करूं, कहां जाऊं, किसे पूछूं, किसे दिल का भेद कहूं, कुछ समझ में नहीं आता! मुझे तो हर हाथ गले की तरफ बढ़ता दिखाई दे रहा है। कौन जाने कब किस हाथ की जकड़ गले पर मज़बूत होती जाए, और मज़बूत होती जाए?

और किसी के हाथ की जकड़ कहां है? यह तो मेरे अपने अपराध ही लगातार मेरे गले को दबाए जा रहे हैं। इनकी जकड़ से बच निकलना सर्वथा असम्भव है। मेरी हालत तो 'दास्तोवस्की' की 'क्राइम एण्ड पनिशमेंट' के 'रास्कोलनिकोव' जैसी हो गई है। ज्यों ज्यों भागता जा रहा हूं, मेरा अपराध मेरा पिछा किये जा रहा है। मेरी अपनी परछांई तक मुझे डराने लग गई है। हर व्यक्ति की निगाहें मुझ में छिपे हत्यारे को खोज निकालना चाहती हैं। नीरज

जब भी मेरी ओर देखता है, मुझ से बातें करता है तो यूं लगता है मानो मेरे दिल में छिपे पापों को टटोल रहा हो। मनोरमा जब भी देखती है तो यूं लगता है मानों जान बूझ कर मेरे गुनाहों को नज़र-अन्दाज़ कर रही है। कितनी बड़ी से बड़ी सज़ा मिल जाए लेकिन इस भीषण मानसिक यन्त्रणा से तो कहीं कम होगी। क्यों मैं डरे जा रहा हूं? क्यों नहीं सचाई को सिर झुका कर स्वीकार कर लेता? आधारहीन प्रतिष्ठा के लिए क्यों मैं अपना जीवन नष्ट किये दे रहा हूं?

उस दिन मैंने कितने गर्व से नीरज से कहा था, "तुम, मुझे अभी तक पूरी तरह नहीं जान पाए नीरज। मेरी घबराहट भी मेरे निश्चय की सूचक होती है। जब मुझ में घबराहट दिखाई देती है उस समय दरअसल मैं अपने चारों ओर की परिस्थितियों का, वातावरण का सूक्ष्म निरीक्षण कर रहा होता हूं। यही कारण है कि मेरी योजनाएं कभी निष्फल नहीं होतीं। वह बात और है कि मेरे अपने विश्वसनीय साथियों को अदूरदर्शिता के कारण मेरी योजनाओं पर सन्देह होने लगता है। वास्तविकता तभी समझ में आती है जब मेरे अनुमान शत प्रतिशत ठीक निकलते हैं, मेरी लाइन आफ एक्शन सैन्ट पर सैन्ट करैक्ट होती है और परिणाम वही होते हैं जिनकी मैंने इच्छा की होती है। 'टालस्टाय' की 'वार एण्ड पीस' का 'कुतज़ोव' सदा मेरा आदर्श रहा है। जीवन में मैंने 'कुतज़ोव' को आदर्श मान कर ही सर्वदा अग्रसर होना सीखा है। यही कारण है कि भयंकर आपत्तियों में, विषम परिस्थितियों में, प्रतिकूल वातावरण में, कटु आलोचनाओं में, सहयोगियों के सन्देहों में, विपक्षियों की सफल सी दिखाई देने वाली चालों में, मुझे कभी कभार साधारण सी घबराहट अवश्य होती है परन्तु मेरा मानसिक सन्तुलन कभी डांवाडोल नहीं होता, मस्तिष्क कभी कुण्ठित नहीं होता, चिन्तन कभी नहीं गड़बड़ाता,

साहस कभी नहीं मरता, गति कभी नहीं रुकती, क्योंकि मैं जानता हूं कि अन्त में जीत मेरी ही होगी और तब सहयोगी दांतों तले उंगलियां दिए रह जाएंगे।"

नीरज ने कहा था, "बाकी सब बातें ठीक, लेकिन कई बार 'कुतज़ोव' का सा अटल विश्वास और असीम त्याग तुम्हारी बेरुखी के कारण, तुम्हारा साथ छोड़ता सा दिखाई देता है। जब अटल विश्वास और असीम त्याग ही साथ छोड़ जाएं तो फिर शेष सभी गुण, सभी योग्यताएं, सभी दूरदर्शिताएं और कूटनीतियां या तो धरी धराई रह जाती हैं या फिर व्यक्ति अपने बिछाए जाल में खुद फंस जाता है। भई, मेरी बात मानो तो लोमड़ी वाले सौ तरीके छोड़ कर बिल्ली वाला एक ही तरीका सीख लो। विश्वास और त्याग यदि व्यक्ति के पास सुरक्षित रहें फिर किसी बात की चिन्ता किये बग़ैर आराम से सोना चाहिये।"

मैंने हंसते हुए उत्तर दिया था, "मैंने कहा न, कि मेरे साथियों और सहयोगियों तक को मुझे समझने में ग़लती लग जाती है। 'कुतज़ोव' के साथी भी अक्सर उसकी समझ पर सन्देह करने लगते थे, उसके विषय में तरह तरह की ग़लत धारणाएं मन में बनाते थे, उसे मूर्ख सेनाध्यक्ष समझते थे लेकिन वह किसी बात की ओर ध्यान न देकर सदैव सम्पूर्ण निष्ठा के साथ अपना उत्तरदायित्व निबाहने में लगा रहता था। यही कारण था कि सबकी सुनी, अनसुनी करके कार्य वह अपनी समझ के मुताबिक ही करता था। दोस्त, तुम भी अपनी रट लगाए जाओ, सुनते हम सब की हैं लेकिन करते अपने दिल की हैं। जिस दिन हमारी सफलता की ध्वनि चहुं ओर छा जाएगी तब तुम भी दोनों हाथ जोड़ कर हमें बहादुर सिपाही और दूरदर्शी मार्गदर्शक मान लोगे।"

नीरज ने कहा था, "खुदा करे तुम्हारी कैलकुलेशन्स ठीक निकलें।

फिर भी दोस्त के नाते दिल की बात बग़ैर किसी लाग लपेट के तुम्हें कह देना मेरा हक बनता है। साहसी और दूरदर्शी व्यक्तियों की आंखों में भय झांक झांक नहीं जाता। चीता बहुत खूंखार होता है न, लेकिन कायर भी बहुत होता है। यही कारण है कि हर पल वह पीछे पलट पलट कर देखता है। अपने दिल का भय ही उसे डराता रहता है। मेरे ख्याल में 'टालस्टाय' ने 'कुतज़ोव' के चरित्र को बब्बर शेर जैसी निर्भीकता दी है, न कि चीते जैसी कायरता ? हो सकता है कि मेरी धारणा ग़लत हो लेकिन जब कभी तुम्हारी आंखों में मैं भय को झांकते देखता हूं तो मुझे तुम्हारी दूरदर्शिता पर सन्देह होने लगता है। भई, मेरी बात मानो तो अपने अमूल्य समय में से कुछ नष्ट करके 'युद्ध और शान्ति' को एक बार फिर पढ़ डालो। तुम्हारी सहायता से ही 'कुतज़ोव' जैसे अमर पात्र को समझने का हमें भी सुअवसर मिल जाएगा। सच जानना, मैं 'प्रिंस वैसली' 'अनातोले' से कहीं ज़्यादा 'कुतज़ोव' के करैक्टर में इंटरेस्टिड हूं।"

मैंने हंसते हुए कहा, "हम से न उड़ो यार ? हम क्या जानते नहीं कि तुम या तो 'नटाशा' जैसे पात्र में दिलचस्पी ले सकते हो या फिर अपनी उस लेडी डॉक्टर में। 'कुतज़ोव' को तो तुमने कतई तौर पर नज़रअन्दाज़ कर दिया होगा तभी तो मुझे आज तक समझ नहीं सके ? अजी 'पीरी' साहिब के वाहिद पैरोकार नीरज साहिब, हमें बोर न कीजिए। आपको क्या, दुनिया मरे चाहे जीए आप उस कोहकाफ की परी डॉक्टर सन्ध्या के ख्यालों में खोए रहिये। लिखे जाइये लैला मजनूं और शीरी फरहाद के किस्से ! मज़दूर किसानों पर लिखने के लिए या तरक्की पसन्द रचनाएं रचने के लिए हम क्या कम हैं ?"

नीरज बोला था, "देखो भई नरेन ! जब तुम परसनल हो जाते

हो फिर बहस का मक़सद फौत हो जाता है। भई, हम पर जो भी कीचड़ उछालना हो उछाल लिया करो उस बेचारी डॉक्टर सन्ध्या को क्यों बेकार में घसीटते रहते हो? लाख बार कह चुका हूं कि उस जैसी नेक और पवित्र औरत मैंने आज तक नहीं देखी है। कोई लाइट मूड में उसके बारे में बात करे तो मुझे बहुत बुरा लगता है। चलो, छोड़ो बहस को। हमने क्या लेना देना है? तुम जीते और हम हारे। अब तो खुश हो न? कहो तो पक्के काग़ज़ पर आपकी दूरदर्शिता की स्वीकृति लिख कर दे दें।"

दूरदर्शियों के यही तो लक्षण हैं? 'कुतज़ोव' बनता बनता 'रास्कोलनिकोव' बन गया। इससे बेहतरीन और कामयाब लाइन ऑफ एक्शन का शानदार नमूना क्या हो सकता है? नीरज ने चिल्ला चिल्ला कर कहा, विश्वास जुटाओ और मैंने जुटाया अविश्वास। उसने कहा, त्यागी बनो और मैं बना लोभी। उसने कहा साहसी बनो, मैं बना कायर। उसने कहा, सुख चाहते हो तो कष्ट सहन करना सीखो और मैं कष्टों की गांठें बांध कर रखता रहा दूसरों के कन्धों पर। इसे ही तो कहते हैं असली आर्ट? जो रंग रंगों खिलेगा बैंजनी। यही तो है तरक्की पसन्द अदब? 'कुतज़ोव' का चरित्र अंकित करने बैठो तो अंकित होगा 'अनातोले'। यही तो है सफल नाटककार की प्रतिभा? 'नटाशा' को दरसाने की कोशिश करो और दर्शक 'हैलन' को देख कर वाह वाह कर उठें।

अफसोस तो यही है कि 'अपराध और दण्ड' का 'रास्कोलनिकोव' बनते भी तो नहीं बन पड़ता। अगर वही बन गया होता तो भी अमर हो जाने के लिए पर्याप्त था! नीरज ने मेरी तरह आंखों पर पट्टी नहीं बांधी थी, आंखें खोल कर चल रहा था, यथार्थ को देख रहा था तभी तो बार बार राह सुझाता रहा। जब खुद ही आंखों पर पट्टी बांध छोड़ी तो खाई में न गिरता तो कहां गिरता?

कहां से संचित करूं 'रास्कोलनिकोव' जैसा आत्मबल? शुद्ध हृदय से हृदय-मन्थन किया होता तभी तो आत्मबल का अनूठा रत्न प्राप्त होता? नीरज कहा करता है, "इस बार अमृत हाथ लगा तो वह मानव तक भी पहुंचेगा क्योंकि पहला अमृत तो देवताओं में बंटते बंटते ही समाप्त हो गया था। अब तो विष को अमृत बनाने की शक्ति भी मानव ने जुटा ली है अतः विष भी हाथ लगा तब भी भय नहीं है। हमारा कर्तव्य तो यही है कि हम निरन्तर पुरुषार्थ करते रहें हृदय-मन्थन करते रहें जो भी रत्न हाथ आएं उन्हें विश्व-कल्याण के लिए सदुपयोग में लाते रहें।"

नीरज कहा करता है, "देखो भई, पुरुषार्थ करते करते अपने अथक प्रयत्नों द्वारा मानव ने अणुशक्ति को खोज निकाला? एक बार मानव ने अग्नि को खोज निकाला था और फिर वर्षों में उसने शताब्दियों की दूरी तय कर ली थी। आज अणुशक्ति को खोज निकाला है तो निश्चित जानो कि वर्षों में सहस्राब्दियों को तय कर लेगा। शर्त यही है कि यह हृदय-मन्थन की प्रक्रिया न रुके फिर विष भी अमृत बना समझो। यदि इन्सान ने लोभ में फंस कर हिरोशिमा और नागासाकी पर अमृत में विष घोल कर बरसाया है तो वही विष तुम्हारे मार्क्सवादियों द्वारा पुनः अमृत में ढाला जाकर विश्वशान्ति की सदिच्छाओं और समुज्ज्वल प्रयासों के रूप में दुनिया भर में छिड़का भी जा रहा है। कहते हैं अमृत छिड़कते ही राम की वानर सेना पुनः जीवित हो उठी थी। आश्चर्य नहीं कि इस बार यदि यह हृदय-मन्थन चलता रहा, सदिच्छाओं और सुप्रयासों का अमृत छिड़का जाता रहा तो आज तक की मरी मानवता की सेनाएं एक बार पुनः अंगड़ाई लेकर उठ बैठें और मंज़िलों की ओर बढ़ निकलें।"

कौन है जिसने मेरी सदिच्छाओं और सुप्रयासों को अपनी कैद में

डाल दिया है ? मुझसे हृदय-मन्थन की शक्ति छीन ली है। कौन है जो मेरे अमृत में बारम्बार विष घोले जा रहा है ?

नीरज कहता है, "एक क्लास है नेकी, दूसरी है बदी। यह क्लास स्ट्रगल भी लगातार चलती रहती है। शोषक और शोषित की क्लास स्ट्रगल इसी का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। नेकी बदी की क्लास स्ट्रगल व्यक्ति, समाज, देश, महाद्वीप हर स्तर पर होती रहती है।"

एक ओर तो मैं चाहता हूं कि नेकी जीते अतः शोषितों का साथ दे रहा हूं और दूसरी ओर चाहता हूं कि व्यक्ति के अंतर में स्थित नेकी जीते परन्तु बदी का यानि शोषक का साथ दे रहा हूं। यह क्या हो गया है मुझे ? 'कुतज़ोव' बनना तो एक ओर मुझ में तो 'रास्कलोनिकोव' बनने की हिम्मत भी नहीं है।

साहित्य में 'दास्तोवस्की' का 'रास्कोलनिकोव' भी उसी तरह अमर है जैसे 'टालस्टाय' का 'कुतज़ोव'। दास्तोवस्की जैसे महान साहित्यकार ने 'रास्कोलनिकोव' जैसे कुण्ठाग्रसित, आपद्ग्रस्त, विवश, अपराधी पर हृदयमन्थन, आत्मबल, आत्म-विश्वास का अमृत छिड़क कर उसे साहित्य में युगों युगों तक अमर बना दिया है। वही कुछ तो 'रास्कोलनिकोव' ने प्राप्त किया है जो 'कुतज़ोव' में है तभी तो वह अपराधी, साहित्य में 'कुतज़ोव' की तरह अपने स्थान पर अटल और अजेय बन कर खड़ा है। 'दास्तोवस्की' का 'रास्कोलनिकोव' तो युगों युगों तक जन मानस को पवित्र करने की शक्ति रखता है। बदकिस्मती तो यह रही कि 'कुतज़ोव' का स्वांग भरने की धुन में मैं 'रास्कोलनिकोव' को समझना तक भूल गया। अगर समझता तभी तो उस पारस को छू कर सोना बनता !

अपनी किस्मत तो 'रास्कोलनिकोव' से भी गई बीती है। ज़िन्दगी भर भटकता रहा लेकिन न कोई 'सोनिया' मिली, न कोई 'राज़ुमिहिन'

मिला ! अगर 'सोनिया' सी प्रेमिका मुझे मिल पाती, 'राज़ुमिहिन' सा मित्र मिल पाता तो क्या मैं आज यूं ही दिल के वीरानों में भटक भटक कर पागल होता ?

ग़लत है, सब ग़लत है । मैं तो अपने आप से भी झूठ बोलने लग गया हूं । मनोरमा तो 'सोनिया' से भी कहीं अधिक पवित्र थी । उसके हृदय की पवित्रता में मैंने खुद ही तो कीचड़ घोल दिया ! सैंकड़ों 'राज़ुमिहिन' मिला लो तो एक नीरज जैसा मित्र बनता है लेकिन मैंने तो विश्वसनीय मित्र के विश्वास को ही छल लिया । 'सोनिया' और 'राज़ुमिहिन' को तो मैंने खुद मार डाला फिर मुझे 'रास्कोल-निकोव' सा अटल, अजेय कौन बनाता ?

मुझ से तो हज़ार दर्जे अच्छी 'रेणुका' निकली । उसकी अतुल शक्ति, असीम सामर्थ्य, अजेय विश्वास को देख कर तो दांतों तले उंगली लेनी पड़ती है । सोचा, नीरज हंसी उड़ा रहा होगा । जब उसने रेणुका का पत्र मेरे सामने रख दिया तो मेरे आश्चर्य की सीमा न रही । मैंने जिसे कलंकिनी बनाया था, वही अपने आत्मबल से, अटल निष्ठा से पुण्यमयी बन गई । मैंने तो पुण्यमयी को कलंकिनी बनाना ही सीखा है अतः मेरे जैसे कलुषित हृदय के पास रेणुका ठहरती भी तो क्यों कर ? इस मैले दिल पर ही क्या कोई अपनी मुहब्बत लुटाने बैठता ?

अपनी कायरता और भीरुता को सहनीय बनाने के लिए 'सोनिया' और 'राज़ुमिहिन' का रोना रोने बैठा हूं । जिन्हें चल निकलना होता है, वे तो रेणुका की तरह चल निकलते हैं, रोने धोने की फ़ुरसत उनके पास कहां होती है ? यह रोना धोना तो हम यथार्थ-वादियों को ही शोभा देता है !

यह शचीन कौन है ? क्या सचमुच उसने एक पतिता को बग़ैर

किसी सन्देह के, बिना घृणा के अपने हृदय में स्थान दिया होगा ? कहीं, शचीन ने यह सब जज़बात के बहाव में बह कर तो नहीं किया ? कहीं ऐसा न हो कि यह सैन्टीमैन्टलिज़्म उसकी सारी ज़िन्दगी को तबाह करके रख दे ? अगर उसने यह निर्णय सन्तुलित मन से किया है तब तो यही मानना होगा कि इन्सान देवताओं से भी कहीं अधिक ऊंचा उठ गया है। शचीन कुछ भी कहे, मैं इस देवत्व के छलावे में नहीं आ सकता। अगर ह्यूमन साइकॉलोजी सही है तो फिर यह हो ही नहीं सकता कि सब कुछ साफ साफ सुन लेने के बाद, जान लेने के बाद व्यक्ति के मन में घृणा और शंका अंकुरित न हो। शचीन भावुकता में बह कर आज भले ही न देख पाए लेकिन एक दिन उसे पता चलेगा कि रेणुका की कलंकगाथा सुनते हुए, अनजाने, अनचाहे ही किसी अज्ञात क्षण में उसके अन्तर्मन में घृणा और सन्देह के बीज गिर गए थे।

कहीं भावना में बह कर शचीन, रेणुका पर दया तो नहीं कर रहा ? रेणुका जैसी समझदार दया को प्रेम समझ कर अधिक देर तक नहीं ओढ़ सकेगी। भीख मांगने से पहले मर जाना ही उसे पसन्द आएगा। रेणुका की दृष्टि बहुत पैनी है। उसने तो पलक झपकते ही दया के यथार्थ को जान लिया होगा ? फिर उसने शचीन को जीवन साथी के रूप में कैसे स्वीकृत कर लिया ? कहीं रेणुका की यह नई चाल तो नहीं है ? कहीं उसके छल कपट के आकर्षक जाल में फंस कर शचीन अपना अमूल्य जीवन गंवा न बैठे ? रेणुका ने अपनी कलंक कथा को अवश्य ही विशेष रंगों में रंग कर सुनाया होगा। शचीन को पतन में विवशता की, पाप में अपरिपक्वता की भ्रांति हो गई होगी तभी वह बेचारा ठगा गया। अब भी एक जीवन को नष्ट होने से बचाया जा सकता है। मुझे शीघ्र ही शचीन को पत्र लिखना चाहिए ताकि वह ज़हरीली नागिन उसे डंस न बैठे ? उसने यही कहा होगा

कि वह नरेन जैसे दुष्ट द्वारा अपनी सरलता के कारण ही छली गई। मुझे शीघ्रातिशीघ्र रेणुका की काली करतूतों का भण्डा फोड़ देना चाहिये। इसमें मेरा अपना स्वार्थ तो रत्ती भर भी नहीं है। एक अमूल्य जीवन को जोकि समाज के उत्थान के लिए अत्यन्त आवश्यक है, बचाना मेरा कर्तव्य है।

ओह! मुझे क्या हो गया है? धुंधली सी बातें स्पष्ट होकर मुझे निरन्तर कोंचती जा रही हैं। कर्तव्य की आड़ लेकर मैं अपने मन की ईर्षा के इशारों पर नाच रहा हूं। रेणुका को किसी की होते देख मेरे तन बदन में आग लग गई है। नीरज ने जिस दिन पत्र दिखाया था, उससे अगले दिन ही तो मैं बीमार हुआ था? बीमार होने से पहले मैंने शचीन को पत्र लिखा तो था। रेणुका की कलंक गाथा पूरे विस्तार के साथ लिख दी थी। उसकी कलंक कथा कहां लिखी थी? अपने मन के ज़हर को कागज़ पर उंडेला था। अच्छा हुआ वह ज़हर की पुड़िया कोट की जेब में ही पड़ी रह गई, शचीन की ज़िन्दगी के मधुर रस में नहीं घुल गई। अगर यह तेज़ ज़हर शचीन की ज़िन्दगी में घुल जाता तो उस बेचारे ने मछली की तरह छटपटा कर जान गंवा ली होती!

रेणुका के पत्र में तो विश्वास के सागर लहरा रहे थे। ऐसा विश्वास, ऐसा आत्मबल, मलिन हृदय में ठहर ही कैसे सकता है? रेणुका ने अवश्य ही अपने हृदय की मलिनता, भीरुता, स्वार्थपरता को सरलता, निष्कपटता और निष्ठा के स्वच्छ जल से परे बहा दिया होगा। तभी तो वह सामर्थ्यशालिनी बन पाई। अतुल, अजेय सामर्थ्य के अभाव में कोई व्यक्ति अपने मन को दूसरे के सम्मुख खोल ही कैसे सकता है? पत्र पढ़ कर तो यूं लगता है मानों रेणुका ने अपनी सरलता, निश्छलता और विश्वास के सहारे ही शचीन को पा लिया है। संसार की कोई शक्ति, कोई आंधी रेणुका को उस

आसन से उठा नहीं सकती जहां शचीन ने उसे ला बैठाया है। विश्वास के अभाव में रेणुका कभी भी नीरज को पत्र न लिख पाती! रेणुका ने किसी की दया का सहारा नहीं लिया है, अपना अधिकार प्रमाणित कर अपना आसन ग्रहण किया है। पत्र के एक एक शब्द से असीम विश्वास के निर्झर बह रहे थे।

"जिस दिन मुझे त्याज्य समझ कर, कलंकिनी समझ कर त्याग देंगे तो भी इन पर नालिश करने नहीं निकलूंगी। इन्हें इस अग्राह्य, अपवित्र, अश्रेष्ठ पर ही मोह हो आया है तो वही भुगतें!" ये बातें क्या अविश्वास को हृदय में संजो कर कही जा सकती हैं? कहां से जुटा पाता है व्यक्ति, ऐसा आत्म विश्वास? ऐसा क्या है जो अन्य का बोध समाप्त कर देता है, युगों युगों के लिए अन्य को अपने हृदय के बन्धन में जकड़ लेता है? यह रेणुका पलक झपकते ही ऐसी शक्तिशालिनी कैसे बन गई? अगर रेणुका यह अजेय शक्ति संचित कर सकती है तो मैं क्यों नहीं कर सकता? जो भी मुझे रोके हुए है उसे परे धकेल कर, रेणुका की राह पर ही निकलना होगा तभी जीवन में वह प्राप्त हो सकेगा, जिसे प्राप्त करने के लिए आज तक भटक रहा हूं।

नीरज एक दिन 'रवि ठाकुर' की 'नाव दुर्घटना' का प्रसंग ले बैठा। कहने लगा, "नरेन! दूसरे का विश्वास प्राप्त करने के लिए इधर उधर भटकने की आवश्यकता नहीं होती। अपने मन का विश्वास ही दूसरे को सौंप देना होता है। यह अद्भुत सौंपना, पलक झपकते ही, प्राप्त करना बन जाता है!" कुछ देर सोचता रहा। पुनः बोला, 'नाव दुर्घटना' का 'रमेश', 'हेमनलिनी' से कहता है—'तुम मुझ पर अविश्वास न करना'। इतने से ही 'हेमनलिनी' सम्पूर्ण हृदय से उसे पा लेती है। कभी इधर उधर भटकने लगती है तो भी यही 'मुझ पर अविश्वास न करना' उसे ठीक राह पर ला खड़ा करता है।" अपनी

आदत के अनुसार कहते कहते कहीं खो गया। यह ख्याल आने पर कि किसी दूसरे से बात की जा रही है, चौंकता हुआ सा बोला, "नरेन ! मैं यही चाहता हूं कि तुम ऐसा ही 'रमेश' का सा विश्वास जुटाना सीख लो। फिर पलक झपकते ही आज तक के गंवाए को प्राप्त कर लो तो आश्चर्य नहीं।"

मैंने आज तक सदैव अविश्वास करना ही तो सीखा है। राजनीति में अविश्वास, मित्रों से अविश्वास, घर में अविश्वास, पत्नी से अविश्वास। मेरे मन में तो इस अविश्वास की सम्पत्ति के ढेर के ढेर लग गए हैं। और तो और मैं तो अपने आप पर ही अविश्वास करने लगा हूं। इस अविश्वास की भारी शिला ने मुझे बुरी तरह दबा लिया है ! कहां से लाऊं रेणुका सी सामर्थ्य ताकि यह भारी शिला एक ओर लुढ़क जाए, मैं स्वस्थ्य बन कर उठ बैठूं। यह सौंपने की सामर्थ्य ही मुझ में नहीं है। न 'रमेश' बन सकूंगा न 'हेमनलिनी' का विश्वास प्राप्त होगा ? नहीं, यह मन की यन्त्रणा अब मुझसे नहीं सही जाती ! जो कुछ सबसे चुरा चुरा कर हृदय में संचित किया है, उसे ही सबके सामने खोल कर रख दूंगा। फिर जो भी होना है होता रहे। जो कुछ भी होगा वह इस मन की यन्त्रणा से बहुत हलका होगा, फिर चिन्ता क्यों हो ?

मनोरमा, सोमेन को खेत पर खाना पहुंचा कर लौटी थी। अपनी आदत के अनुसार, आंख बचा कर अन्दर के कमरे की ओर लपकी जा रही थी। मैंने बिस्तर पर पड़े पड़े आवाज़ दी, "मनोरमा, सुनो तो ?" वह वहीं ठिठक गई। मैंने फिर कहा, "तुम्हीं से कह रहा हूं मनो, मेरी बात सुनो।" मनोरमा बोली कुछ नहीं, चुपचाप आकर, चारपाई के पास पड़ी पीढ़ी पर बैठ गई। बैठते बैठते उसने खाली छाबड़ी और हाथ की खाली बाल्टी को एक ओर रख दिया। सिर झुकाए पैर के अंगूठे से ज़मीन को कुरेदती रही। अचानक मेरे मुंह

से ये बोल फूट पड़े, "मनोरमा, उधार का बोझ चुकाने के लिए ही शायद मैं बच गया हूं। इतने बड़े उधार की फिक्र में, जान निकल ही कैसे सकती थी ? बहुत दिनों से मन की बात भीतर ही भीतर घुट रही थी, आज सारी चट्टानें तोड़ कर ज्वालामुखी की तरह फूट पड़ी है। मां कहती है कि भगवान बड़ा न्यायी है लेकिन मैं समझता हूं कि कभी न्याय करते करते उसे नींद आ जाती है। नींद की झोंक में उसका हिसाब किताब गड़बड़ा जाता है। अगर उसका हिसाब ठीक होता तो मुझ जैसे पापी के साथ तुम जैसी पवित्र आत्मा के भाग्य क्यों बांध देता ?" [मनोरमा अपनी रुलाई रोक न सकी, उसकी हिचकी बंध गई। मैंने कहा, "मुझे मन की बात कह लेने दो मनो, रोओ नहीं, मैं सच्चे दिल से कहता हूं कि तुमने कोई पाप नहीं किया, कोई अपराध नहीं किया। तुम आज भी गंगाजल की तरह पवित्र हो। मैं ही अपनी सनक में इस पवित्र जल में कूड़ा कर्कट घोलता रहा हूं। जानता हूं कि तुम्हारा दिल बहुत बड़ा है तभी कहने की हिम्मत कर रहा हूं। मैंने जीवन में आज तक स्वार्थ की बात ही सोची है, अपना स्वार्थ साधने के लिए बहुत पाप किए हैं, तुम्हें बहुत तकलीफें दी हैं, कभी तुम्हारे दुःख की ओर, तुम्हारे टूटे दिल की ओर ध्यान नहीं दिया। मैं अपना मांगने का अधिकार भी गंवा बैठा हूं, लेकिन तुम्हारी फराख़दिली को देख कर ही आज तुमसे मांगने बैठा हूं। अगर तुमसे बन पड़े तो मुझ गुनहगार की झोली में माफ़ी की भीख डाल देना। अगर मुझे माफ़ी मिल सकी तो फिर मैं आराम से मर सकूंगा।" मनोरमा ने रोते रोते अपना हाथ, मेरे मुंह पर रख दिया। हिचकियों भरी आवाज़ में बोली, 'गुनाहां दी पंड तां मैं हां, मेरे कोल त्वानूं माफ़ करन दी ताकत कित्थे है ? एह उलट गल कह के मैनूं शर्मिन्दा ना करो। हो सक्के तां तुसीं भुल चुक्क माफ कर देणी।" मुझे यूं लगा मानों दूर किसी घाटी में से, किसी सरल हृदया बालिका

के गीतों के बोल, हवा में तैरते हुए बहे आ रहे हैं। इन बोलों ने वर्षों की गहरी खाइयों को अपनी अतुल सामर्थ्य से पल भर में पाट दिया है।

सोचता रहा, क्या इसी मनोरमा से डर कर अपने मन के बोझ से दबा जा रहा था? अपने सन्देह के कारण इस उजली मूरत को कितना कुरूप बना कर देखता रहा? सचमुच मैं इस महान पवित्रता के योग्य कभी नहीं था, कभी नहीं हो सकूंगा। मेरे सामने सरलता, निश्छलता, पवित्रता की निर्मल शीतल धारा बहती रही और मैं अपनी आंखों पर अविश्वास और सन्देह की पट्टी बांधे, इस निर्मल धारा के किनारे प्यासा बैठा रहा, कभी भी इस पवित्र जल में डुबकी लगा कर मन की मैल न छुड़ा सका!

मैंने मनोरमा का हाथ अपने हाथों में लेते हुए कहा, "मनो, मेरी एक बात मानोगी?" मनोरमा ने आंखें उठा कर मेरी ओर देखा, उन आंखों में तृप्ति के सागर लहरा आए थे। स्वर को संयत करती हुई बोली, "तुसीं मन्नण दी कहंदे ओ, मैं तां त्वाडी गल्लां सुनण खातर तरस गई हां। तुसीं मैनूं कुज कहण जोग समझ सक्को, एदे नालों चंगे भाग होर की होणगे?" मैंने कहा, "जेड़ी गल्ल कहन लग्गा हां ओनूं टालण दी कोशिश ना करीं।" मनोरमा यकीन भरी नज़रों से मेरी ओर देखती हुई बोली, "मैनूं त्वाडे वांग गल्लां करण दी जाच नईं एं। मैं तां इन्नां जाणदी हां कि अप्पणी जान कुर्बान करके वी जे त्वाडी गल्ल पूरी कर सकां तां मेरे दिल दा बोझ कुज हल्का हो सक्केगा!" मैंने कहा, "सच जाणीं मैं तेरे लायक नहीं हां। तेरी सोने जई ज़िन्दगी रोलण तों सिवा मैं होर कुज नईं कर सकदा। मेरी खातिर तूं अपनी इस सोने वरगी ज़िन्दगी नूं तबाह करदी एं तां मेरे कोलों वेखया नईं जांदा। मेरी गल्ल नूं टालीं नां मन्नो, तूं जैल दी बण के सुखी रह सकें तां मेरे दिल दा बोझ लह जावे। मेरे सुख दी खातर ही

तूं जैल नूं चार बजुरगां विच बैठ के कबूल कर लै।" मनोरमा आंखें फाड़े मेरी ओर देखती रही, तृप्ति के सागर पलक झपकते ही सुलगते मरुस्थल बन गए। उसकी आंखों के आंसू न जाने कहां गुम हो गए? दहकती रेत के टीलों में वीरानगी नाचने लगी। मनोरमा प्यास के मारे मरती हुई सी बोली, "मैनूं ऐडी बड़ी सजा न देओ। मैं एह बरदाश्त नईं कर सकांगी, कदे वी नईं कर सकांगी। मेरी अकल नू पता नईं की हो गया सी? पागलपन विच्च मैं बहोत वड्डा गुनाह कीत्ता है लेकन सच्च जाणयो, मैं वाहेगुरु नूं हाजर नाजर जाण के कहंदी हां कि मैं संभल गई हां। तुसीं नईं जाण दे मैं किन्नियां सुक्खां सुक्ख के त्वाडी जिंदगी नूं रब्ब कोलों मुड़ मंगया ए? मैं वाहेगुरु दी सौंह खा के कहंदी हां कि मैं त्वाडी छांह नूं वेख के ही ज़िंदगी दे सारे दिन कट्ट देवांगी। मेरे गुनाहां दी ऐड्डी सख्त सजा ना देओ। मन्नया मैं अपनी नालायकी नाल त्वानूं खो दित्ता ए पर अपनी छांह ता मेरे सिर ते रैण देओ, अगर ए वी नां रही तां मैं किस दे सहारे जीवांगी?" मैंने कहा, "तूं ज़रा ठण्डे दिल नाल सोच मन्नो, तूं जेनूं ठण्डी छांह समझण दी ग़लती करदी पई एं ओह लू दे गरम झोंके दे सिवा कुज वी नईं ए। तूं अपनी बेवकूफी नाल इस तत्ती लू दे झपाटे विच आण दी सोच रई एं। मैं तैनूं इवें तबाह हुंदे, तिल तिल करके मरदेआं नईं वेख सकदा, कदे वी नईं वेख सकदा।" मनोरमा भटके हुए राही की सी घबराहट में बोली, "मैं अनपढ़, अपने कोलों कुज नईं कह सकदी। त्वाडी कही गल्ल त्वानूं मुड़के सुणांदी पई हां। तुसीं मैनूं इक वार इक गीत सुणाया सी, के बिरहा दे मारे होए दिलां दे अंजुआं नूं छू के ततड़िआं हवावां वी ठण्डीआं हवावां बण जांदियां ने। मैं तां त्वाडे गीत नूं रट रट के ततड़िआं हवावां ई रब्ब कोलों मंगियां नें। वाहेगुरु ने मेहर करके अगर मेरे मन दी मुराद पूरी करे इ दित्ती ए तां तुसीं मेरे कोलों ओनूं

खोण दी सोचदे पए ओ। मैं त्वाडे अग्गे हथ जोड़ दी पई हां मेरे कोलों एनां तत्तियां हवावां नूं ना खोओ, मेरे लई तां एहो इ सुरगां दियां हवावां ने।"

मनोरमा की बातें सुन मुझे नीरज की कही बात का ख्याल हो आया। एक दिन हंसी हंसी में बोला, "यार, एक हास्य कथा इस बार लिख डाली है।" मैंने कहा, "तुम्हारा दिल और हंसी दो आपोज़िट पोल हैं। खैर, सुनाओ तो सही, हम भी देखें कि इस हास्यरस की तुम्हारे चक्कर में फंस कर क्या दुर्गत बनी है?" कहने लगा, "भई, तुम यकीन नहीं कर रहे हो तो न सही। इस बार हमने साबित कर दिया है कि हम हास्यरस की रचनाएं भी रच सकते हैं।" मैंने कहा, "अच्छा, वक्त ज़ाया न करो और झटपट सुना डालो।" नीरज अपनी रचना पढ़ने लगा।

एक तिब्बती भिखारी की कहानी थी। औरतों के से लिबास में बेचारा शहर के शैतान लड़कों के काबू आ गया था। लड़कों ने उसे बाज़ार के लोगों के लिए बग़ैर टिकट का सिनेमा बना कर रख दिया था। कहानी सुनते सुनते मैं भी अपनी हंसी न रोक सका। लड़के उसे छेड़ते वह उनकी ओर लपकता तो वे भाग खड़े होते। भागते भागते अचानक एक लड़का ठोकर खाकर गिर पड़ा, उसके घुटने से खून बहने लगा। उस तिब्बती की आंखों में अचानक आंसू छलछला आए। उसे अपने बच्चे और बीवी का ख्याल हो आया था जिन्हें उसके इलाके के जागीरदार ने अपना ग़ुलाम बना लिया था। फिर एक दिन किसी छोटे से कसूर पर जागीरदार के कारिन्दे ने उसके दस साल के बच्चे को इस बुरी तरह पीट डाला था कि उसकी पीठ से खून बहने लगा था। उस बच्चे की मां ने रहम की भीख मांगी थी तो कारिन्दे ने दो चार कोड़े उसकी पीठ पर भी जड़ दिए थे। औरत

अपने खाविन्द की ओर दर्द भरी आंखों से देखती रही थी, वह उन आंखों के दर्द को सह नहीं सका था, उसने एक बार कारिन्दे की ओर देखा था और फिर अपनी नज़र झुका ली थी। रात को वह जागीरदार की कैद से बच निकला था और फिर उसने उस ओर मुंह नहीं किया था। उसे अपनी बीवी की याद आती, अपने बच्चे की याद आती, वह पीछे लौटना चाहता लेकिन फिर उसकी आंखों के सामने सनसनाते कोड़े घूम जाते और वह भीख मांगता हुआ आगे और आगे चल देता। जब किसी बच्चे को रोते देखता तो उसे अपने बच्चे की याद हो आती, जब किसी मज़दूर औरत को सड़क के किनारे पत्थर कूटते देखता तो उसकी आंखों में अपनी औरत का चेहरा घूम जाता।

बच्चे के घुटने से खून बहते देख उसे अपने बच्चे की पीठ का ज़ख्म याद आ गया था और उसकी आंखें छलछला आई थीं। उसने अपना डमरू बजा कर अपनी ज़ुबान में एक गीत गाना शुरू कर दिया था। बच्चे शरारत करने की बात भूल उसके चारों ओर जमा हो गए थे। वे उसकी ज़ुबान नहीं समझ रहे थे लेकिन चुपचाप खड़े थे क्योंकि वे उसके दिल को समझ रहे थे और दिल की ज़ुबान ऐसी होती है कि इसे समझने के लिए किसी लम्बी चौड़ी तालीम की ज़रूरत नहीं होती, पढ़े लिखे और अनपढ़, बच्चे और बूढ़े, जवान और अधेड़, काले और गोरे, औरत और मर्द, सभी दिल की ज़ुबान को आसानी से समझ सकते हैं।

तिब्बती गा रहा था—'इस बच्चे की मां से कहना कि मैं भिखारी हूं, जागीरदार का कारिन्दा नहीं हूं। मुझे बच्चे बहुत प्यारे लगते हैं मैं उन पर कोड़े नहीं बरसा सकता। इस बच्चे की मां से कहना कि मुझे माफ कर दे। मैं जानता हूं कि इस सुन्दर बच्चे की मां मुझ

भिखारी और परदेसी को ज़रूर माफ कर देगी क्योंकि हर औरत का दिल परमात्मा सिर्फ माफ करने के लिए ही घड़ते हैं ।'

मनोरमा ने न केवल मुझे क्षमा कर दिया था अपितु मेरे खोये हुए विश्वास को मुझे पुनः लौटा दिया था। मनोरमा कह रही थी, "त्वानूं मेरी कसम ए जे फेर इहां दी गल्ल आखो। मैं त्वाडे कोलों होर कुज नहीं चाहांगी पर मेरे तों अपनी सेवा करण दा हक ना खोओ।"

मुद्दतों से प्यासी और सूखी धरती पर बादल घिर आए थे, बरस बरस के वर्षों से प्यासी धरती की प्यास हर रहे थे। बरसती आग के कारण सूखी धरती के सीने पर पड़ी दरारें अमृत रस में सराबोर होकर मिट रही थीं। भटकते दिलों ने एक दूसरे को ढूंढ़ लिया था, आत्मा ने आत्मा की पुकार सुन ली थी। माहौल के हाथों पिट कर भागे हुए इन्सान ने कारिन्दों के हाथ से कोड़े छीन कर परे फेंक दिए थे और एक बार फिर से माहौल को अपने सांचे में ढालने के इरादे उसके दिल में मचल रहे थे।

अचानक मुझे बिसरी बात याद हो आई। मैंने कहा, "मनोरमा, मेरे कोट की जेब में एक लिफाफा पड़ा था। ज़रा ला तो देना।" मनोरमा ने कहा, "जो बीमार होने से पहले लिखा सी ओही ना?" मैंने कहा, "हां।" कहने लगी, "ओह क्या अब तक जेब में पड़ा है। ओह तां मैं अगले दिन ही लैटरबॉक्स में डाल आई सी।" मेरे चेहरे की खुशी पलक झपकते ही मिट गई थी। मनोरमा मेरे चेहरे को देख भय से कांप गई थी। डरती हुई बोली थी, "कोई गलती हो गई है क्या?" मैंने संभलने की कोशिश करते हुए कहा था, "नहीं, वह ख़त अभी अधूरा था। खैर कोई बात नहीं, ज़रा कागज़ कलम उठा देना, अभी दूसरा ख़त लिखे देता हूं।" मनोरमा ने कहा था,

"ऐसी भी क्या जल्दी है, सेहत ज़रा होर ठीक हो लवे फेर लिख देना।" मैंने कहा था, "ज़िद न करो, मुझे जल्दी काग़ज़ कलम ला दो। तुम नहीं जानतीं कि यह ख़त लिखना कितना ज़रूरी है।" मनोरमा चुपचाप कागज़ कलम दे गई थी और किसी गहरी सोच में डूबी कमरे से बाहर चली गई थी।

मां गुरुद्वारे से लौट कर आईं तो मनोरमा मां से कह रही थी, "मां जी, इनां नूं समझाओ कि हुणे इ लिखन पढ़न दा कम्म ना करया करन। मसीं मसीं ता सेहत ठीक होइ ए किते फेर बिमार पै गए तां होर मुश्किल हो जावेगी।" फिर बोली, "मां जी, हुण एह ठीक हो गए ने, मैं माता दियां कंजकां सुक्खियां सी। जद तुसीं आक्खो उदे इ कंजकां पूज दइये। मां जी, सुक्ख छेत्ती ही पूरी करणी चाहीदी ए।"

खत लिख कर सोचता रहा कि इस ख़त से क्या होगा? अब तक तो वह ज़हर शचीन की रग रग में समा चुका होगा। बेचारे ने दम तोड़ दिया होगा। यह क्या कर डाला मैंने? मन ही मन दुआएं मांगता रहा कि वह खत कहीं बीच राह में ही गुम हो जाए, शचीन तक कभी न पहुंच सके। नीरज की बात याद आती रही, "ईर्षा की आग दूसरे को तो जलाती ही है, व्यक्ति खुद भी उस आग से बच नहीं पाता। किसी को जलाने से पहले व्यक्ति स्वयं उस आग में जल मरता है।"

मनोरमा का इसमें क्या दोष? इस भोली भाली गांव की औरत को क्या खबर कि खतों में सिर्फ मुहब्बत के पैग़ाम ही नहीं होते नफरत का ज़हर भी हो सकता है। ख़त, वर्षा की फुहार की तरह दिलों को भिगोते ही नहीं बल्कि बिजली बन कर दिलों पर गिरा भी करते हैं। अब तक तो बिजली गिर चुकी होगी, आबाद होने से पहले आशियां

बरबाद हो चुका होगा। सचमुच भगवान न्याय करते करते सो जाता है। तभी तो मुझ पापी का उजड़ा आशियां आबाद हो जाता है और शचीन बाबू जैसे धर्मात्मा का घर बसने से पहले उजड़ जाता है।

सोचा, ख़त तो डाल ही देना चाहिये। किसी का कुछ बने या न बने अपने दिल का बोझ तो हल्का हो सकेगा। मनोरमा दूसरा ख़त भी लैटरबॉक्स में डाल आई। इस बदली के बरसने से बहुत पहले बिजली गिर चुकी होगी। नीरज मिलेगा तो उससे सब कुछ साफ साफ कह दूंगा, वही शायद कोई ऐसी तरकीब निकाल सके जिससे उलझी गुत्थी सुलझ सके।

अगले दिन मनोरमा चर्खा ले कर कातने बैठी थी। चर्खा कातते कातते धीमी आवाज़ में गा रही थी, "चरखे ते बैठयां कुड़े मैनूं चढ़ चढ़ जावे अज साह—मां मैनूं वट्टे घूरियां देखां कोठे उत्ते चढ़ के जो राह—चुन्नी किते खंब बण जाए जी करे मेरा उड पुड जां—नी अज साडे औस आणा जेदा संगदी लवां ना नां।"

मैं सोचता रहा, मनोरमा से ये गीत किसने छीन लिए थे? हम सब वही हैं, फिर भी सब कुछ बदल क्यों गया है? ये मरे हुए गीत आज पलक झपकते ही जी कैसे उठे हैं?

नीरज की बात दिमाग़ में घूम रही है, "नरेन, नेकी एक क्लास है, बदी दूसरी क्लास है। शोषक और शोषित का संघर्ष उस बड़े संघर्ष की ही एक महत्त्व पूर्ण कड़ी है। भई मैं हैरान हूं तुम्हारी अक्ल पर? बाहर की जंग में तुम शोषित का साथ देते हो लेकिन दिल के भीतर की जंग में तुम शोषक का साथ देने लगते हो! तभी मामला गड़बड़ा जाता है।"

ये गीत इसलिए जी उठे हैं क्योंकि मैंने ज़िन्दगी के हर क्षेत्र में

चाहे वह व्यक्तिगत हो या सामाजिक, बाहर का हो या भीतर का, शोषित का साथ देना शुरू कर दिया है। यही कारण है कई वर्षों की थकन मुंह छिपा कर किसी गुमनाम कोने में जा छिपी है। चारों ओर आशा है, विश्वास है, सामर्थ्य है, मंज़िलों तक पहुंच जाने की हिम्मत है, हौसला है, लगन है।

बहुत दिनों से एक लाइन दिमाग़ में घूम रही थी—'मौत ही है, जो कुछ है—ज़िन्दगी छलावा है।'' आज अचानक ही दिमाग़ में उस लाइन ने नई शकल इख्तियार कर ली है—'ज़िन्दगी मुसलसल है—मौत बस पड़ाव है।' उधर मनोरमा धीमी आवाज़ में गाए जा रही है और इधर मैं लगातार इस लाइन को दिल ही दिल में दोहराए जा रहा हूं। इसके साथ और कितनी ही लाइनें जुड़ती जा रही हैं। टूटे तार जुड़ गए हैं, खोए सुर मिल गए हैं, बिसरे बोल इधर उधर भटक कर घर लौट आए हैं और मैं मन ही मन सोच रहा हूं कि अगर मैं इस संघर्ष में हर कदम पर ईमानदार रहा, शोषित का साथ देता रहा तो किसकी मजाल है कि इन जुड़े तारों को फिर तोड़ डाले ?

नीरज अक्सर कहा करता है, ''भई, तुम्हारा दिमाग़ तो गज़ब का है लेकिन इस पर अजीब सा ग्रहण लग गया है। सूरज की तरह रोशन दिमाग़ और चांद की तरह उजला दिल अगर ग्रसित अवस्था में रहा तो लोगों को रोशनी की जगह अन्धेरा और चांदनी के नाम पर स्याही ही नसीब होगी। जब देखो मौत के तराने गाते रहते हो, कोई ज़िन्दगी का गीत भी लिखा करो।''

नीरज मिलेगा तो उससे कहूंगा, ''निराशा, सन्देह और अविश्वास के टूटे साज़ पर कितने ही ज़िन्दगी के गीत गा लो, उन्हें मौत के गीत बनते देर नहीं लगती। दोस्त, मेरा खोया साज़ मुझे फिर से मिल गया है। आशा, विश्वास और आस्था के तारों पर मेरा हर गीत ज़िन्दगी का गीत बन कर गूंज उठेगा। जिस दिल के सुरों पर मैं गाया करता

था वही परिस्थितियों, वासनाओं, कुण्ठाओं, विक्षिप्तताओं, विवशताओं, विषमताओं की भीड़ में कहीं गुम हो गया था। मैं बहुत खुशकिस्मत हूं कि मुझे मनोरमा की शकल में 'सोनिया' और तुम्हारी शकल में 'राज़ुमिह्नि' मिल गया है। अब इस 'रास्कोलनिकोव' की कहानी वहां से शुरु होगी जहां पर लाकर 'दास्तोवस्की' ने इसे छोड़ दिया था। मनोरमा और तुम्हारे प्रयत्नों से आज मुझे मेरा खोया हुआ दिल मिल गया है, मेरे सुर मेरे पास लौट आए हैं। यकीन के साज़ पर मुहब्बत की धुनें मैंने छेड़ दी हैं, अब मुझ से रूठ कर गए गीत फिर मेरे पास चले आएंगे, इन ज़िन्दगी के गीतों को कोई भी मुझ से छीन नहीं सकेगा।"

नीरज कहा करता है, "तुम से क्या छिपाऊं नरेन, कई बार दिल घबरा उठता है, फिर इस आशा के सहारे कदम बढ़ते रहते हैं कि जितनी राह कट जाए वही गनीमत। अपनी ज़िन्दगी में हम आने वालों की राहें सहल बना जाएं हमारे अहोभाग्य!"

यह घबराहट तब होती है जब चलते चलते राही की राह बोझिल हो उठती है, उसके पांव, लम्बे और मुश्किल सफर को देख थकने लगते हैं। मैं तो अपने युग का गीतकार हूं, गायक हूं। ऐसे गीत लिखूंगा कि राही अपनी थकन भूल कर नये उत्साह के साथ मंज़िलों की ओर बढ़ निकलें, ऐसे स्वर छेड़ूंगा कि मुश्किलें मुसाफिरों की हिम्मत देख सुगमताएं बन जाएं। लोग चलेंगे तो मैं उनके साथ गाता हुआ चलूंगा, लोग किसी पड़ाव पर सुस्ताने बैठेंगे तो मैं बैठ कर उनके लिए नए गीत रचूंगा। जीवन के बहुत से अनमोल दिन रो धो कर बरबाद कर दिए। अब तो ऐसे गीत गा जाऊंगा जो मेरे बाद भी फिज़ाओं में गूंजते रहें, युगों युगों तक पथिकों की थकन हरते रहें, मंज़िलें सहल होती रहें।

● ● ●

★रेणुका

शचीन बाबू 'रवीन्द्रनाथ ठाकुर' की 'नाव दुर्घटना' का हिन्दी अनुवाद मेरे लिए ले आए थे। हमेशा इसी पुस्तक में मन रमा रहता। शचीन बाबू कॉलिज से लौटने पर, मुझे 'नाव दुर्घटना' में उलझा देख कर कहते, "अब तो तुम नीरस उपन्यासों में भी रस खोजने लगी हो। इस रस में डूबने के बाद, चाय पीने की इच्छा लगभग समाप्त हो जाती होगी। तभी चाय की बात भूली रहती हो।" मैं झेंपती सी चाय बनाने के लिए उठ खड़ी होती।

मुझे यूं लगता कि शचीन बाबू ने जान बूझ कर ही, वह उपन्यास मेरे हाथों में थमा दिया था ताकि उसी के माध्यम से मैं अपने को पवित्र और सशक्त बना सकूं। उपन्यास पढ़ते पढ़ते मुझे यूं अनुभव होता मानों मैं उपन्यास में खुद भी समा गई हूं। उपन्यास पढ़ कर समाप्त किया तो मस्तिष्क में असंख्यों तस्वीरें बनती बिगड़ती रहीं, मन में भूकम्प सा मच गया। मन के भीतर बैठा कोई कहने लगा, "उपन्यास पढ़ने से क्या लाभ अगर इतना सब कुछ पढ़ कर भी तू स्वार्थी और कपटी बनी रही?"

शचीन बाबू स्टडी रूम में बैठे किसी इतिहास की पुस्तक में उलझे हुए थे। माता जी अपने कमरे में बैठीं शायद गीता पाठ कर रही थीं। मैं किसी अज्ञात् शक्ति से प्रेरित शचीन बाबू के कमरे में जा पहुंची। मेरे पहुंचने पर उनका ध्यान पुस्तक से उचट गया। मेरी ओर देखते हुए बोले, "क्या बात है रेणु?" मैं कुछ भी बोल नहीं सकी, सामने पड़ी कुर्सी पर बैठ गई। मेरी ओर देखते हुए बोले, "जो भी मन में

सोच कर आई हो झटपट कह डालो। मन की मन में रख कर सोओगी तो व्यर्थ की परेशानी में उलझोगी।" अचानक मेरे मुंह से शब्द फूट पड़े, "कहना मैं यही चाहती हूं कि मैं······मैं" बात मेरे गले में अटक गई। वे बोले, "कहो न, क्या कहना चाहती हो? अगर नहीं कहोगी तो मैं अपने आपको बहुत अभाग्यशाली समझूंगा।" मैं इतना ही कह पाई, "शचीन बाबू, मैं बहुत बुरी हूं, पापिन हूं, मैं कलंकिनी हूं। आपको—आपको मुझ से दूर रहना चाहिये। मेरा यहां से चले जाना ही······" कहते कहते मेरी आवाज़ भर आई। शचीन बाबू बोले, "देखो रेणु, मुझे बात स्पष्ट रूप में कहने की ही आदत है। मैं नहीं जानता कि पाप और कलंक किसे कहते हैं? इन बातों को सांसारिक प्राणियों की तरह विस्तार से जान लेने का सुअवसर मुझे कभी प्राप्त नहीं हुआ। अगर पाप और कलंक में डूब कर व्यक्ति तुम्हारी तरह ही बन पाता है तो मुझसे यही कहते बनता है कि मुझे पाप और कलंक ही प्रिय हैं।" मेरी आंखों से टपटप आंसू गिरने लगे। मैंने रुंधे स्वर में कहा, "मैं जिस भी घर में कदम रखती हूं, वही घर मेरे पाप और कलंक की लपटों में जलने लगता है। मेरी समझ में तो कुछ भी नहीं आता कि मैं इतनी स्वार्थिन क्यों बन गई हूं? जिस घर में मुझे प्रश्रय मिलता है उसे ही जलाने लगती हूं।" शचीन बाबू गम्भीर स्वर में बोले, "घर, पाप और कलंक से नहीं जलते। जलते हैं हम लोगों के सन्देह और अविश्वास से। या फिर जलते हैं हम लोगों के अहंकार और स्वार्थ से। रेणु, पाप और कलंक का स्वतन्त्र अस्तित्व विश्व में कहीं नहीं है। जब हम किसी को पापी और कलंकी कह कर अपमानित करते हैं तो यह भूल जाते हैं कि उस पाप और कलंक के बीज हमारे मन में ही कहीं छिपे रहते हैं। हम जब अविश्वास को हृदय में धारण कर प्रेम का स्पर्श करते हैं तभी पाप की उत्पत्ति होती है, अहंकार और स्वार्थ की अथाह गहराइयों में डूबते हुए हमें

दया और त्याग में ही कलंक का बोध होने लगता है। पाप और कलंक हैं सर्वथा अस्तित्वहीन। जो अस्तित्वहीन है वह किसी को जला ही कैसे सकता है? लोगों के जलते घरों की रक्षा के लिए इस अविश्वास और सन्देह को, अहंकार और स्वार्थ को ही परे फेंकने की आवश्यकता है। इन्हें परे फेंक देने पर पाप को पुण्य और कलंक को गौरव बनते विलम्ब नहीं होता।"

मैं चुपचाप बैठी, मन्त्रमुग्ध सी शचीन बाबू की बातों को सुनती रही। सुन सुन कर अघाती रहती, गुन गुन कर सहेजती रही। शचीन बाबू के कहने में न तो नरेन का सा दम्भ था और न नीरज भैया की सी अहमन्यता। यूं लगा मानों आत्मचिन्तन में लीन व्यक्ति अपने मन से ही वार्तालाप कर रहा हो। मुझे चुप देख कर बोले, "अब इस घर से भाग कर जाना चाहोगी तो भी भागने की गुञ्जाइश नहीं है। भाग निकलने के सभी द्वार मैंने बन्द कर दिये हैं। माता जी सुदीर्घ काल से घर में एक सुशील बहू लाने की सोच रही थीं। बहुत खोजने पर भी जो कहीं नहीं मिली, वही भटकती भटकाती असीम पुण्यों को अपने छोर से बांधे अपने ही घर लौट आई है। तुमसे बग़ैर पूछे मैंने माता जी से अपने मन की बात कुछ दिन हुए कह दी थी। तुमसे पूछने की आवश्यकता मैंने समझी भी नहीं। जानता हूं कि मेरा चाहना, तुम्हारे चाहे बग़ैर नहीं है। सोचता हूं कि इन वायदों और स्वीकृतियों के प्रतिज्ञा पत्रों में कई बार मन की बात गुम होकर रह जाती है अतः इन प्रतिज्ञा पत्रों के चक्कर से बच निकलना ही श्रेयस्कर है।"

कुछ देर खिड़की से बाहर फैले अंधेरे की ओर देखते रहे, मन ही मन कुछ सोचते रहे। फिर बोले, "रेणु, अपने पाप और कलंक को व्यर्थ का भार समझ कर फेंक मत देना। इस पाप और कलंक में

अत्यधिक सामर्थ्य निहित है। मुझ में जो कूड़ा कर्कट है उसे धो कर स्वच्छ कर पाना पुण्य और गौरव की सामर्थ्य से बाहर है। मेरे मन की मैल को तुम्हारे पाप और कलंक ही धो सकेंगे। देखो रेणु, तुम्हारे पाप और कलंक आज से मेरे हुए, इन्हें मुझ से छीनने का प्रयत्न कभी न करना। इन मणि मुक्ताओं का मूल्य चुकाने की सामर्थ्य मुझ दरिद्र में नहीं है, फिर भी बिना मूल्य चुकाए ही इन मणि मुक्ताओं को तुम से छीने ले रहा हूं। जानता हूं तुम अपनी विशाल हृदयता के कारण इस हानि का लेखा जोखा करने कभी नहीं बैठोगी।"

मेरे हृदय का तूफान पलकों के बांध तोड़ कर पूर्ण वेग से बह निकला। मैंने कहा, "यह आप क्या कर रहे हैं शचीन बाबू? मैं 'नाव दुर्घटना' की 'कमला' नहीं हूं, कभी नहीं बन सकूंगी, कभी नहीं बन सकूंगी।"

उस दिन पहली बार मैंने शचीन बाबू के उमड़ते हृदय को देखा था। स्वर को संयत करते हुए बोले थे, "तुम नहीं जानती रेणु, 'रवि ठाकुर' की 'कमला' नहीं बदली है 'नलिनाक्ष' ही बदल गए हैं। नलिनाक्षों के आस्थाविहीन हृदयों में अपने प्रतिबिम्ब देख कर बेचारी कमलाओं को अपने होने में ही भ्रम होने लगता है। न वे विश्वास भरे मन रह गए हैं और न कमलाएं ही अपना स्थान ग्रहण कर पाती हैं। अपने घरों में ही ये बेचारी कमलाएं, प्रवासिनी बनी जीवन भर तिल तिल कर जलती रहती हैं और आस्था विहीन नलिनाक्ष वीरानों में भटकते कमला कमला पुकारते फिरते हैं। तुम जो कुछ हो वही तो 'कमला' हो। इस बनने के चक्कर में मत उलझना। जिस दिन बनने का प्रयत्न करोगी उस दिन ही तुम्हारे अभाग्य का दिन शुरु होगा। प्रयत्न करना है तो यही करो कि नलिनाक्ष अपनी खोई आस्था को मन में पुनः संचित कर सकें। इन पापों और कलंकों

को छिपाने और फेंकने का प्रयत्न मत करो, इन्हें देख समझ कर ही किसी दिन नलिनाक्ष अपनी खोई आस्था को पुनः प्राप्त कर सकेंगे। इन पापों और कलंकों के ढेर के नीचे दबी आस्था उन्हें किसी दिन दिखाई दे जाएगी।"

मैंने मन ही मन सोचा था, "इनकी किस्मत! इन्हें इस अग्राह्य, अपवित्र, अश्रेष्ठ पर ही मोह हो आया है तो वही भुगतें। मुझ अभागिन को इन्होंने जो कुछ दे दिया है, मैं तो उसी के सहारे जीवन काट दूंगी। इतना अधिक मुझे आज तक मिला ही कहां था? जिस दिन भी मुझे त्याज्य कह कर, कलंकिनी समझ कर त्याग देंगे मैं सहर्ष स्वीकार कर लूंगी।"

उठते हुए मैंने दोनों हाथ जोड़ दिये। कहा, "शचीन बाबू, मेरी सोचने समझने की शक्ति जाती रही है। मैं नहीं जानती कि जो कुछ आपने निश्चय किया है, वह ठीक है या गलत। बस इतना जानती हूं कि आप पर मुझे अपने से भी कहीं अधिक विश्वास है। मेरा मन कहता है कि आप जब भी सोचेंगे मेरे हित की ही बात सोचेंगे। मेरा अहित आप स्वप्न में भी नहीं सोच सकेंगे। आपने आज जो निश्चय किया है उसे मैंने आंखें बंद करके स्वीकार लिया है, कल यदि इस निश्चय में आप कुछ परिवर्तन करेंगे वह भी मुझे इसी प्रकार आंखें बन्द किए ग्राह्य होगा।" कहते कहते मेरी आवाज़ कांप गई।

शचीन बाबू बोले, "ज़रा मेरी ओर देखो तो?" मेरी आंखें अचानक ही उनकी ओर उठ गईं। मेरी ओर देखते हुए बोले, "रेणु आज से तुम मेरी गुरु हुईं। किसी दिन आंखें बन्द करके स्वीकार करने की बात भूलने लगूं तो भूली बात को याद करा देने का उत्तरदायित्व आज से तुम पर छोड़ता हूं।" मैं इतने अधिक सुख को अपने हृदय में समेट नहीं पा रही थी। मैं वहां अधिक देर खड़ी

न रह सकी अपने कमरे में लौट आई। आंखें बन्द किये उस असीम सुख राशि को हृदय में सहेजती रही। शचीन बाबू गुनगुना रहे थे—'अलस वेलार खेलार साथी एबार आमार हृदय टाने—बिना काजेर डाक पड़े छे केन जे ता केइ बा जाने।' सुनते सुनते आंखों में प्रेमाश्रु उमड़ आए, मेरी स्वप्निल सुमधुर सुधियों पर अमृत बरसाते रहे।

उन्हीं सुधियों में डूबता उतराता, अकस्मात् नरेन का चेहरा दिखाई देने लगा। पागल सा, खण्डहरों में भटकता, वीरानों में मनोरमा मनोरमा पुकारता, किसी पत्थर की सिल को मनोरमा कह कर छूता, उसके चुप रहने पर उसी शिला पर सिर पटक पटक कर रोने लगता। मेरी आंखों में झांकते हुए कहता, "माना कि तुम सब कुछ कर लोगी लेकिन मेरी किस्मत के लिखे को कैसे मिटा सकोगी ?" फिर डूबती सी आवाज़ सुनाई देती, "रेणु, दुःख भरी कहानी को जीवन में कितना ही दोहराया जाए, वह सुख की सृष्टि नहीं करती। तुम फिर कान खोल कर सुन लो, दुख भरी कहानी की पुनरावृत्ति में तुम सुख खोजने के लाख जतन करोगी तब भी दुःख के सिवाय कुछ हाथ नहीं लगेगा।

मन में नरेन के लिए दया उमड़ आई। सोचती रही, बेचारा न जाने किस हाल में होगा ? कई वर्षों से उसका गीत तक भी किसी पत्रिका में दिखाई नहीं दिया। मैंने भी तो आज तक उसकी खोज खबर नहीं ली। मुझे तो अपने मन के सन्देह और भय ही डराते रहे, मैं उसे पत्र क्या लिखती ? शचीन बाबू से पूछ कर उसे पत्र लिखूंगी। पत्र में शचीन बाबू की बात ही दोहराऊंगी, "नरेन, तुम खण्डहरों में क्यों भटक रहे हो ? तुम्हारी मनोरमा तो तुम्हारे अपने घर में प्रवासिनी बन कर तिल तिल जले जा रही है। तुम वीरानों में भटकना छोड़ अपने घर लौट जाओ, आस्था के उजाले से घर को आलोकित कर दो। तुम्हारी खोई मनोरमा मिलते तुम्हें देर नहीं लगेगी।"

क्या खबर कि मनोरमा को उसने खोज ही निकाला हो ? मेरा पत्र कहीं उसके संतुलित मन को पुनः विक्षिप्त न कर दे ? उसके जीवन की सुलझी राहें उस विक्षिप्तता में कहीं फिर न भटक जाएं ? मेरी सहानुभूति और दया के कहीं वह गलत अर्थ न लगा बैठे ? उसे बचाते बचाते कहीं मैं ही न डूब जाऊं ? प्रवीण को सहानुभूति और दया देते समय भी तो इसी तरह डूबी थी। न उसे पत्र लिखती न वह ऊटपटांग उत्तर देता और न नरेन के मन में सन्देह का बीज अंकुरित होता ? दुःख भरी कहानी को दोहराते दोहराते कहीं फिर वही कुछ हाथ न लगे जिसका डर है। नीरज भैया से ही नरेन की बाबत पूछूंगी।

नहीं उनसे भी नहीं पूछूंगी। वे इसी को लेकर बाल की खाल उतारने बैठ जाएंगे। अपने तर्कों से झूठ को सच बना डालेंगे। उन्हें केवल अपने अशुभ विवाह पर पहुंचने का निमन्त्रण दूंगी और कुछ नहीं लिखूंगी। नरेन के विषय में पूछने पर सोचेंगे कि मैं शचीन बाबू के जीवन में भी विष घोलना चाहती हूं। सोचेंगे क्या, एक लम्बा चौड़ा उपदेश भरा पत्र लिख डालेंगे। उस पत्र को देख शचीन बाबू न जाने किन किन उलझनों में फंसते फिरेंगे ? भगवान ने यदि मेरी उलझनों को सुलझा दिया है तो नरेन की उलझनों को सुलझते भी देर नहीं लगेगी।

परन्तु नरेन ने तो उलझनों से ही मन बहलाना सीख लिया है। जिसने पुरुषार्थ छोड़ दिया हो, हिम्मत हार दी हो, मन का संतुलन गंवा दिया हो वह भटक भटक कर जान देने के अतिरिक्त कुछ भी तो नहीं कर सकेगा। मुझे तो कुछ भी समझ में नहीं आता। शचीन बाबू से सब कुछ साफ साफ कहना होगा, वही कोई राह सुझा सकेंगे।

नीरज भैया भी मेरे पत्र के न जाने क्या क्या अर्थ लगाएंगे ? यही सोचेंगे कि मेरे बाह्य आकर्षण में उलझ कर एक और व्यक्ति अपना

जीवन नष्ट करने के लिए तत्पर है। समझेंगे, शचीन बाबू स्वयं नहीं उलझे होंगे, रेणुका ने ही उन्हें अपने जाल में फंसाया होगा। यदि कहीं मेरे पत्र की चर्चा डॉक्टर सन्ध्या से कर बैठे तो इस अशुभ समाचार को सुन कर डॉक्टर सन्ध्या नाक चढ़ाती हुई कहेंगी, "मैं कहती नहीं थी कि इन पापियों को जितना भी कठोर दण्ड दिया जाये वही कम है। देख रहे हैं न आप अपनी विशाल हृदयता के महादान का पुण्य फल? एक और घर इस दुराचार की लपटों में घिर रहा है कि नहीं? अगर उसी समय इन दुष्टात्माओं को इनके पापों का दण्ड मिल गया होता तो आज यह नौबत क्यों आती?" नीरज भैया कुछ उत्तर देंगे तो रोब जमाती हुई कहेंगी, "हर जगह अपना आदर्श मत छांटा कीजिये, कभी कभी हम कमअक्लों की मदद से भी दुनिया को समझने की कोशिश किया कीजिये। लातों के भूत बातों से नहीं मानते और आपकी तो बातें भी हम औरतों की तरह नर्मोनाज़ुक होती हैं।" नीरज बाबू कहेंगे, "डॉक्टर साहिब, इसमें अनहोनी क्या है? आप नाहक झुंझला रही हैं। बेचारी गिर कर संभलने लगी है। ये तो शुभ लक्षण हैं।" तुनकती हुई कहेंगी, "इस करप्शन को ही आप लोग तरक्की कहते हैं? दिस इज़ सिम्पल डिबॉचरी नथिंग ऐल्स। युअर आइडियल्ज़ विल क्रिएट अनार्की इन सोशल लाइफ। द पर्सन्ज़ कमिटिंग सच क्राइम्ज़ मस्ट बि हैंग्ड सो दैट पीपुल मे लर्न गुड लैसन फ्राम दीज़ पनिशमैन्ट्स़। छांटे जाइये आप अपने उपदेश? आपको क्या, सोसाइटी जाए जहन्नुम में। आपने समाज में रहना हो तब न? आप साहित्यिक जानवर रहते ज़मीन पर हैं, विचरते आसमान में हैं। आपको क्या, ह्यूमन वैल्यूज़ मिटें या बनें, आप अपने आदर्शों के गीत गाते रहिये। एण्ड नाउ यू आर थिंकिंग टु पार्टिसिपेट इन दैट रॉटन मैरेज! गॉड सेव ऑल आफ अस फ्राम युअर एन्टी सोशल आइडियलिज़्म।"

शचीन बाबू कहने लगे, "इसमें आदर्श की बात नहीं है रेणु, व्यक्ति के दृष्टिकोण की बात है। अगर तुम्हारे मन में अपने भैया को पत्र लिखने की इच्छा हुई है तो अवश्य लिखो, नरेन को लिखना चाहती हो तो वह भी लिखो। रही ग़लतफ़हमी की बात तो यही समझता हूं कि ग़लतफ़हमी तभी पैदा होती है जब हम ग़लत मन से कोई काम करते हैं। अपना मन ठीक होने पर शब्द और अक्षर मनमानी नहीं कर पाते। शब्द और अक्षर, मन को गफलत में पड़ा देख कर ही मनमानी करने लगते हैं।"

आज्ञा मिलने पर भी नीरज भैया को ही पत्र लिख पाई, नरेन को पत्र नहीं लिख सकी। भैया के पत्र में भी नरेन का उल्लेख करने का साहस नहीं हुआ। मन में बैठा कोई कहने लगा, "यह दिली कशमकश और शंका अस्वस्थ मन की ही द्योतक हैं। अस्वस्थ मन से स्वस्थ शब्द कैसे लिखे जाएंगे?" नीरज भैया के उत्तर की प्रतीक्षा करती रही।

मन में तरह तरह के विचार उठते। भैया अपना कर्त्तव्य कर निश्चिन्त हुए, उन्हें मेरी याद ही कहां होगी? अन्य पत्रों के ढेर में मेरा पत्र भी शामिल कर लिया जाएगा। सोचेंगे—कितनी निर्लज्ज लड़की है, अपनी निर्लज्जता के विज्ञापन बांटती फिरती है।—दुनियादारी के लिहाज़ से या अपनी अहम्मन्यता को प्रमाणित करने चले भी आए तो भी मन से इस अशुभ कार्य में कहां सम्मिलित हो सकेंगे? मानसिक स्थिति को छिपाने में निपुण हैं। दिखावा यही करेंगे कि इस आयोजन में खूब मन रमा, मन में सोचेंगे किस मुसीबत में आ फंसा? अकेले में मिलने पर फूलों में छिपा कर पत्थर मारने से कभी नहीं चूकेंगे। हंसते हुए कहेंगे, "रेणुका, ऐसे आयोजनों में हमें बुलाता ही कौन है? तुमने मुझ अकिंचन को याद करने की कृपा की, मेरे अहोभाग्य!" सुनने वाला समझे खूब प्रशंसा हुई है, समझने वाला सोचे कि धरती फट जाए तो उसी में समा जाऊं!

एक दिन बातों ही बातों में मैंने कहा, "नीरज बाबू, मैं इसी में सन्तुष्ट हूं कि मैंने हिम्मत नहीं छोड़ी है, गिरती पड़ती भी निरन्तर बढ़ती जा रही हूं।" अजीब ढंग से मुस्कराते हुए बोले, "हम ऐसे भाग्यशाली कहां कि हमें ऐसा महान सन्तोष प्राप्त हो सके। जहां तक तुम्हारे निरन्तर अग्रसर होने का प्रश्न है तो यही कहते बनता है कि इस अद्भुत साहस को देख कर हमें भी आश्चर्य से दांतों में उंगली लेनी पड़ती है।" कुछ देर ठहर कर बोले, "रेणुका, कोल्हू का बैल खूब चलता है, फिर भी अग्रसर कहां होता है ? या तो लोग कोल्हू के बैल की तरह घूमने को तरक्की समझ रहे हैं या फिर मुझ जैसे लोग तरक्की को समझने की अक्ल गंवा बैठे हैं। किसी दिन हम भी ऐसी ही तरक्की की राह पर चलने लायक हो पाए तो शायद हमें भी तुम्हारी तरह सन्तोष प्राप्त हो सके।" मुझे तिलमिलाते देख, हंसते हुए बोले, "भई, हम जैसे मूर्खों की बात का बुरा न माना करो। इतने लोग जिसे तरक्की समझते हैं वह ज़रूर ही तरक्की होगी। हमारे जैसे मुट्ठी भर लोग अगर इसे तरक्की न भी मानें तो कोई खास फर्क नहीं पड़ता।" मैं शर्म के मारे पानी पानी हो गई।

शचीन बाबू डाक देखते हुए बोले, "रेणु, देखो, तुम्हारा पत्र आया है।" पत्र की लिखावट देखते ही मेरे पैरों के नीचे से ज़मीन खिसकने लगी। नरेन ने शचीन बाबू के नाम पत्र लिखा था। मेरी ओर देखते हुए बोले, "नरेन ने लिखना ही था तो मुझे लिखने की क्या ज़रूरत थी ? तुम्हें लिखने में क्या हर्ज़ था ?" मैंने कुर्सी पर बैठते हुए कहा, "आपको लिखने जैसा होगा तभी तो आपको लिखा गया है।" कहते कहते मैंने पत्र उनकी ओर बढ़ा दिया। पत्र पुनः मुझे लौटाते हुए बोले, "नरेन के विषय में तुमसे ही थोड़ा बहुत सुना है। कभी उससे परिचय तो हुआ नहीं। न ही मैंने उसे आज तक कभी पत्र लिखा है। उसने जो कुछ भी लिखा होगा वह तुम्हारे

बारे में ही लिखा होगा अतः तुम्हीं इसे पढ़ डालो। मुझे बताने जैसा कुछ होगा तो बता देना और नहीं तो खुद ही जवाब लिख देना, मेरा समय बच सकेगा।" कह कर शचीन बाबू दूसरे पत्र देखने में उलझ गए। मैं पत्र पढ़ती रही और मेरी आंखों के आगे अन्धेरा सा छाने लगा। नरेन ने लिखा था—

"शचीन बाबू,

नमस्ते। नीरज से होती हुई रेणुका के शुभ विवाह की खबर मुझ तक पहुंची है। मुझे शायद इसलिए नज़रअन्दाज़ कर दिया गया है कि कहीं इस शुभ कार्य में असमय ही बाधा उपस्थित न हो।

आपको यह जान कर शायद आश्चर्य होगा कि रेणुका के अनुचित सम्बन्ध मुझ नाचीज़ के साथ बहुत देर तक रहे हैं। नीरज साहिब अगर आदर्शों के चक्कर में न पड़ें, जैसी कि उनकी आदत है तो आपको बता सकेंगे कि रेणुका ने अपने पाप को छिपाने के लिए क्या क्या कुकर्म किए हैं? यदि आपको स्पष्टवादिता सह्य हो तो यह भी सुन लीजिये कि मुझ से पहले श्रीमती रेणुका देवी जी प्रवीण नाम के एक आवारा से बरसों इश्क फरमाती रही हैं जिसके कुछ डॉक्यूमेन्टरी प्रूफ अभी तक मेरे पास मौजूद हैं। श्रीमती रेणुका जी ऊपर से जितनी उजली दिखाई देती हैं भीतर से इनका दिल उतना ही काला है। मुझसे लेकर आप तक पहुंचने में अगर इन देवी जी ने और भी दस बीस पड़ाव पार किए हों तो आश्चर्य नहीं।

नीरज साहिब के नाम रेणुका देवी जी ने जो पत्र लिखा है उसे पढ़ कर मुझे यूं लगता है कि आप संसार की चालाकियों से अनभिज्ञ एक सरल हृदय प्राणी हैं। आप जैसे व्यक्तियों को अपने बारे में यकीन दिला देना श्रीमती रेणुका देवी जी जैसी, ज़माने की हवा खाई हुई औरतों के बाएं हाथ का काम है।

हर इन्सान अपने बारे में फैसला करने में आज़ाद है और न ही मैं आपकी आज़ादी में रुकावट डालना चाहता हूं। यह तो आप भी मानेंगे ही कि कई बार सारे हालात का पता न होने की वजह से फैसला करने में गलती हो सकती है। रेणुका देवी जी के जीवन से सम्बन्धित ये कुछ बातें निष्पक्ष रूपेण मैंने इसलिए लिख दी हैं ताकि आपको आज़ादाना तौर पर फैसला लेने में ग़लती न लगे।

श्रीमती रेणुका देवी जी के जीवन की उज्ज्वल घटनाओं के बारे में यदि विस्तार से लिखूं तो एक अच्छी खासी किताब लिखी जा सकती है परन्तु वह सब लिख कर मैं आपका अमूल्य समय नष्ट नहीं करना चाहता। संक्षेप में यही कह सकता हूं कि रेणुका देवी जी इखलाक से गिरी हुई, समाज को बुराई के कीचड़ में फंसाने वाली, वातावरण में दुराचार का कोढ़ फैलाने वाली एक अविश्वसनीय औरत हैं। इनके जीवन का एक एक दिन सन्दिग्ध घटनाओं से भरा पड़ा है। आशा है यथा समय रहते आप संभलेंगे और एक व्यभिचारिणी औरत के चक्कर में न फंस कर आप अपने अमूल्य जीवन को नष्ट होने से बचाएंगे।

मैंने आपकी अनमोल ज़िन्दगी का ख्याल रखते हुए, जिसकी, विषम समस्याओं से जूझते आज के समाज को अत्यन्त आवश्यकता है; श्रीमती रेणुका जी के जीवन की कुछ घटनाएं निष्पक्ष रूप से लिख कर अपना इन्सानी और इख़लाकी फर्ज़ पूरा कर दिया है। यह सब जान लेने के बाद आप स्वतन्त्र रूप में जो भी निर्णय लेना चाहें ले सकते हैं।

आपका हिताकांक्षी,
नरेन्द्रकुमार।

पुनश्चः—

यदि आपको और अधिक जानने की इच्छा हो या आप के मन

में कोई बात स्पष्ट न हुई हो तो आप मुझे नीरज साहिब की मारफत खत लिख सकते हैं। अगर आप कहें तो मैं ये सब बातें जो ठोस सत्य पर आधारित हैं श्रीमती रेणुकादेवी जी के मुंह पर कहने के लिए भी तैयार हूं। ऐसा करने में अगर्चे मुझे काफी ज़ेहनी परेशानी का सामना करना पड़ेगा लेकिन आपकी अनमोल ज़िन्दगी को तबाही से बचाने के लिए इस परेशानी को बर्दाश्त करना मेरी खुशकिस्मती होगी।"

पत्र पढ़ते पढ़ते मेरा सारा शरीर पसीने से भीग गया। मैं पत्र पढ़ती जाती और अन्दर ही अन्दर शर्म के मारे डूबती जाती। मैं जान ही नहीं सकी कि शचीन बाबू लगातार मेरे चेहरे पर आने वाले उतार-चढ़ाव को, फैलती कालिमा को देख रहे थे। मैंने आंखें उठा कर देखा तो शचीन बाबू को टकटकी बांधे अपनी ओर देखते पाया। मैंने यथाशक्ति अपने को संभालते हुए, यह कहते हुए शचीन बाबू की ओर पत्र बढ़ा दिया, "शचीन बाबू, पत्र आप के लिये ही लिखा गया है। मैं इतना ही कह सकती हूं कि नरेन की आदत झूठ बोलने की नहीं है। इस पत्र में लिखी हुई बातें अक्षरशः सत्य हैं और आप के हित के लिये ही लिखी गई हैं। अब भी समय है, कुछ नहीं बिगड़ा है आप इसे पढ़ कर ही कुछ निर्णय कीजियेगा।"

शचीन बाबू गम्भीर स्वर में बोले, "जानता हूं कि जो कुछ पत्र में लिखा है वह सत्य है परन्तु उन अंधों का सा सत्य है जो हाथी को पहचानने को निकले थे। इस अधूरे सत्य से कहीं अधिक विशाल सत्य को मैंने अभी अभी तुम्हारे चेहरे पर पढ़ा है। इस विशाल सत्य को पढ़ लेने के बाद, अधूरे सत्य को पढ़ने का मोह सर्वथा मिट गया है।" बात समाप्त करते करते मेरी ओर प्रेममयी दृष्टि से देखने लगे।

मैंने कहा, "टालिये नहीं, मेरे सुख के लिये ही इसे पढ़ डालिये।"

दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए बोले, सब कुछ ही तो पढ़ डाला है

रेणु ! अब पढ़ने को रह ही क्या गया है ? अब तो पढ़े हुए को काम में लाने का सुअवसर हाथ लगा है। इस सुअवसर को बार बार पढ़े हुए को रटने में खो दूं, ऐसी मूर्खता मैं नहीं करूंगा।" कहते कहते उन्होंने मुझ से पत्र ले लिया और एक ही दृष्टि में उसे पढ़ गये। मैं उनके चेहरे पर फैलती असीम करुणा के चिन्ह देखती रही। मैंने भी तो अन्धों की तरह ही हाथी को पहचानने की कोशिश की थी। आज सत्य का इतना विराट रूप देख कर आंखों में सुख के आंसू छलछला आये।

पत्र का उत्तर लिख कर मेरे हाथ में देते हुये बोले, 'पढ़ो तो, ठीक लिख दिया है न ?" मैं उत्तर पढ़ने बैठ गई। लिखा था—'नरेन बाबू, नमस्कार। आपका कृपा पत्र मैंने आद्योपान्त पढ़ लिया है। आपने मुझे सच्ची घटनाएं लिख भेजीं आपकी शुभेच्छाओं के लिये कोटिशः धन्यवाद। आपने जिस सत्य की ओर संकेत किया है उसमें मुझे सन्देह नहीं है परन्तु उस से भी कहीं बड़े सत्य के दर्शन मैंने इसी असंगलमयी रेणुका की कृपा से किए हैं। मेरी गिनती भी कुछ विशेष भले आदमियों में नहीं है अतः यह सम्बन्ध मेरे लिये कष्टकर नहीं होगा। नरेन बाबू, जीवन में कुछ लोग बहुत अभाग्यशाली होते हैं। लोगों द्वारा त्याज्य और व्यर्थ समझ कर फेंकी वस्तुओं को जुटा जुटा कर ही वे अपने जीवन की रिक्तता को भरते रहते हैं। मेरी मां ऐसी ही अभाग्यशालिनी हैं। उन्होंने व्यर्थ का बोझ और निकम्मी कह कर फेंकी गई इस लड़की को उठा कर ही अपनी रिक्तता भर ली है। उसी अभागिन मां का पुत्र होने के नाते उनका अभाग्य अनजाने ही मेरी झोली में आ गिरा है। लोग जिसे अभाग्य कहते हैं उसी ने आज तक अपने स्नेहमय हाथों से मेरा लालन पालन किया है अतः इस अभाग्य का मोह मुझ से छोड़ते नहीं बनता। आपकी सदिच्छाओं और सुशिक्षाओं को समझ कर भी यदि मैं आपके सुविचारों से लाभ न उठा सकूं तो मुझ मन्दबुद्धि को सच्चे हृदय से क्षमा कर दीजियेगा।

रही, विषम परिस्थितियों से जूझते हुए समाज के काम आने वाले मेरे अमूल्य जीवन की बात। विनय पूर्वक यही कहने दीजिये कि मेरे जीवन में अनमोल जैसा कुछ भी नहीं है। जो कुछ भी मैं कर रहा हूं इसमें सुयश का अथवा समाज-सुधार का या प्रगतिशील बनने का लोभ मुझे रत्ती भर भी नहीं है। बात सिर्फ इतनी सी है कि मैं अपने मन के कहे को टाल नहीं पाता यह मेरी कमज़ोरी है। लोग अच्छे भाग्य लेकर संसार में आते हैं अतः उनके पास सुअवसरों की कमी नहीं रहती, उन्हें बहुतों में से एक को चुन लेना होता है। मुझ अभागे के हाथ यह कुअवसर भी न जाने कैसे आ गया है, इसी कुअवसर को समेट कर मुझ अभागे को अपने अंधेरे घर में उजाला कर लेने दीजिये। जानता हूं कि समाज में सुयोग्य व्यक्ति भरे पड़े हैं अतः मुझ जैसे व्यक्ति के प्रगति पथ से भटक जाने पर भी इस समाज सुधार की गाड़ी निर्बाध रूपेण चलती रहेगी, ऐसी मुझे आशा है।

आपकी हिताकांक्षाओं के लिये अनेक धन्यवाद।

आपका अपना,

शचीन''

मैंने छलकते नेत्रों से पत्र पढ़ कर उनकी ओर बढ़ा दिया। अपने ही पत्र को कुछ देर पढ़ते रहे। फिर उसे फाड़ते हुये बोले, "नरेन तो भटका ही था, मैं तो उस से भी कहीं बड़ी गलती करने चला था। रेणु, यह भटकने की बीमारी भी छूत के रोग की तरह फैलती है। भगवान का धन्यवाद है कि उसने मुझे इस भयंकर बीमारी से बचा लिया।" कुछ देर सोचने के बाद बोले, "नरेन के हाथ में अगर यह पत्र पहुँच जाता तो बहुत बड़ा अनर्थ हो जाता! बेचारे को व्यर्थ में शर्मिन्दा होना पड़ता। जब हम व्यक्ति को अपने अनुभवों से न सीखने देकर, अपने ज्ञान के अहंकार में अपने अनुभव दूसरों के मस्तिष्क में ठोंसने लगते हैं तभी अनर्थ होता है। नरेन शायद खुद ही सीखने

में समर्थ है। कई बार हमारे सिखाने का मोह, दूसरे को हमेशा के लिये ले डूबता है। दुनिया में यही हो रहा है। सभी दूसरों को सिखाना चाहते हैं और इस सिखाने के चक्कर में सब जगह गुरु ही गुरु नज़र आते हैं शिष्य तो कहीं भी दिखाई नहीं देते। जब गुरुजन अपने पाण्डित्य का निर्णय बल प्रयोग द्वारा करने बैठते हैं, पाण्डित्य और महानता प्रमाणित करने के लिये कूटनीतियों का प्रश्रय लेते हैं तभी विश्व का अभाग्य शुरू होता है। देखो न, मैं भी अभी इस गुरुडम के चक्कर में उलझने चला था। सिखाने का अहंकार हो आया था। जो तुम से नहीं सीख सका, वह भला मुझ से क्या सीख सकेगा? नरेन को अपने ही अनुभवों से सीखने के लिये छोड़ दो।"

मैं टकटकी बांधे उनकी ओर देखती रही। मेरी ओर प्रेममयी दृष्टि से देखते हुए बोले, "प्रोफैसर हूं न? इसीलिये ये सिखाने की बीमारी मुझे घेरे रहती है, अक्सर इसका अटैक मुझ पर होता रहता है। सुनो रेणु, जब कभी तुम्हें सिखाने की धुन में अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठूं तो मुझे संभाल लिया करो। जानता हूं कि तुम्हारे होशियार रहने पर मुझे गिरने की मुसीबत में नहीं उलझना होगा। देखो, आज से हम लोग मात्र सीखा करेंगे, किसी को सिखाने के अहंकार में नहीं उलझेंगे। इस बात को भूलने लगूं तो तुम्हीं मुझे याद करवा दिया करना। अपना सभी उत्तरदायित्व तुम्हें सौंप आज मैं निश्चिन्त हुआ।"

मैं अपने हृदय के आवेग को रोक न सकी। शचीन बाबू के कदमों पर मैंने माथा रख दिया। मुझे उठाते हुए बोले, "यह क्या बचपना किया करती हो? तुम्हीं लोगों ने हमारे पांओं पर माथा रगड़ रगड़ कर हमारे दिमाग बिगाड़ दिये हैं। हम लोगों को इतना ऊंचा न उठाओ कि हमारे पैर ज़मीन से ही उखड़ जाएं। हमें आकाश के देवता बनाने के लोभ में जब तुम पड़ती हो तभी हम लोग लड़खड़ा

कर गिरते हैं। जहां से तुम्हारा यह लोभ प्रारम्भ होता है वहीं से इन्सान की गिरावट की कहानी शुरू होती है। तुम्हें केवल हमें लड़खड़ा कर गिरने से बचाने की चिन्ता करनी चाहिये, इससे अधिक की नहीं। सारी चिन्ता तुम अपने ऊपर ओट लेती हो तभी हम लोग लापरवाह बन जाते हैं।" पुनः बोले, "रेणु, नरेन को भी शायद तुमने आकाश का देवता बनाना चाहा होगा, तभी बेचारा बुरी तरह लड़खड़ा कर गिरा है। इसमें दोष तुम्हारा भी नहीं है, आसमान के देवता बनाने की शिक्षा तो तुम्हें जन्मते ही घुट्टी में मिलती है, तुम उससे बच ही कैसे सकती हो? तभी तो कहता हूं कि इन शिक्षाओं के बोझ ने हमें बुरी तरह अपने नीचे कुचल डाला है। हमारे दिमाग़ तो दूसरों की शिक्षाओं से ही लबालब भर जाते हैं, फिर उन में हमारी अपनी शिक्षाएं कहीं भी नहीं समा पातीं। जो कुछ भी हम दिमाग़ में डालना चाहते हैं वही नीचे गिरता रहता है, मिट्टी में मिलता रहता है।"

मेरी ओर निर्निमेष नेत्रों से कितनी ही देर देखते रहे। फिर बोले, "देखो भई, बातों ही बातों में इधर स्टडी का काम चौपट हुआ जा रहा है। ज़रा एक कप चाय तो पिला दो?" मैंने कहा, "घर में चीनी एक दम खतम है। दो बार कह चुकी हूं, आप लाने की बात एकदम भूले रहते हैं।" हंसते हुए बोले, "तुम जैसी गृहलक्ष्मी के होते हुए भी क्या हमें ही यह सब चिन्ता करनी पड़ेगी?" मैं वहां ठहर न सकी, उनके कमरे से एक दम भाग आई।

शादी में तीन दिन रह गए थे। लम्बा चौड़ा आयोजन नहीं था। उनके कॉलिज के कुछ मित्र ही आमन्त्रित किये गए थे। हवन, यज्ञ और सम्मिलित भोजन तक ही सब कुछ सीमित था। माता जी ने, सुरेश और महेश को पत्र लिख दिए थे और दोनों ने ही विवाह से एक दिन पूर्व सपरिवार पहुचने की खबर वापसी डाक भेज दी थी। मैं मन ही मन अपने भविष्य की कल्पना में खोई रहती। सोचती, यह

विधाता भी बड़े विचित्र हैं ! सभी कुछ उन्मुक्त हृदय से देते हैं। जब दुःख और सन्ताप दिया था तो दूर दूर तक सुख की छाया तक दिखाई नहीं देती थी और अब सुख दिया है तो इतना कि समेटे नहीं सिमटता। पलक झपकते ही दुःख किसी अनजान कोने में जा छिपा है मानों दुःख की वास्तविकता स्वप्न की वास्तविकता से अधिक कुछ भी नहीं थी।

उसी शाम की डाक से नरेन का दूसरा पत्र आया था। शचीन बाबू ने स्टडी रूम में बैठे बैठे ही मुझे आवाज़ दी। मैं माता जी के पास बैठी, ओढ़नी पर सूर्यमुखी के पीले पीले फूल काढ़ रही थी। माता जी बोलीं, "देख तो सही तुझ पर कितना रोब गांठता है? मैं कहती हूं बड़ा चंट लड़का है, तुझ पर खूब हुकम चलाया करेगा। इस से डर कर न रहना नहीं तो तुझे कठपुतली का सा नाच नचाया करेगा।" मैंने कहा, "माता जी, देख आती हूं, कोई ज़रूरी काम होगा तभी आवाज़ दे रहे हैं।" हंसती हुई बोलीं, "ज़रूरी काम कुछ नहीं है, तुझे देखे बग़ैर उसका मन नहीं लग रहा है। पहले यूं चुप रहता था जैसे मुंह में ज़ुबान ही न हो और अब कैंची की तरह ज़ुबान चलाता है। सुरेश और महेश आकर इसका दिमाग़ दुरुस्त करेंगे।" इतने में उनकी आवाज़ फिर सुनाई दी, "अरे भइ, एक मिनट बात सुन जाओ फिर चली जाना।" माता जी बोलीं, "जब देखो इस बेचारी पर हुकम चलाया करता है। तू एक मिनट उठ कर यहां नहीं आ सकता क्या?" मैंने चादर वहीं रख दी, कहा, "अभी आती हूं माता जी।" हंसती हुई बोलीं, "जा बाबा जा, नहीं जाएगी तो उंगली में सूई चुभ जाएगी। तुम दोनों ही एक जैसे हो। तेरा दिल भी तो आजकल उधर ही उलझा रहता है। कितने दिन हुए अभी तक यह एक ओढ़नी तुझ से बन नहीं पाई।"

कहने लगे, "नरेन का एक और पत्र आया है। देखो तो,

हैंडराइटिंग उसी का है न?" पत्र उन्होंने मेरी ओर बढ़ा दिया। मैं दिल ही दिल में पढ़ने लगी। लिखा था—

"शचीन बाबू,

नमस्ते। यह पत्र शायद उस समय आपके पास पहुंचेगा जब कि अमृत कह कर दिया गया विष आपके मन में बुरी तरह फैल चुका होगा और आप छटपटा रहे होंगे। बहुत पहले मुझे यह पत्र लिखना चाहिये था लेकिन सेहत ने साथ नहीं दिया। आज सेहत कुछ संभली है तो लिखने बैठ गया हूं।

मैंने पहले पत्र में रेणुका के बारे में जो कुछ लिखा है वह बिल्कुल झूठ है। मेरे स्वार्थ ने, मेरी ईर्षा ने मुझे अन्धा बना दिया था अतः मैं निराधार बातें लिख बैठा। रेणुका बिल्कुल निर्दोष है, उसकी आत्मा गंगाजल की तरह पवित्र है। बेचारी की सरलता और निष्कपटता ही उसकी शत्रु बन गई हैं। इस युग में ऐसी सरलता दुर्लभ है। इस सरलता को, पवित्रता को स्वार्थी और विषयान्ध लोगों ने पग पग पर छला है, कलुषित किया है। मैं भी उन्हीं नीच लोगों में से एक हूं। हमने अपने पाप और कलंक को इस अबोध और सरल बालिका पर लाद दिया है ताकि दुनिया हमें दूध धुला समझती रहे और हम अपने पाप और कलंक को दूसरे का कह कर मिथ्या दम्भ में सिर उठाए घूम सकें। रेणुका को इतना छला गया है कि उसे सत्य बोलते भी भय प्रतीत होता है या फिर हमने अपने असत्य को इतना फैला दिया है कि उसी के नीचे बेचारी के हृदय का सत्य ढंका गया है। शायद वह अपनी सरलता और पवित्रता की बात आपसे कभी भी कह नहीं पाएगी। मुझ जैसे पापी लोगों ने उससे हृदय की बात निस्संकोच रूपेण कहने तक की शक्ति छीन ली है।

मेरी आपसे यही प्रार्थना है कि इस सरलता और निष्कपटता, पवित्रता और निश्छलता को सच्चे मन से स्वीकार कर लीजिएगा

ताकि मुझ जैसे पापी जिस आग में जल रहे हैं उस से निकल सकें। मन ही मन सोचता हूं कि रेणु ने जिस शचीन की बात, नीरज साहिब को लिखी है, उनका हृदय अत्यन्त विशाल है। आप मेरी प्रार्थना को ठुकराएंगे नहीं। ठुकराएंगे तो यही समझूंगा कि आप मुझ पापी को क्षमा नहीं कर सके।

रेणुका से कहना कि मैंने उसके जीवन में ज़हर घोलने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं किया फिर भी यदि सम्भव हो सके तो मुझ पापी को क्षमा करके कृतार्थ करे। उससे कहना कि टूटे तारों के साज़ पर मेरे नग्में, चीखें बन गए थे आज मनोरमा के अथक प्रयत्नों से दिलों के टूटे तार जुड़ गए हैं, मेरे खोए हुए गीत मुझे फिर मिल गए हैं।

पहले खत में आप तक टूटे साज़ की चीखें पहुंची थीं, आज मनोरमा की दया से आप तक दिल के सुच्चे बोल पहुंच रहे हैं। चीखें मेरी अपनी नहीं थीं अतः वे असत्य थीं, उन पर विश्वास करके मुझ जले को और मत जलाइयेगा। आज के सुच्चे बोल मेरे दिल के हैं, मेरे अपने हैं अतः ये सत्य हैं इन पर अविश्वास न कीजियेगा, मुझ जलते को अपनी विशालता का सहारा देकर इस भयंकर आग की लपटों से निकाल लीजिएगा।

शचीन बाबू मेरा दिल मुझसे छिन गया था इसलिए मेरी बातों में झूठ घुल गया था, आज मेरा दिल मुझे मिल गया है इसलिए मेरे बोलों की मिठास लौट आई है। आप महान हैं, आपने तो ज़हर तक पी लिया है, आज इस अमृत को मत लौटाइयेगा। मुझ ग़रीब के पास इस मिट्टी के टूटे बर्तन के सिवाय कुछ भी नहीं, फिर भी मेरा मन कहता है कि आप इस पात्र की तुच्छता भूल इन सच्चे बोलों को स्वीकार कर मुझे कष्ट मुक्त करेंगे।

स्वार्थ, ईर्षा, पाप और पाखण्ड में डूब कर आपके जीवन में विष घोलने का जिसने अक्षम्य अपराध किया है,

वही, क्षमाप्रार्थी,

नरेन्द्र।"

मैंने पत्र पढ़ कर उनकी ओर बढ़ा दिया। मुस्कराते हुए बोले, "इस बार शायद नरेन ने एक सिरे से ही झूठ लिख दिया है तभी इस पत्र को पढ़ने के लिए मुझे नहीं कह रही हो। इसमें भी यदि अक्षरशः सत्य लिखा होता तब क्या तुम यूं ही चुपचाप मुझे यह पत्र लौटा देतीं? मैंने सकुचाते हुए कहा, "पढ़ लीजिये न? पढ़ने से आपको मना कौन कर रहा है?" हंसते हुए बोले, "कुछ लोग होते हैं, जिनकी हां, ना का कुछ पता नहीं चलता। समझ में नहीं आता कि तुम पढ़ने का अनुरोध कर रही हो या न पढ़ने का आर्डर दे रही हो। सच बात कहूं तो यह पत्र पढ़ने का मुझे बहुत मोह हो आया है लेकिन तुमसे डर कर ही अभी तक साहस नहीं जुटा पा रहा हूं।" मैं अपने आप में बुरी तरह झेंप गई। उसी तरह हंसते हुए बोले, "तुम्हारी खूब निन्दा लिखी होगी तभी मुझे पढ़ने के लिए कहते झिझक रही हो। दरअसल सांसारिक प्राणी होने के नाते दूसरे की निन्दा चुगली सुनने की मुझ में बहुत बड़ी कमज़ोरी है। निन्दा चुगली सुन कर मुझे खूब आनन्द आता है और तुम हो कि मुझे इस आनन्द से ही वंचित रखना चाहती हो।" मेरी ओर मुस्कराती हुई नज़रों से देखते हुए पुनः बोले, "इधर आओ तो, मुझे लगता है तुम्हें तो बहुत ज़ोर का ज्वर हो गया है। देखो न तुम्हारा मुंह कैसा आग की तरह दहक रहा है। सचमुच ज्वर के से लक्षण हैं।" मैंने हाथ जोड़ते हुए कहा, "मुझे तंग कीजियेगा तो मैं यहां खड़ी नहीं रह सकूंगी। जानती हूं आपको मुझ गरीबनी की हंसी उड़ाने में खूब आनन्द आता है।" हंसते हुए बोले, "भई, तुम तो परले सिरे की स्वार्थी हो। अपना मतलब निकाला और

धमकी देने लगीं। अच्छा, यह तो बताओ, माता जी तुमसे क्या कह रही थीं?" मुझे भी अचानक हंसी आ गई। मैंने कहा, "सब जानती हूं, आप बड़े कूटनीतिज्ञ हैं। खत का तो बहाना था, असल में आपने मुझे जासूसी करने के लिए ही बुलाया था। माता जी ने मुझसे कुछ भी कहा हो, आपको उससे मतलब?" उनकी आंखों में शरारत नाच उठी, बोले," तुम बहुत दुष्ट लड़की हो। पहले माता जी को मेरे देखे बगैर खाना अच्छा नहीं लगता था अब तुमने ऐसा उलझाया है कि बेचारी मुझे बिल्कुल ही भूल गई हैं। सचमुच तुम्हारे जैसी लड़की से बच कर ही रहना चाहिये।" मैंने कहा, "रोकता कौन है? बच कर रहा कीजिये न?" हंसते हुए बोले, "जब तुम नहीं रोकती हो तो उसका मतलब होता है रोक रही हो, जब पढ़ने को कहती हो तो उसका मतलब होता है, पढ़ना सख्त मना है। ऐसी दुष्ट हो कि व्याकरण के नियम तक तुमसे घबरा जाते हैं।" कहने लगे, "इधर आकर ज़रा बात सुनो तो?" मैंने हंसते हुए कहा, "आप कहिये न? मेरे कान बहरे नहीं हैं, मैं यहीं खड़ी खड़ी सुन सकती हूं।" आंखों में शरारत नचाते हुए बोले, "कान में बताने वाली बात है। नहीं सुनना चाहती हो तो मत सुनो। बाद में कहोगी तब भी नहीं सुनाऊंगा।" मैंने कहा, "मैं कान में कही जाने वाली बात को नहीं सुनती, ज़रूर उसमें कुछ झूठ होगा नहीं तो कान में कहने की क्या ज़रूरत थी?" कहने लगे, "झूठ थोड़े ही कहता हूं, सचमुच तुम बहुत दुष्ट हो। इतनी दुष्ट हो कि तुम्हारी दुष्टता के कारण आदमी अकल गंवा बैठता है।" फिर बोले, "इसी डर से मैंने अकल रहते ही नरेन का खत पढ़ लिया था।" मैंने रूठने का अभिनय करते हुए कहा, "क्यों पढ़ा आपने दूसरे का खत?" कहने लगे, "आखिर कहलवा ली न मैंने दिल की बात। झूठमूठ ही पढ़ने के लिए कह रही थीं। जानता हूं अपनी निन्दा से बचने की हर एक की इच्छा होती है। उस दिन खूब प्रशंसा भरा

पत्र था तो ज़बर्दस्ती पढ़वा डाला आज निन्दा लिखी है तो छिपा रही हो। अच्छा बाबा दिखाओ तो ? सच कहता हूं, मैं तुम्हारी इस निन्दा की चर्चा किसी से नहीं करूंगा।" पत्र पढ़ते पढ़ते उनकी आंखों से टप् टप् आंसू गिरने लगे। पढ़ने के बाद संयत होते हुए बोले, "मुझे विश्वास था कि अवश्य किसी दिन नरेन के मुंह से सच्ची बात निकलेगी। तुम कहती थीं न कि वह बहुत बड़ा कलाकार है। उसी दिन जान गया था कि कलाकार के मन में दूसरों द्वारा लादा गया झूठ अधिक देर नहीं ठहर सकेगा।"

पलक झपकते ही उनकी हंसी गायब हो गई। गम्भीर स्वर में बोले, मानों अपने आप से ही बात कर रहे हों, "रेणु, 'नाव दुर्घटना' तुमने पढ़ी है न ? एक बार फिर ध्यान से पढ़ना। मुझे यह उपन्यास बहुत अच्छा लगता है क्योंकि मुझे इसी में अद्भुत सत्य के दर्शन होते हैं। यह जो विश्व का द्वितीय महायुद्ध हुआ है न, यह मुझे 'नाव-दुर्घटना' जैसा ही दिखाई देता है। इस नावदुर्घटना के बाद सभी कुछ गड़बड़ा गया है। ये 'रमेश' 'नलिनाक्ष' और 'कमला' सभी विक्षिप्त हुए से भटक रहे हैं। इन भले पात्रों की विक्षिप्तता की ज्वालाएं 'अन्नदा बाबू' 'हेम' 'योगेन्द्र' 'चक्रवर्ती' 'क्षेमङ्करी' सभी को जला रही हैं। उस 'नावदुर्घटना' में व्यक्ति का घायल विश्वास तो बचा था लेकिन इस नावदुर्घटना में तो व्यक्ति का विश्वास तक उससे छिन गया है। विश्वास के अभाव में बेचारा मारा मारा फिरता है।" कुछ देर तक अपने ही विचारों में खोए रहे। पुनः दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए बोले, "अभी उस नावदुर्घटना की विक्षिप्तताओं, जटिलताओं, विभीषिकाओं और वेदनाओं के आघात से हम संभल नहीं पाए हैं कि फिर नया तूफान उठने के आसार बनते दिखाई दे रहे हैं। रेणु, मुझे भय लगता है कि अगर यह तीसरे विश्वयुद्ध के रूप में कहीं फिर एक और नावदुर्घटना हो गई तो कयामत आ जाएगी। उस नावदुर्घटना में

"कमला' 'नलिनाक्ष' से बिछुड़ गई थी लेकिन इस बार 'नलिनाक्ष' 'नलिनाक्ष' से बिछड़ जाएगा। इन्सान अगर अपनेआप को पहचानना तक भूल गया तो उसकी सारी की सारी प्रगति धरी धराई रह जायगी। यह तूफान अगर आया तो शायद इन्सान को फिर अपनी कथा पत्थर और धातु युग से शुरु करनी होगी, शायद उससे भी पहले से शुरु करनी पड़ेगी। ये बड़ी बड़ी मशीनें अजीब खौफनाक खामोशी के साथ इन्सानी हाथों के स्पर्श के लिए तरसती रहेंगी और तरसते तरसते मर जाएंगी। यदि कोई बचा खुचा इतिहासज्ञ कहेगा—हमारे युग में लोग मशीनों पर कपड़ा बुना करते थे, चांद तक उड़ा करते थे—तो लोग कहेंगे—सब परीदेश की कल्पनाएं हैं। यथार्थ यही कि हमारे पूर्वज अपने वस्त्र जुटाने के लिए वृक्षों की छाल ओढ़ा करते थे।"

किन्हीं अंधेरों के भीतर झांकते हुए बोले, "नरेन जैसा बन गया है उसमें उसका किंचित् मात्र भी दोष नहीं है। मुझे तो उसके असीम उत्साह पर आश्चर्य होता है। मैं उसकी जगह होता तो संभलना शायद मुश्किल हो जाता। जब तक ये नावदुर्घटनाएं हो रही हैं तब तक मानव का भविष्य अत्यन्त अन्धकारमय है। आवश्यकता व्यक्ति को लड़खड़ा कर गिरते देख उससे घृणा करने की, आंख बचा कर उससे बच निकलने की नहीं है अपितु इन तूफानी हवाओं को, गगन भेदी बिजलियों की कड़क को रोकने की है ताकि नई नाव-दुर्घटनाएं न हों और इन्सान पहली नाव दुर्घटनाओं के आघात से सभल सके, उसकी चेतना और विश्वास लौट सके, ये 'रमेश' और 'नलिनाक्ष', 'हेम' और 'कमला' वीरानों में भटक कर अपनी जान न गंवाएं, इन्हें सुख से बसते देख 'अन्नदा बाबू' 'त्रैलोक्य चक्रवर्ती' और 'क्षेमङ्करी' आराम से मर सकें। इतिहासकारों को पाषाण और धातु युग की कहानियां फिर न दोहरानी पड़ें। जरूरत इसी बात

की है कि हम इन प्रलयंकारी आंधी तूफानों में विश्वास और आस्था को नष्ट न होने दें। 'रवि ठाकुर' की 'नावदुर्घटना' को पढ़ कर अगर हम आस्था और विश्वास जुटाना नहीं सीख पाते, दुनिया भर को यह नहीं कह पाते कि 'हम पर अविश्वास न करना' तो हमारा पढ़ना बेकार है, समय नष्ट करने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।"

कुछ देर सोचने के बाद बोले, "नाव दुर्घटना' में 'रवि ठाकुर' ने 'अक्षय' जैसे पात्र से भी बहुत बड़ा सत्य कहलवाया है। 'अक्षय' कहता है—भगवान् शायद अच्छे लोगों की ही सबसे अधिक परीक्षा लेते हैं।—मुझे तो यूं लगता है कि उसी अग्नि परीक्षा का समय निकट सरकता आ रहा है। भगवान इस बार मानव को अग्नि परीक्षा में डाल शायद उसे देवत्व के आसन पर बैठाने का निश्चय किए हुए हैं। घबराने की आवश्यकता नहीं है, इस अग्नि-परीक्षा में सफल होने के बाद मानव, बगैर किसी शंका के देवत्व के पद पर सुशोभित हो सकेगा।"

सचमुच भगवान इस बार अग्नि परीक्षा ही ले रहे हैं। सुक्खू ने आकर बताया, "मां जी, कोई बीबी जी को पूछत हैं?" मैं, माता जी का सिर दबा रही थी। एक दो दिन से वे सिर में भारीपन महसूस कर रही थीं। कहने लगीं, "रेणु, देख तो बेटा कौन है? शचिन ने अपने कुछ मित्रों को पत्र लिख छोड़े हैं। उन्हीं में से कोई न हो?" मैं बाहर के दरवाज़े पर ठिठक कर रह गई। नीरज भैय्या वही चिर-परिचित कुर्ता पाजामा पहने, कन्धे पर थैला लटकाए और हाथ में अटैची लिए सामने खड़े थे। मेरी आंखों में स्नेह के आंसू उमड़ आए। मैंने दरवाज़े से आगे बढ़ कर उनके पांव छू लिए। हंसने की कोशिश करते हुए बोले, "यह क्या करती हो बहिन? उठो न?" बोलते बोलते उनकी आवाज़ रुंध गई। 'बहिन' मुझे यूं लगा कि मेरे कानों में दूर कहीं से संगीत की मधुर ध्वनि आ रही है। मैं अपने

आंसुओं को रोक न सकी। मुझे पांओं से उठाते हुए, मेरी पीठ थपथपाते हुए बोले, "लो, यह अटैची तो पकड़ो ज़रा, मेरे हाथ थक गए हैं।" मैंने उनकी ओर देखा तो भैय्या अपने आंसुओं को पलकों में समेटने का निरर्थक प्रयत्न कर रहे थे।

माता जी को भैय्या ने प्रणाम किया तो तकिये का सहारा लेकर बैठती हुई बोलीं, "मैं न कहती थी कि तेरा भैय्या ज़रूर आएगा। शचिन न जाने कहां चला गया है? वक्त पर कभी घर दिखाई नहीं देता। देख सफर से थक कर आया है, इसके लिए चाय बना ले।"

मैंने कहा, "भैया चाय नहीं पीते मां। सुक्खू को भेज कर अभी दूध मंगवा लेती हूं।"

भैया का अटैची और बैग मैंने ड्राइंग रूम में रख दिया। कुर्सी पर बैठ कर शचीन बाबू की फोटो को बहुत देर तक देखते रहे। हंसते हुए बोले, "बहिन, तुम्हारी और शचीन बाबू की जोड़ी बहुत अच्छी रहेगी।" बोलते बोलते उनकी आवाज़ कांप गई। मेरे मन में न जाने कितनी बातें उमड़ रही थीं? कुछ भी न बोल सकी। 'अभी आई' कह कर रसोई घर में चली आई। स्टोव जलाते जलाते फिर आंसू उमड़ पड़े।

क्या हो गया मेरे नीरज भैय्या को? न वह सांचे में ढला ढलाया रोमन योद्धाओं जैसा कसरती शरीर, न चेहरे पर रौनक। सिर के घुंघराले बाल सिलसिलेवार उड़ते हुए, बड़ी बड़ी सी आंखों की जगह मोटे शीशे की ऐनकें। हंसने के लिए भी मानों उन्हें पूरी शक्ति जुटानी पड़ती है। कोई कह भी नहीं सकता कि मेरे भैय्या बात बात पर खूब ठहाका लगा कर कभी हंस भी सकते थे? अपने सुख में मैंने कब सोचा था कि बरसती आग ने भैय्या को यूं सुखा डाला होगा? पता नहीं मेरे लिए इन्होंने क्या क्या सुना है? क्या क्या सहा है?

सुक्खू बाज़ार से दूध ले आया। स्टोव पर दूध गरम होने तक मैं रसोई में बैठी रही। अनगिनत तस्वीरें मन में बनती मिटती रहीं।

भैया ने दूध का गिलास मुझसे लेकर मेज़ पर रख दिया। मेज़ पर पड़े अखबार से उसे ढंक कर मेरी ओर देखने लगे। मैं अपने हृदय के आवेग को रोकती हुई बोली, "भैया क्या हो गया है तुम्हें?" हंसी ढूंढने की कोशिश करते हुए बोले, 'होगा क्या? अच्छा भला तो हूं। अब तुम्हारी शादी के आयोजन में खूब बढ़िया खाना मिलेगा तो और अधिक मोटा हो जाऊंगा?" कहते कहते उनकी आवाज़ फिर कांप गई। मेरे भी आंसू उमड़ आए। मैंने पूछा, "डाक्टर साहिब तो खूब मज़े में हैं न?" कहने लगे, "सर्विस छोड़ कर बिसनपुर गांव में जा कर समाज सुधार कर रहे हैं। कभी कभी पत्र मिलता है उसी से जान पाता हूं कि खूब मज़े में हैं।" मैंने हृदय में उठते आवेग को दबाते हुए कहा, "ऐसा अमूल्य जीवन क्यों नष्ट करने पर तुले हो भैया? क्यों अपनी सोने की सी काया को मिट्टी में मिलाए दे रहे हो? मैं तो तुमसे बहुत छोटी हूं। उम्र में भी और अकल में भी। फिर भी बहन होने के कारण कहे बग़ैर रहा नहीं जाता। भैया तुम अपनी ज़िन्दगी को इस अभागिन बहन की खुशी के लिए ही सजा संवार लो। तुम्हें यूं तिल तिल करके घुलते देख मेरी खुशी ही मेरे लिए बोझ हो उठेगी।"

कुछ देर चुपचाप बैठे मन ही मन कुछ सोचते रहे। स्वर को संयत करते हुये बोले, "रेणु बहन, सभी कुछ क्या व्यक्ति की अपनी सामर्थ्य में होता है? मैं तो उन में से हूं जो जीवन में उलझनों को सुलझाते सुलझाते, उलझने को ही सुलझना समझने लगते हैं।" उनके स्वर का कम्पन छिप न सका। पुनः बोले, "मुझमें, सुख दुख में अन्तर जान लेने जैसी समझ नहीं रही है। तुम जिस सुख की ओर

इंगित कर रही हो, उसे प्राप्त कर लेने पर भी मेरी मनस्थिति में विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा। जिस सुख की कामना मेरे लिये कर रही हो, वही ऐसे लोगों के लिए करो जिनके वह कुछ काम भी आ सके।" मैंने साहस जुटा कर नीरज भैया की ओर गौर से देखा। ऐनकों के पीछे से झांकती आंखों में अपने ही ढंग का प्रबल आकर्षण था। उस दृष्टि को देख लेने के बाद जीवन में हताश होने की बात भैया के बारे में मैं सोच भी नहीं सकी। मुझे यूं लगा मानों निराशा और विक्षिप्तता उस दृष्टि के सम्मुख ठहर ही नहीं सकती। उनके जीवन की सारी शक्ति उनके नेत्रों में सिमट आई थी। मुझे ग़ौर से देखते देख बोले, "क्या देख रही हो?" मैंने कहा, "देख रही थी कि मन के दुःख को आप कितनी तहों के नीचे छिपा कर रखते हैं।" कहने लगे, "कुछ पता चला क्या? "मैंने कहा, "किसी चीज़ को इतनी लापरवाही से रखने की आपकी आदत ही कब है? ढूंढते ढूंढते कोई थक जाये तब भी क्या खबर कि वह ऐसे यत्न से छिपा कर रखी वस्तु को पा ही लेगा?" मुस्कराने का प्रयत्न करते हुए बोले, "कुछ छिपा कर रखा हो तब न? जो तहों के ऊपर दिखाई देता है वही भीतर तक चला गया है। हां, जब किसी को मनचाही वस्तु नहीं मिलती तो उसे छिपा कर रखने का वहम हो जाता है। सचमुच बहन, तुम जो कुछ ढूंढना चाहती हो वह मेरे पास नहीं रहा। तुम मन का कोना-कोना छान मारोगी तब भी, जो है ही नहीं, वह कहां से मिलेगा?" कुछ रुक कर बोले, "या फिर मन की कैद में रहते-रहते उसकी सूरत इतनी बदल गई है कि उसे पहचानना मुश्किल हो गया है! मैं खुद नही पहचान पाता तुम क्या पहचान सकोगी?" मैंने कहा, "मैं तो इतना जानती हूं भैया कि दुनियां की हर समस्या का समाधान है। जब हम समस्याओं को ही अपने चारों ओर समेट कर सन्तोष प्राप्त करना चाहते हैं तभी समाधान हमसे रूठ कर दूर जा खड़े होते हैं। मैं तुम जैसी साहित्यकार

नहीं हूं अतः तुम्हें कुछ समझा नहीं सकती। जो यथार्थ दृष्टिगोचर होता है उसी की बात कहती हूं।"

उसी आकर्षणमयी दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए बोले, "जब हम समस्याओं के समाधान की बात कहते हैं तो हमारा अभिप्राय शायद उन समस्याओं को विशेष दृष्टिकोण से परखने का होता है। जिसे हम समस्या का समाधान कहते हैं वह मेरी समझ में समस्या का समझना होता है उससे अधिक कुछ नहीं होता। वेदान्ती कहता है—जो दिखाई देता है वह असत्य है क्योंकि माया है, जो दिखाई नहीं देता वही सत्य है क्योंकि वह शाश्वत ब्रह्म है।—वैज्ञानिक कहता है—जो माया है, जिसे सिरफिरा वेदान्ती मिथ्या कहता है, वही सत्य है। माया असत्य हो तो मेरे परीक्षण ही कैसे हो सकते हैं?—दोनों ही एक दूसरे को भटका हुआ समझते हैं क्योंकि दोनों ने समस्याओं को अपने-अपने ढंग से समझा है। दोनों को लाख समझाओ, किसी की नहीं सुनेंगे अपनी ही रट लगाए जाएंगे। एक उदाहरण और सुनो। एक हज़ारों रुपये कमाने वाला सेठ रिक्शा वाले से दो आने के लिए लड़ता झगड़ता है और दूसरा व्यक्ति अपने शाम के भोजन की चिन्ता छोड़ दिन भर की कमाई एक भिखारी की झोली में डाल कर सन्तुष्ट होता है। लक्ष्य दोनों का ही मानसिक शान्ति प्राप्त करना है परन्तु दोनों के शान्ति प्राप्त करने के उपाय अलग-अलग हैं क्योंकि दोनों का दृष्टिकोण अलग-अलग है। सेठ को कहो—संचित न करो। उत्तर मिलेगा—मैं क्या तुम्हारी तरह मूर्ख हूं?—इन भूदान वालों से कहो—संचित करो—तो ये भी सेठ जैसा ही उत्तर देंगे। जिसे जहां शान्ति मिलती है, उधर ही दौड़ा जा रहा है क्योंकि सभी को अपनी अक्ल बड़ी दिखाई देती है। ऐसे में तुम अपनी अक्ल मुझ पर लादोगी तब भी मुझे मानसिक सुख और शान्ति नहीं मिल सकेगी।"

मैंने कहा, "मुझे ये बातें कतई समझ में नहीं आतीं। मैं तो यही चाहती हूं कि तुम डॉक्टर सन्ध्या को जीवन साथी चुन लो तभी ये उलझनें सुलझ सकेंगी। मेरे मन की बात रख लो भैया मुझे निराश न करो!"

कहने लगे, "उलझनें सुलझेंगी नहीं, अलबत्ता उनके सुलझने का वहम हो सकता है। मैं भी पहले यही समझता था। एक बार मन में यह सोच कर दुःख हुआ था कि डॉक्टर संध्या जीवन साथी क्यों नहीं बन सकी? अब वही बात सोच कर सुख होता है क्योंकि अब समझ में यह बात आई है कि यदि विवाह हो गया होता तो वही हम लोगों का अभाग्य बन जाता। हम दोनों की सुख की परिभाषाएं अलग-अलग थीं। ईश्वर कृपा से हम दोनों ही उस मुसीबत से बच गए।"

कहने लगे, "सन्ध्या ने एक बार मेरी आर्थिक कठिनाइयों को देखकर, मेरी सहायता करनी चाही थी। मैंने सोचा कि वह सहायता ले लेने के बाद मेरा अहं जीवित ही कैसे रह सकेगा? यदि मेरा स्वात्माभिमान ही न रहा तो मेरा लेखक ही कैसे बच सकेगा? अगर लेखक ही मर गया तो वह आर्थिक सहायता मेरे किस काम आएगी? यह सोचकर मैंने उस सहायता को लेने से इन्कार कर दिया। सन्ध्या यह सोच कर दुखित हुई कि मैंने इन्कार करके उसका अपमान किया है, उसे अपने से दूर कर दिया है। मुझे यह सोच कर सन्तोष हुआ कि उस सहायता को ठुकरा कर मैंने सन्ध्या को दूर होने से बचा लिया है। यदि सहायता के बोझ से अहं पिस जाता, लेखक मर जाता तो सन्ध्या को समझने वाला रह ही कहां जाता? वही बात विवाह की है। यदि अभाग्यवश यह विवाह हो ही गया होता तो हम दोनों ही दुःख के अथाह सागर में डूब जाते। उसे जनम भर यह दुःख रहता कि मैं लगातार उसे अपने से दूर रखने की कोशिश कर रहा हूं।

मुझे यह ग़म जलाता रहता कि मेरे समीप रखने के प्रयत्न ही दूरी बनते जा रहे हैं। इसी उलझन में भटक भटक कर हम दोनों ही जान दे देते परन्तु उलझन न सुलझती।"

कुछ देर ठहर कर बोले, "सचमुच तुम जैसी बहन किसी भाग्य-शाली को ही प्राप्त होती है। तुम्हारे स्नेह का मूल्य तो मैं जन्म जन्मान्तर तक भी नहीं जुटा सकूंगा। यदि तुम्हारी किसी बात को अस्वीकार करूं तो यह न समझना कि तुम्हारे स्नेह को ठुकरा रहा हूं। रेणु बहिन, मेरी चिन्ता करना व्यर्थ है।" दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए बोले, "दुःख पहुंचता है वहां, जहां सुख होता है। मैंने तो सुख को उन्मुक्त हृदय से लुटा दिया है। सुख के कण कण को लुटा कर मैं चिन्तामुक्त हो गया हूं। जब सुख की सम्पत्ति ही निश्शेष कर दी तो अब यह दुःख मेरे पास क्या लेने आएगा? वहीं तो कोई पहुंचता है जहां से कुछ मिलने की आशा होती है? तुम मेरे बारे में चिन्ता न किया करो। सच जानो, तुम्हें सुखी देख कर ही मुझे अद्भुत सन्तोष प्राप्त होता है।"

मैं नीरज भैया की बात सुन कर अपने आंसू न रोक सकी। सिसकते हुए बोली, "यह तुम्हें क्या हो गया है भैया? तुम ऐसे क्यों हो गए हो? क्यों अपने जीवन से खिलवाड़ कर रहे हो? तुम मुझे दुखी न करो भैया, मेरा कहा मान लो। सन्ध्या को भाभी कह कर मेरे मन का सब बोझ उतर जाएगा। अपने लिए न सही, मेरे सुख के लिए ही मेरी बात मान लो।" यूं लगा जैसे नीरज भैया किसी अंधेरे कूएं में गिरे बोल रहे हों। कम्पित स्वर में बोले, "रेणु बहिन, यह तो मेरे सौभाग्य हैं कि खेल खेल में ही जीवन बीत चला। उस अन्तर्यामी की मुझ पर असीम कृपा है। अगर खेल खेलने के ऐसे सुअवसर मुझे न मिलते तो ज़िन्दगी जीना दूभर हो जाता। इन्हीं रंग

मैंने कहा, "मुझे ये बातें कतई समझ में नहीं आतीं। मैं तो यही चाहती हूं कि तुम डॉक्टर सन्ध्या को जीवन साथी चुन लो तभी ये उलझनें सुलझ सकेंगी। मेरे मन की बात रख लो भैया मुझे निराश न करो!"

कहने लगे, "उलझनें सुलझेंगी नहीं, अलबत्ता उनके सुलझने का वहम हो सकता है। मैं भी पहले यही समझता था। एक बार मन में यह सोच कर दुःख हुआ था कि डॉक्टर संध्या जीवन साथी क्यों नहीं बन सकी? अब वही बात सोच कर सुख होता है क्योंकि अब समझ में यह बात आई है कि यदि विवाह हो गया होता तो वही हम लोगों का अभाग्य बन जाता। हम दोनों की सुख की परिभाषाएं अलग-अलग थीं। ईश्वर कृपा से हम दोनों ही उस मुसीबत से बच गए।"

कहने लगे, "सन्ध्या ने एक बार मेरी आर्थिक कठिनाइयों को देखकर, मेरी सहायता करनी चाही थी। मैंने सोचा कि वह सहायता ले लेने के बाद मेरा अहं जीवित ही कैसे रह सकेगा? यदि मेरा स्वात्माभिमान ही न रहा तो मेरा लेखक ही कैसे बच सकेगा? अगर लेखक ही मर गया तो वह आर्थिक सहायता मेरे किस काम आएगी? यह सोचकर मैंने उस सहायता को लेने से इन्कार कर दिया। सन्ध्या यह सोच कर दुखित हुई कि मैंने इन्कार करके उसका अपमान किया है, उसे अपने से दूर कर दिया है। मुझे यह सोच कर सन्तोष हुआ कि उस सहायता को ठुकरा कर मैंने सन्ध्या को दूर होने से बचा लिया है। यदि सहायता के बोझ से अहं पिस जाता, लेखक मर जाता तो सन्ध्या को समझने वाला रह ही कहां जाता? वही बात विवाह की है। यदि अभाग्यवश यह विवाह हो ही गया होता तो हम दोनों ही दुःख के अथाह सागर में डूब जाते। उसे जनम भर यह दुःख रहता कि मैं लगातार उसे अपने से दूर रखने की कोशिश कर रहा हूं।

मुझे यह ग़म जलाता रहता कि मेरे समीप रखने के प्रयत्न ही दूरी बनते जा रहे हैं। इसी उलझन में भटक भटक कर हम दोनों ही जान दे देते परन्तु उलझन न सुलझती।"

कुछ देर ठहर कर बोले, "सचमुच तुम जैसी बहन किसी भाग्य-शाली को ही प्राप्त होती है। तुम्हारे स्नेह का मूल्य तो मैं जन्म जन्मान्तर तक भी नहीं जुटा सकूंगा। यदि तुम्हारी किसी बात को अस्वीकार करूं तो यह न समझना कि तुम्हारे स्नेह को ठुकरा रहा हूं। रेणु बहिन, मेरी चिन्ता करना व्यर्थ है।" दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए बोले, "दुःख पहुंचता है वहां, जहां सुख होता है। मैंने तो सुख को उन्मुक्त हृदय से लुटा दिया है। सुख के कण कण को लुटा कर मैं चिन्तामुक्त हो गया हूं। जब सुख की सम्पत्ति ही निश्शेष कर दी तो अब यह दुःख मेरे पास क्या लेने आएगा? वहीं तो कोई पहुंचता है जहां से कुछ मिलने की आशा होती है? तुम मेरे बारे में चिन्ता न किया करो। सच जानो, तुम्हें सुखी देख कर ही मुझे अद्भुत सन्तोष प्राप्त होता है।"

मैं नीरज भैया की बात सुन कर अपने आंसू न रोक सकी। सिसकते हुए बोली, "यह तुम्हें क्या हो गया है भैया? तुम ऐसे क्यों हो गए हो? क्यों अपने जीवन से खिलवाड़ कर रहे हो? तुम मुझे दुखी न करो भैया, मेरा कहा मान लो। सन्ध्या को भाभी कह कर मेरे मन का सब बोझ उतर जाएगा। अपने लिए न सही, मेरे सुख के लिए ही मेरी बात मान लो।" यूं लगा जैसे नीरज भैया किसी अंधेरे कूएं में गिरे बोल रहे हों। कम्पित स्वर में बोले, "रेणु बहिन, यह तो मेरे सौभाग्य हैं कि खेल खेल में ही जीवन बीत चला। उस अन्तर्यामी की मुझ पर असीम कृपा है। अगर खेल खेलने के ऐसे सुअवसर मुझे न मिलते तो ज़िन्दगी जीना दूभर हो जाता। इन्हीं रंग

बिरंगे खिलौनों के खेल खेलते ज़िंदगी कट गई ! सच कहता हूं रेणु बहिन अब तो इन खेलों को खेलने की फुरसत भी नहीं रह गई है। ज़िन्दगी हंस खेल कर गुज़ार दी, अब बाट रह ही कितनी गई है? वह सामने तो मंज़िल दिखाई दे रही है। अब तो मंज़िल पर पहुंच, चिर शांति की घनी छांह में आराम से सोने की चिन्ता मात्र शेष है।"

मेरे आंसू पूरे वेग से बह निकले। हिचकी बंध गई। भैया उसी स्वर में बोलते गए, "तुम न जाने मेरे इस खिलवाड़ के बीच कहां से आ उलझीं? व्यर्थ का स्नेह बढ़ा बैठीं। रेणु बहिन, मुझे तो यूं लगता है कि मुझ जैसे लोग जीवन में हर किसी को दुख देने के लिए ही आते हैं। कहा न, सुख तो मैंने कभी का उलीच उलीच कर निश्शेष कर दिया, तुम मांगती रह जाओगी फिर भी जो है ही नहीं, वह कहां से मिल पाएगा?"

शचीन बाबू एक दम कमरे में आते हुए बोले, "क्या बात है रेणु?" अचानक उनकी दृष्टि नीरज भैया की ओर उठ गई। उन्होंने नमस्कार के लिए दोनों हाथ जोड़ दिये। मैंने कहा, "नीरज भैया अभी घंटा भर पहले ही पहुंचे हैं।" हंसते हुए बोले, "वह तो मैं तुम्हारी आंखों में स्नेहाश्रु देख कर ही समझ गया था।" फिर भैया की ओर देखते हुए बोले, "सच जानिये नीरज बाबू, इन्हीं आंसुओं से ये स्त्रियां अपने जीवन की लड़ाई जीता करती हैं। आप आगए तो बहुत ही अच्छा हुआ। सुरेश आज रात की गाड़ी से आ रहा। महेश भी शायद कल पहुंच जाएगा। माता जी कह रही थीं कि आते ही दोनों भाई मुझ से भीषण युद्ध करने वाले हैं। आपके आने से अनायास ही मेरी सुरक्षा हो सकेगी।"

सुरेश बाबू अपनी पत्नी और एक बालक के साथ रात की गाड़ी से आ पहुंचे। पत्नी का नाम विजया था परन्तु वे उसे बिज्जू कह कर ही

बुलाते । हंसी मानों उनके होंठों पर धरी रहती। लड़के का नाम महेन्द्र था लेकिन सुरेश और विजया दोनों ही उसे मट्टू कह कर बुलाते । उनके आते ही ड्राइंग रूम में अच्छी खासी चहल पहल हो गई । माता जी भी वहीं पर आ बैठीं । सुरेश बाबू माता जी के पैर छूते हुए बोले, "अबे मट्टू, माता जी के पैर छू, नहीं तो कान उखाड़ दूंगा ।"

सात साल का बच्चा बिल्कुल अपने पिता पर था। बोला, "पहले ममी फिर मैं ।" सुरेश बाबू ने उसके कान में कुछ कहा तो बच्चे ने झुक कर पहले माता जी के पांव छुए, फिर शचीन बाबू के पांओं पर झुक कर 'चाचा जी नमस्ते' कहते कहते उनके पांओं में चिकोटी काट डाली । शचीन बाबू बोले, "अबे शरारती कहीं के ! पैर छूता है या चिकोटी काटता है ?" सब के सब हंस पड़े । मट्टू बोला, "चाचा जी, इंजीनियर हूं न, इसलिए ज़रा पेंच ठीक कर रहा था ।" माता जी की हंसी रुकने का नाम ही नहीं लेती थी। सुरेश बाबू, मेरी ओर देखते हुए बोले, "भाभी जी, हम तो घाटे में रहे । अगर शचीन बाबू की अकल से काम लेते तो ये बिज्जू काहे को हमारे गले पड़ती ।" विजया हंसती हुई बोली, "तो अब ही कौनसी देर हो गई है ?" सुरेश बाबू एक्टिंग करते हुए बोले, "हमें तो बस कल पुर्ज़े ठीक करना आता है । यही तो मुश्किल है कि आज तक किसी लड़की ने हमें आंख उठा कर भी नहीं देखा । हम भी इस शचीन की तरह क्या कहते हैं उसे, कविता, गीत जानते तभी तो लड़कियां हम पर मरतीं ।" विजया ठिठोली करती हुई बोली, "आए तो हैं ही, अब इन्हीं से सीख लीजिये न ?" हंसते हुए बोले, "अब तो तुम्हीं पे दिल आ गया है बेग़म इस लिए कविता सीखने का इरादा तर्क कर दिया है । वैसे तुम्हें इतराज़ न हो तो भाभी जी से सीखने की कोशिश करूंगा ।" माता जी हंसती हुई बोलीं, "तू इंजनीयरी भी ऐसी ही करता होगा ।

बातों से ही घर पूरा करना जानता है। दिखा तो क्या लाया है अपनी भाभी के लिए ?" सुरेश बाबू हंसते हुए बोले, "सभी कुछ लाया हूं, बस एक वो तार पर चढ़ने उतरने वाला बन्दर लाना भूल गया हूं, एक दो दिन में वह भी ले आऊंगा।" मट्टू बोला, "डैडी, मैं बन्दर लूंगा।" माता जी बोलीं, "तू कौनसा बन्दर से कम है रे ?" मट्टू बोला, "माता जी, ममी कहती थी कि चाचा जी जब नए कपड़े पहनेंगे तो तू उनके सात मुक्के लगाना, चाचा जी तो मुझसे तकड़े हैं न ?" शचीन बाबू बोले, "तो तेरी ममी तुझे सिखा पढ़ा कर लाई हैं।" मट्टू बोला, "ममी, डैडी से सीखती है और फिर मुझे सिखाती है। ममी जब नई साड़ी पहनती है तो डैडी ममी की पीठ पर भी मुक्के लगाते हैं।" विजया लजाती हुई बोली, "चुप करता है कि नहीं ?" शचीन बाबू हंसते हुए बोले, "तुझे खूब मिठाई खिलाऊंगा अपने डैडी और ममी की सब रिपोर्ट मुझे देना।" सुरेश बाबू हंसते हुए बोले, "अबे मट्टू, घर में रह कर जासूसी करता है।" विजया के गाल लाज के मारे लाल हो गए। माता जी और शचीन दोनों ही हंस पड़े।

शचीन बाबू नीरज भैया का परिचय देते हुए बोले, "आप हैं "त्रैलोक्य चक्रवर्ती' कन्यादान आप ही के हाथों से होगा।" नीरज भैया के चेहरे पर हंसी बिखर गई। सुरेश बाबू बोले, "साहिब, आप खुद ही अपना परिचय दे दीजिये। ये शचीन का बच्चा कभी सीधी बात नहीं बताएगा। अब यह 'त्रैलोक्य चक्रवर्ती' ज़रूर किसी किताब का नाम होगा या फिर नावल के किसी क्या कहते हैं उसे, करदार का नाम होगा। इसे बीसियों बार समझाया कि लिटरेरी ज़ुबान में इसकी पश्तो समझना अपने बस का रोग नहीं लेकिन इसे अपनी प्रोफैसरी की धाक जमाने से ही फ़ुरसत नहीं मिलती। चिट्ठी या तो लिखेगा नहीं, लिखेगा तो क्या कहते हैं उसे, पैम्फलेट लिख भेजेगा। बिज्जू से मैंने कह रखा है कि

जब भी इस नालायक की चिट्ठी आए तो मुझे उसका जिस्ट समझा दिया करे। 'माता जी बीमार हैं' लिखना हो तो क्या कहते हैं उसे शुद्ध शास्त्रीय भाषा में लिखेगा 'माता जी रुग्णावस्था में हैं।" अच्छा, इस गधे को छोड़िये, आप बताइये भाभी जी ?" मैंने कहा, "मेरे भैया हैं, नीरज भैया। लेखक हैं, साहित्यकार हैं।" सुरेश बाबू हंसते हुए बोले, "तो ये भी गए काम से। इनकी भी कोई बात हमारे पल्ले नहीं पड़ेगी। क्या कहते हैं उसे, 'ऐटमी कारखाने' को ये भी 'अणु शक्ति केन्द्र' कहते होंगे। अच्छा भई, हम पर तो नींद ने हमला बोल दिया है। सुबह बातें करेंगे।"

सब के चले जाने पर शचीन बाबू बोले, "रेणु, तुम भी आराम करो, मुझे तो नीरज बाबू से बात करने की फ़ुरसत ही नहीं मिली।" मैंने कहा, "ज़रूर मेरी निन्दा चुगली करनी होगी, तभी मुझे जाने के लिए कह रहे हैं। मैं बिल्कुल नहीं जाऊंगी।" सोचते हुए बोले, "नरेन को साथ नहीं लाए ?" मैं उठने लगी तो बोले, "तुम्हारी प्रशंसा कर रहा हूं तो तुम उठ कर चली जा रही हो।" मैं अनमनी सी वहीं बैठ गई। नीरज बाबू मुझे व्यथित देख कर बोले, "नरेन को चलने के लिए मैंने कहा था लेकिन शायद उसके अपने मन के भय ने उसे नहीं आने दिया।" शचीन बाबू चुपचाप सोचते रहे। कुछ ठहर कर बोले, "लोगों की अजीब आदत है नीरज बाबू। जो फेंकने की वस्तु है उसे ही मन में सहेज सहेज कर रखते हैं! फेंकने जैसी चीज़ों से ही जब मन ठसाठस भर जाता है तो काम की चीज़ें उसमें समा नहीं पातीं। अब बताइये तो भला, मन का भय क्या सहेज कर रखने की वस्तु है ?"

× × ×

मुझे बहुत दिन पहले की बात याद हो आई। शचीन बाबू को आगरा आए अभी महीना भर ही हुआ था। ताजमहल देखने के

बाद हम कहीं भी नहीं जा सके थे। उस दिन फतेहपुर सीकरी देखने गए थे। माता जी साथ नहीं जा पाई थीं। हम लोग इधर उधर घूमते रहे। घूमते घामते थक गए तो बीरबल के महल के पास जा बैठे।

बैठते हुए, वे बोले, "महल कितना ही शानदार क्यों न हो, उसमें मेरा दम घुटने लगता है। बचपन की धुंधली सी स्मृतियों को मैंने मन में पूर्ण यत्न से सहेज रखा है। कभी इन बड़े बड़े नगरों में घुटन महसूस होती है तो उन स्मृतियों के झरोखे को खोल कर ही थोड़ी बहुत ताज़ी हवा ले लिया करता हूं।"

× × ×

नीरज भैया ने भी मुझे एक दिन ऐसी ही बात बताई थी—भैया किसी कार्यवश देहली गए थे। अपने एक परिचित के क्वार्टर में ठहरे थे। एक कोने में उनकी चारपाई पड़ी रहती। उसी पर बैठे लिखते पढ़ते रहते, रात को उसी पर खूब आराम से सोते। एक दिन बाज़ार में उनके एक और सेठ मित्र मिल गए। लुधियाना से अपना बिज़नेस देहली उठा लाए थे। लुधियाना जैसा बिज़नैस सैन्टर उन्हें कूआं सा दिखाई देता और वे सागर के तैराक थे। एक दिन अपनी शानदार मोटर कार में बैठे भैया को अपने घर ले जाने के लिए क्वार्टर के सामने आ पहुंचे। बहुत मना करने पर भी उन्हें, ईस्ट पटेलनगर में बनाए शानदार बंगले में लेते गए। मित्र से कहते गए—नीरज बाबू दो चार दिन मेरे पास ही ठहरेंगे, आप भी कभी दर्शन दीजिएगा।—कहते कहते सेठ साहिब ने भैया के मित्र के हाथ में जेब से निकाल कर अपना एड्रेस कार्ड थमा दिया। मित्र बेचारे रेलवे में साधारण से क्लर्क थे। कार्ड लेते लेते बुरी तरह सहम गए। भैया अगले दिन सुबह ही लौट आए। आते ही अपने मित्र से बोले, "अरे विनय, इतने बड़े बंगले में यार, एक भी झरोखा नहीं है। मेरा तो वहां बुरी तरह दम

घुटने लगा था अतः जान बचा कर भाग आया। लोग न जाने कैसे इन बग़ैर झरोखों के मकानों में रह लेते हैं?" विनय ने पानी का गिलास थमाया तो बोले—तू भी सोच रहा होगा कि आज दूध के पैसे बचे। तेरी जान असानी से छोड़ने वाला नहीं हूं कल की भी कसर निकालूंगा, ज़रा जल्दी से जा कर पाव भर दूध तो ले आ?"

भैया इसी बात को घुमा फिरा कर कितनी ही बार नरेन को भी सुना चुके थे। उतने से ही सन्तोष नहीं हुआ तो उन्होंने उसी को लेकर एक कहानी लिख डाली थी।

वह कहानी मुझ से भुलाए नहीं भूलती। न जाने कितनी बार उसे पढ़ा है लेकिन उसे पढ़ने की इच्छा सदा बनी रहती है। शचीन बाबू एक दिन वही पत्रिका उठा कर पढ़ने बैठ गए। पढ़ कर बोले, "देखिये, यह कोई नीरज कहानी लेखक हैं। यूं लगता है कि विश्व की वेदना को आसुओं से धो पोंछ कर कहानियां घड़ते रहते हैं। बहुत दिनों बाद उत्कृष्ट रचना पढ़ी है।" शचीन बाबू की बात सुन कर मेरी आंखों में आंसू छलछला आए। भैया की याद हो आई। मैंने उस दिन तक शचीन बाबू को नीरज भैया के बारे में कुछ भी नहीं बताया था। मैंने कहा, "सचमुच कहानी इतनी ही अच्छी है क्या?" शचीन बाबू बोले, "अच्छी वस्तु को किसी प्रमाण पत्र की आवश्यकता होती है क्या? वह तो व्यक्ति के मन के भीतर तक खुद ही पैठती चली जाती है।" मैंने कहा, "इस कहानी के लेखक मेरे भैया हैं। कोई उनसे कहे कि आप बहुत अच्छी कहानियां लिख लेते हैं—तो उत्तर दिया करते हैं—इसमें मेरी बड़ाई कहां है? कहानियां क्या कहीं लिखी जाती हैं? ये तो बस लिख लिख जाती हैं। जो कहानियां लिख लिख जाती हों उनकी प्रशंसा का भागी मैं भला कैसे हो सकता हूं?" शचीन बाबू ने उस दिन पहली बार मुझे नाम लेकर सम्बोधित किया

था, 'रेणु, तुम बहुत दुष्ट लड़की हो । तुमने आज तक मुझ से छिपाए क्यों रखा कि तुम इतनी भाग्यशालिनी हो ? जिसका ऐसा भाई हो, वह क्या मेरे समझने की है ?' शचीन बाबू की बातें सुन कर मेरी आंखों में आंसू उमड़ आए थे । मैंने कहा था, "मैं बहुत अभाग्य-शालिनी हूं शचीन बाबू, तभी तो अपने ऐसे सुन्दर और सुयोग्य भाई से बिसर गई हूं । मैं बहुत बदनसीब हूं तभी तो मुझे ऐसे उजले दिल के भाई ने भी आज तक याद नहीं किया ।"

उसी रात अपने कमरे में लेटी मैं फिर पत्रिका उठा कर 'मकबरे' शीर्षक से लिखी भैया की कहानी पढ़ने बैठ गई थी । उन पंक्तियों पर मेरी दृष्टि कितनी ही देर तक अटकी रही थी । लिखा था—'रमेश अगले दिन ही सेठ साहिब की कोठी से लौट आया । सुधाकर के क्वार्टर के कोने में पड़ी चारपाई पर लेटा सोचता रहा—नाहक ही उधर गया । सेठ साहिब में अपने बचपन का नारायण कहीं भी तो दिखाई नहीं दिया । फिर उसके मन में खयाल आया—वह कोठी कहां थी ? वह तो बस मकबरा था, करीब के सैंकड़ों हज़ारों मकबरों में से एक ! मक़बरों में तो मुर्दा लाशें सिर्फ दफनाई जाती हैं और मैं मूर्ख वहां अपने मित्र नारायण को खोजने चला था ? चारपाई पर करवट बदलते हुए उसके मन में एक खयाल बिजल की तरह कौंध गया—क़ब्रों में झरोखे कौन बनाता है ? मुर्दों के लिए ताज़ी हवा की ज़रूरत भी क्या है ? झरोखे तो इन छोटे छोटे घरों में ही हुआ करते हैं जहां गिरते संभलते ज़िंदा इन्सान बसते हैं । खुदा का लाख लाख शुक्र है कि इन छोटे छोटे घरों में झरोखे तो हैं वर्ना ये गिरते संभलते जीते जागते इन्सान कब के क़ब्रों के मुर्दे बन गए होते ! रमेश ने चारपाई पर लेटे लेटे आवाज दी—अबे पोस्ती के बच्चे ? सुधाकर ने कहा—क्या है बे घनचक्कर । रमेश ने दिल ही दिल में सन्तोष की सांस ली क्योंकि यह मक़बरे में गूंज कर वापिस

लौटी उसकी अपनी आवाज़ नहीं थी बल्कि जीते जागते इन्सान की आवाज़ थी।"

× × ×

शचीन बाबू की बातों की ओर मेरा ध्यान लौटा तो वे कह रहे थे, "गांव में हम लोगों का छोटा सा छप्पर था। गांव के सामने फैला हुआ खूब लम्बा चौड़ा मैदान था बिल्कुल इस सामने फैले मैदान की तरह। उस मैदान में बच्चे और जवान खेला करते, लेकिन उसमें बाबर और सांगा की सेनाएं कभी नहीं लड़ी थीं। मैदान के पास ही देवी का टीला था। उस टीले पर बने मन्दिर में भजन कीर्तन होता, नर नारी आनन्द विभोर होकर झूमा करते। मैं भी अपने दादा के साथ उस मन्दिर में गया था। उस टीले पर मन्दिर की जगह इन्सानी खोपड़ियों का अम्बार लगा कर ग़ाजी बनने का ख्याल कभी किसी के मन में नहीं आया था। टीले पर हम छोटे छोटे बच्चे एक दूसरे की पीठ पर सवार होकर घोड़े का खेल खेला करते हमने कभी किसी की गर्दन धड़ से जुदा नहीं की थी। हमारे गांव के पास बांस की झाड़ी थी उसमें दिन के समय पक्षी चहचहाते और रात में झींगुर अपनी तानें छेड़ा करते। उस बंसवाड़ी में हम आंखमिचौनी के खेल खेला करते, कभी वहां गोरिल्ला फौजें नहीं आई थीं, सुहागिनें नहीं रोई थीं। हमारे गांव से कुछ दूर ही नदी बहती रहती, मछिआरे दोआड़ों की सहायता से मछलियां पकड़ा करते। दादा के साथ कितनी ही बार मैंने नदी किनारे खड़े हो कर सूर्योदय और सूर्यास्त के दृश्य देखे थे। सूर्य देवता नदी में स्नान कर, उजला मुंह लिए उदित होते और सांझ के समय नदी किनारे लगे पेड़ों के पास बैठ कर नदी के पानी में हाथ मुंह धोकर दिन भर की थकन दूर करते और रात को सोने के लिए अपने घर चले जाते! रात को बांसों की झाड़ी के पीछे से चांद उगा करता, हम अपने छप्पर के आगे बैठ कर दादा से कहानियां सुना करते। उस

नदी में कभी कटे इन्सानों की लाशें नहीं बही थीं, इन्सानी लहू से नदी का पानी कभी लाल नहीं हुआ था। हमारे गांव की चांदनी कभी नहूसत बन कर गांव के झोंपड़ों पर नहीं बरसी थी। और फिर एक दिन दादा मुझसे बिछुड़ गए, मैं गांव से बिछड़ गया।"

शचीन बाबू दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए बोले, "इतना बड़ा हो गया हूं, प्रोफैसर बन गया हूं लेकिन अब तक मुझे गांव बहुत याद आता है। छ साल का था तभी गांव छूट गया। फिर मेरे सात साल तक पहुंचते पहुंचते मेरे माता पिता मुझसे बिछड़ गए। हमारे पड़ौस में एक लड़की थी, तीन चार साल की। नाम था इन्दिरा। मैं और वह दिन भर खूब खेला करते। जब पिता जी मुझे और मां को गांव से ले आए थे तो मैं बहुत दिनों तक इन्दिरा को याद करके बहुत रोया करता। तुम्हें जब पहले दिन देखा था तो मन में हुआ था कि इन्दिरा ही इतनी बड़ी होकर मुझे ढूंढ़ती ढांढ़ती इधर आ निकली है।" अचानक कम्पित आवाज़ में बोले थे, "रेणु तुम अब मुझे छोड़ कर मत जाना।" मेरी आंखों में आंसू छलछला आए थे। मैंने कहा था, "शचीन बाबू मैं इन्दिरा नहीं हूं, मैं तो करमजली रेणुका हूं। यह आप क्या सोच रहे हैं?" अतीत की स्मृतियों में खोए हुए बोले थे, "मैं भी कोई ऐसे अच्छे भाग्य लेकर दुनिया में नहीं आया हूं। हम दोनों भाग्यहीन ही मिल कर अपने रूठे भाग्य को मना लाएंगे।" मैंने कहा था, "मेरे मन का भय ही मुझे ले डूबेगा?" उस दिन भी शचीन बाबू ने यही बात कही थी, "भय क्या मन में सहेज कर रखने जैसी वस्तु है? भय से ही मन को भर छोड़ोगी तो विश्वास को कहां रखोगी?"

× × ×

नीरज भैया की ओर देखते हुए बोले, "पहले पहल यह रेणुका भी शंका और भय को खूब सहेज सहेज कर रखा करती थी। एक दिन मैंने सोचा कि कहीं अपनी मूर्खता के कारण मन के विश्वास को खो न

बैठूं ? ऐसी अमूल्य वस्तु तो सुरक्षित स्थान पर ही रखी जा सकती थी। बहुत खोजने पर पता चला कि इस रेणुका के मन से अधिक सुरक्षित स्थान अन्यत्र दुर्लभ है। फिर एक दिन मैंने ज़ोर ज़बर्दस्ती इस सुरक्षित स्थान पर अधिकार जमा लिया, फिर शंका और भय को परे फेंक कर विश्वास को सुरक्षित स्थान पर रख दिया। तबसे मैं बिल्कुल निश्चिन्त हो गया हूं। चोर छोड़ चोर का बाप आ जाए वह भी इस सुरक्षित स्थान से मेरे धन को चुरा नहीं सकता।"

पुनः बोले, "स्त्रियों को हर चीज़ को सहेज कर रखने की आदत होती है। भय और शंका भी, इस रेणु के अपने नहीं थे। नरेन बाबू ने ही यह दौलत इसे सौंप दी थी। सोच रही थी, ज़रूरत पड़ने पर *कहीं मांग न बैठें ? बेचारी को क्या खबर कि नरेन बाबू के पास,* इस शंका और भय की इतनी अतुल सम्पत्ति है कि उन्हें इधर उधर फेंके गए सिक्कों का विचार आ ही नहीं सकता।"

कुछ देर किसी गहरी सोच में खोए रहे। दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए बोले, "नीरज बाबू, ये भय और शंका ही महाविनाश के कारण हैं। आज कल संसार भर के लोगों ने इसी अतुल राशि को समेट लिया है अतः उसी का सदुपयोग हो रहा है। एक राष्ट्र सोचता है—दूसरा राष्ट्र यदि मुझ से अधिक शक्तिशाली हो गया तो अवश्य मुझे नष्ट करेगा अतः अभी से उसे समाप्त करना चाहिये। —फिर सुरक्षा के नाम पर स्टेनगनें, ब्रेनगनें बनती हैं, टैंक और तोप बनते हैं, गैसें और बम बनते हैं। यदि एक राष्ट्र दूसरे से कह सके—लो भई, मैंने तुम्हें अपना विश्वास सौंप दिया। अब तुम जो कुछ भी करो मुझे स्वीकृत है—तब शायद इन स्टेनगनों और ब्रेनगनों की जगह भी ट्रैक्टर और ट्यूबवैल्ज़ बनने लगें, बमों के धड़ाके ब्याह शादियों के पटाखों में बदल जाएं, गैसें प्रातः कालीन समीर में परिवर्तित हो जाएं। पहले शायद मनुष्य ने भय और शंका की सम्पत्ति कुछ कम जुटाई थी अतः

उस थोड़ी सी धन राशि से या तो पानीपत और फतेहपुर सीकरी के मैदान खरीदे जा सकते थे या फिर देहली, आगरा और चित्तौड़ के किले बनाए जा सकते थे। अब इस सम्पत्ति की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ साथ क्योंकि व्यक्तियों, और राष्ट्रों का लिविंग स्टैण्डर्ड कुछ ऊंचा हो गया है इसलिए पानीपत और सीकरी के मैदान छोटे पड़ने लगे हैं। आज के सम्पत्तिशाली राष्ट्र और व्यक्ति इन पानीपत और सीकरी की सीमाएं विश्व के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक फैलाने के लिए कटिबद्ध हैं। छोटे मोटे किलों में क्योंकि ये अक्षौहिणी सेनाएं समा नहीं पातीं अतः अब निपुण सेनापति और सामर्थ्यशाली राजा, देशों के देश किलों की शकल में बदल रहे हैं। कहीं कोरिया का किला तो कहीं तिब्बत का किला, कहीं हंगरी का किला तो कहीं कांगो का किला। मुझे तो यूं लगता है नीरज बाबू कि इस धरती पर अब या तो किले रह गए हैं या मैदान रह गए हैं। छोटे छोटे झोंपड़ों के लिए; जिनके चूल्हों पर चावल पका करते हैं, जिनके सामने बैठकर दादा कहानियां सुनाया करते हैं, जिनके साथ लगी बांसों की झाड़ी के पीछे से चांद उगा करता है, जिनके किनारे बहती नदिया के पानी में नहा कर सूर्य देवता दिन के सफर के लिए निकला करते हैं और रात को हाथ मुंह धोकर आराम किया करते हैं, जिनके झरोखों से चंदा और सूरज अपनी किरनें नन्हें मुन्हें बच्चों पर बरसाया करते हैं, जिन झोंपड़ों में माएं लोरियां और बहुएं सुहाग गीत गाया करती हैं; कहीं बालिश्त भर भी जगह नहीं रह गई है।

ये पानीपत, सीकरी और पलासी के मैदान सरकते सरकते हर झोंपड़ी के अन्दर तक आ पहुंचे हैं, ये किले फैलते फैलते हर देवी के टीले को अपने में निगल गए हैं, ये ज़हरीली गैसें हर दिल में उतर गई हैं और ये बमों की गड़गड़ाहटें हर मां की लोरी को, हर सुहाग गीत को निगल गई हैं। इस भय और शंका के सिक्के ने यकीन और

मुहब्बत के सिक्कों का इस धरती से ही सफाया कर दिया है। और अभी इन महान राष्ट्रों की, प्रतिभा सम्पन्न कूटनीतिज्ञों की, दूरदर्शी राजनीतिज्ञों की लिविंग स्टैण्डर्ड ऊंचा करने की हवस मरी नहीं है, यह तो दिनों दिन बढ़ती जा रही ही। ज्यों ज्यों भय और शंका की दौलत बढ़ती है त्यों त्यों यह हवस जवान होती है। इस लिविंग स्टैण्डर्ड को ऊंचा उठाने के लिए, इन किलों को मज़बूत करने के लिए और इन मैदानों को वसीह करने के लिए इस बार एटम और हाइड्रोजन, रॉकेट और मिज़ाइल, बैक्टीरिओलोजिकल शैल्स और हेलीकोप्टर इन सभी साइन्स की उपलब्धियों का सदुपयोग करने की तैयारियां हो रही हैं। बस इस सदुपयोग के होने की देर है, हमें अपने अध्यापन कार्य से छुट्टी मिल जाएगी और आपको अपने लेखन कार्य से। बस, फिर निश्चिन्त होकर उस प्रलय के किनारे किसी ऊंचे से पेड़ पर बैठ कर मनु की तरह चैन की वंसी बजाने का कार्य ही शेष रह जाएगा। न इतिहास रहेगा और न इतिहास के प्रोफेसर। न पाठक रहेंगे और न लेखक। न लिविंग रहेगी और न लिविंग स्टैण्डर्ड। बस चारों ओर फैले हुए ये मैदान, आसमानों को छूने वाले ये मज़बूत किले रात की खामोशी में ज़िन्दगी की धड़कनों को सुनने के लिए तरसा करेंगे और अपने मेहमारों की अक्ल को याद करके उदास सी चांदनी में सिसका करेंगे। इतिहास और साहित्य की पुस्तकों के पन्ने बवंडरों में पत्तों की तरह उड़ते हुए इन्सानी तरक्की की ऐश्वर्य पताका फहराया करेंगे।"

नीरज भैया की आंखों में, शचीन बाबू की बातें सुनते सुनते आंसू छलछला आए थे। भैया अपने आंसुओं को पलकों में समेटने का प्रयत्न कर रहे थे। मैं भैया को एकटक देखे जा रही थी। उनके मन में न जाने कैसी गहरी उथल पुथल मच गई थी जिस की छाया निरन्तर उनके चेहरे पर फैलती जा रही थी। शचीन बाबू जब कभी बोलते तो

लगातार बोलते चले जाने की उनकी आदत थी। उनकी इस आदत को मैं जान गई थी। यूं लगता कि उनके दिल से शब्दों का समुन्दर उमड़ पड़ा हो और ऊंची ऊंची लहरें आसमान को छूने की कोशिश कर रही हों।

खोए हुए से स्वर में बोले, "रेणु ने आपको अशुभ विवाह में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया था न? सचमुच वह बात बिल्कुल ठीक है। मैं और आपकी बहिन दोनों ही बहुत अभाग्यशाली हैं। ऐसी बुरी घड़ी में हमारा विवाहोत्सव हो रहा है जब लोगों के पास विश्वास और प्रेम के सिक्के फेंकने की कतई गुञ्जाइश नहीं रही है। ले दे के जो थोड़ा बहुत हमने जुटाया है उसी से जैसे तैसे यह अशुभ विवाह सम्पूर्ण हो रहा है। नरेन आता भी तो कुछ विशेष लाभ न होता क्योंकि जिस वस्तु की हमें आवश्यकता थी उसका तो उसके पास भी नितान्त अभाव है। बेचारे को व्यर्थ में लज्जित होना पड़ता। मुझे उसके प्रति कोई भी गिला शिकवा नहीं है।"

पुनः कांपती सी आवाज़ में बोले, "मैं जन्म से ही अभाग्यशाली हूं। अपने स्वार्थ के लिए ही मैंने आपकी बहिन को अपने अभाग्य में हिस्सेदार बना लिया है। सुख, सन्तोष, प्रेम और स्नेह के नाम पर मैं आपकी बहिन को कुछ भी नहीं दे सकूंगा। इनकी जगह दुःख, दरिद्रता, कटुता और अभाव को सजा संवार कर ही इसे सन्तोष करना होगा। यदि किसी दिन आपकी बहन असीम कष्टों को देख कर घबरा उठे तो मेरे अभाग्य को जानते हुए मुझे क्षमा कर दीजिएगा। इसने आप को लिखा था—'मुझे अग्राह्य, अपवित्र, अश्रेष्ठ समझ कर जिस दिन अस्वीकार कर देंगे तो वह भी स्वीकार कर लूंगी। नालिश करने नहीं बैठूंगी।'—अग्राह्य और अपवित्र को त्यागने की मुझमें सामर्थ्य नहीं है क्योंकि जिस बल और सामर्थ्य के आधार पर अग्राह्य और अपवित्र को अस्वीकार करके, ग्राह्य और पवित्र की खोज में निकला

जाता है वह बल और सामर्थ्य मेरे पास नहीं है। मुझे तो जीवन भर इस अग्राह्य और अपवित्र को ही ग्राह्य और पवित्र मान कर सन्तोष लाभ करना है। अगर किसी दिन इस घर के दुःख दारिद्रय और कष्टों से घबरा कर यह जाना चाहेगी तब भी इसे अपने स्वार्थ के लिए ही मैं जाने नहीं दूंगा, इसी कैद में अब इस बेचारी के रो धो कर दिन कटेंगे।"

नीरज भैया दिल के उमड़ते तूफान को रोकने का प्रयत्न करते हुए बोले, "शचीन बाबू, बड़े सौभाग्य से मुझे यह बहन मिली थी। दुःख दारिद्रय तो मेरे घर में था तभी मैं इसे अपने पास चार दिन भी रख न सका। आप जिस दुःख दारिद्रय की अतुल राशि इसे सौंप रहे हैं उसे त्यागने की यह सोचे, ऐसी मन्द बुद्धि नहीं है। भगवान से यही प्रार्थना है कि जैसा दुःख दारिद्रय मेरी बहन को मिल रहा है वह सभी बहनों को मिल सके ताकि इन गिरते संभलते लोगों की झोंपड़ियों के झरोखों से प्रकाश किरणें और ताज़ी हवा के झोंके अन्दर आ सकें ज़िन्दगी बनती रहे, संवरती रहे, फूलती रहे, फलती रहे, बहती रहे, विश्वास और प्रेम के पानी से भय और शंका को, लोभ और स्वार्थ को, घृणा और ईर्षा को युगों युगों तक बहाती रहे। इस दुःख दारिद्रय को समेट कर ही मेरी बहिन सशक्त बनेगी, बमों की गड़-गड़ाहट में भी लोरियों को मरने नहीं देगी, फैलते मैदानों को इन झोंपड़ियों से दूर, बहुत दूर रोकने की कोशिश आपके कन्धे से कन्धा मिला कर करती रहेगी। मैं नहीं जानता आप इसे कहां तक समझ गए हैं? मेरी इस बात को ज़रूरत पड़ने पर याद कीजिएगा कि मेरी बहिन, मेरी बहन है। गिर कर संभलना जानती है, हिम्मत और साहस इसके पास खूब है। अच्छी, बुरी जैसी भी है, मुझे इससे बहुत स्नेह है। कभी कोई गलती कर बैठे तो उसके लिए मुझे ही दोषी ठहराने की कृपा कीजियेगा।"

मैं उस कमरे में रुक न सकी। इतना स्नेह, इतना प्रेम मुझे आज तक कहां मिला था ? आज जो कुछ मिल गया था वही युगों युगों के लिए बहुत था। शचीन बाबू के रोकते रोकते भी मैं कमरे से दौड़ आई। अपने कमरे में पहुंचते ही चारपाई पर गिर पड़ी। बहुत देर से अटके हर्ष और आनन्द के आंसू छल छल करते बह निकले।

अगली सुबह जब आंख खुली तो माता जी मुझे जगाती हुई कह रही थीं, "अरे, ऐसे भी सोया जाता है क्या ? जल्दी से उठ बैठ। महेश आने वाला होगा। घर भर के खान पान की व्यवस्था नहीं करनी है क्या ?"

महेश बाबू बम्बईमेल से आ पहुंचे। सुरेश बाबू, विजया और शचीन बाबू उन्हें आगरा कैन्ट स्टेशन से लिवा लाए। सुरेश बाबू जितने बातूनी थे, महेश बाबू उतने ही चुप रहने वाले। हां, उनकी पत्नी लक्ष्मी बातों में सबके कान काटती थीं। उनके दो लड़कियां थीं, लता और रंजना। देखते ही देखते मट्टू, लता और रंजना की फौज माता जी के कमरे में धमा चौकड़ी मचाने लगी। माता जी के पूजागृह की सभी व्यवस्था गड़बड़ा गई। माता जी बोलीं, "अरी बहू, इन बच्चों को संभालो, देखो इन्होंने मेरे पूजा-गृह को डांसिंग क्लब बना रखा है। बन्दर कहीं के।" मट्टू बोला, "माता जी हम बन्दर थोड़े ही हैं। तार वाला बन्दर तो डैडी बाज़ार से लाएंगे।" "रंजना बोली, अम बी ताल वाला बन्दल लेंगे।" लक्ष्मी लता के कान खेंचती हुई बोली, "हटती है या नहीं ?" मट्टू बोला, "मैं डैडी से कह कर तुम्हारे भी कान खिंचवाऊंगा।" माता जी बच्चों की उछल कूद को देख कर मन ही मन खूब प्रसन्न हो रही थीं। कहने लगीं, "जाने दे बहू। बच्चे खेलते कूदते ही अच्छे लगते हैं।" लक्ष्मी बोली, "माता जी ये आपकी सब चीज़ें तोड़ फोड़ डालेंगे।"

मट्टू बोला, "हम कोई बन्दर हैं ?" लक्ष्मी ने मट्टू को उठा उसका मुंह चूम लिया ।

सात आठ दिन घर में खूब चहल पहल रही । जिधर देखो आनन्द ही आनन्द छाया हुआ प्रतीत होता । अशुभ विवाह जैसे तैसे समाप्त हुआ । माता जी के बार बार मना करने पर भी सुरेश बाबू उन्हें अपने साथ ही जमशेदपुर लेते गए । शचीन बाबू के बार बार कहने पर भी भैया नहीं रुके । किसी कान्फ्रेंस में पहुंचने की बात कह कर, विवाह के दूसरे दिन ही चले गए । जाते हुए बोले, "रेणु बहिन, मैं अपने अनुभव से जान पाया हूं कि सुख दुःख दोनों ही अस्तित्व-हीन हैं । हम अपने दृष्टिकोणों में उलझे ही किसी को सुख और किसी को दुःख समझ कर हंसते रोते रहते हैं । सच कहता हूं, मैं जैसा भी हूं, अपने जीवन से पूर्णतया संतुष्ट हूं । दूसरे लोगों के सुख से जब मेरे सुख का मेल नहीं बैठ पाता तो वे अपने विशेष दृष्टिकोणों में उलझे मुझे दुखित समझने की भूल कर बैठते हैं । तुम मेरी बात का विश्वास करना, तुम्हें मेरी कसम है, मुझ अच्छे भले को दुखित समझ कर अपने सुख के अनमोल क्षणों को नष्ट न करना ।"

मेरी आंखों में आंसू छलछला आए । बोलते बोलते मेरी आवाज़ भर आई । मैंने कहा, "इतने कठोर हृदय क्यों हो गए हो भैया ? मैं क्या इतनी ही बुरी हूं कि मुझे जीवन भर ही तुम क्षमा न कर सको ? मैं जब कभी तुम्हें याद करूं तुम्हें मेरी खोज खबर लेने आना ही होगा । तुम्हारी बातें सुन कर न जाने क्यों मेरा मन कहता है कि तुम मुझे हमेशा के लिए ही बिसरा कर जा रहे हो ।" कम्पित आवाज़ में बोले, "इस जीवन में मिलना बिछड़ना भी व्यक्ति की अपनी सामर्थ्य की बात नहीं है । मुझे जीवन में मिलने की जगह बिछड़ना ही मिला है । यह बिछड़ना ही मिलना बन सके इसके लिए प्रयत्न करूंगा । मन में कभी कभी विचार उठा करता कि कहीं तुम उलझनों में भटक

भटक कर ही न गिर पड़ो, शचीन बाबू को तुम्हारे साथ देख कर वह भय जाता रहा है। अब मैं जीवन में सम्पूर्ण रूप से निश्चिन्त हो कर सुखमय जीवन व्यतीत कर सकूंगा।" मैंने पैर छूते हुए कहा था, "जाने से पहले मुझे क्षमा करते जाइये।" कम्पित आवाज़ में बोले थे, "ऐसा तुमने कुछ भी नहीं किया है बहन जिसके लिए क्षमा मांगनी पड़े। ऐसा कह कर अपने आप को छोटा न बनाओ। तुम जैसी पवित्र बहिन पाकर मेरे बहुत से पाप अनायास ही धुल गए हैं, मेरे अहोभाग्य !"

शचीन बाबू कॉलिज चले गए थे। सुक्खू बाहर बरामदे में बैठा रामायण की चौपाई गा रहा था। ड्राइंग रूम में बैठी सोचती रही, इस संसार का चक्कर बहुत विचित्र है। ये विधाता आकस्मात् ही सुख की अतुल सम्पत्ति कहां से झोली में भर देते हैं ? ये सुरेश बाबू, महेश बाबू, विजया, लक्ष्मी, मट्टू, रंजना, लता; कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि इतना बड़ा परिवार मुझे मिलेगा ? मैं तो माता-पिता द्वारा, बन्धु बान्धवों द्वारा, सभी द्वारा परित्यक्ता थी। विधाता ने मुझ परित्यक्ता के लिए कहां छिपा रखी थी इतनी सुख राशि ?

नीरज भैया 'शरत् बाबू' की बात अक्सर दोहराया करते हैं, वही मस्तिष्क में उभर आई, "संसार में अपने पराये का जो व्यवहार चल रहा है, वह सर्वथा अर्थहीन है। दुनिया में अपना पराया कोई नहीं। यह कोई नहीं जानता कि इस संसार सागर के बहाव में पड़ कर कौन कहां से बहता हुआ पास आ जाता है और कौन बह कर दूर चला जाता है ?"

कभी सोचा भी कि था शचीन बाबू इस संसार सागर में मुझ डूबती उतराती को यूं बचा लेंगे, इतने ऊँचे आसन पर ला बैठाएंगे ?

कालिज से लौटते हुए बाज़ार का बाज़ार खरीद लाए। साड़ियां, ब्लाउज़ का कपड़ा, ढेर सा साज सिंगार का सामान। मैंने हंसते हुए कहा, "तनख्वाह मिलते ही मुझे दे दिया कीजिए। इस रफ्तार से खर्च होगा तो महीने में पन्द्रह दिन भूखे रहना पड़ेगा।" ठहाका लगाते हुए बोले, "अच्छी तरह जानता हूं अपने अधिकार के लिए तुम खूब चौकस हो। जब तक तुम अपना अधिकार मुझ से छीन नहीं लेतीं तब तक उस का खूब सदुपयोग कर डालना चाहता हूं।" मैंने कहा, "शादी होते ही लगे ताने उलाहने देने। सभी मर्द ऐसे ही होते हैं।" बोलते बोलते मुझे यूं लगा मानों किसी ने मेरे मुंह पर गुलाल मल दिया हो। कहने लगे, "वैसे मैं बहुत दब्बू हूं। छोटेपन में सुरेश मुझ पर हमेशा ही रोब जमाया करता था। तुम्हारी सामर्थ्य-हीनता से ही मुझे अपने शौर्य प्रदर्शन का लोभ हो आया है।" बोलते बोलते गम्भीर हो गए। कहने लगे, "रेणु, तुम अपनी इसी सामर्थ्यहीनता से ही मुझे बांधे रखना। इन अधिकारों के चक्कर में पड़ कर स्त्रियां अपने रहे सहे अधिकार भी गंवा बैठी हैं। इस सामर्थ्यहीनता का प्रयोग करना अपने देश की स्त्रियां भूल गई हैं तभी यह अभाग्य शुरु हुआ है। इस सामर्थ्य हीनता में ही इतनी सामर्थ्य है कि बिन मांगे सभी अधिकार स्त्रियों की झोली में आ गिरते हैं। पश्चिम की अनोखी हवा ने इस अद्भुत सामर्थ्यहीनता में से प्राण निकाल कर इसे कंकाल मात्र रहने दिया है, तभी यह रस्साकशी शुरु हुई है।" अपने उसी बहाव में बोलते गए, "इस रस्साकशी के खेल के लिए दो पक्षों का होना अनिवार्य है। अन्त में एक न एक पक्ष को हारना ही होता है। कोई भी पक्ष हारे, उससे मानव प्रगति रुक जाती है। मैं कभी कभी सोचता हूं कि क्यों न ऐसा खेल खेला जाय जिसमें खेल का आनन्द भी हो और किसी पक्ष के हारने की नौबत भी न आए। दूसरे की पराजय के मूल्य पर,

विजय का आनन्दोल्लास मुझे अच्छा नहीं लगता। पुरुष वर्ग ने ग़लती की है अतः ठोकरें भी उसे खूब लगी हैं। नारी वर्ग उसी ग़लती को दोहराएगा तो ठोकरों में वृद्धि के अतिरिक्त अन्य किसी विशेष अधिकार की उपलब्धि नहीं होगी। आवश्यकता इसी बात की है कि नारी अपने अथक प्रयत्नों से इन ठोकरों की कहानी को समाप्त कर दे ताकि उसे वह सब कुछ अनायास ही प्राप्त हो सके जिसकी खोज में वह सैंकड़ों वर्षों से भटक रही है।"

ड्राइंग रूम में बैठे किसी मैगज़ीन के पन्नों में खोए हुए थे। रेडियो पर कोई सस्ता सा फिल्मी गीत प्रसरित हो रहा था। मैंने चुपके से जा कर रेडियो बन्द कर दिया। मैगज़ीन से आंखें उठाते हुए बोले, "अपने विवाह पर कोई विशेष संगीत कार्यक्रम नहीं हुआ न, उसी की कमी को पूरा कर रहा था।" मैंने कहा, "कमी को पूरा करना ही है तो किसी सलीके से कीजिए न ? रेडियो के इस रेकार्ड से कमी पूरी कहां होगी ?" "कहने लगे, "तो फिर, सिनेमा चलने का इरादा है क्या ?" मैंने कहा, "टालिए नहीं, कोई बढ़िया सा गीत सुना दीजिये।" हंसते हुए बोले, "मुझे बढ़िया कहां आता है ?" मैंने ठिठोली करते हुए कहा, "ना बाबा, तुम्हें कहां आता है ? वह तो मुझे ही ग़लती लगी है। एक दिन एक आदमी मुझसे कहने लगा—'रबि बाबू' का नया गीत सीखा है, सुनोगी रेणु ? मैंने सोचा, जान न पहचान और चला है मुझे गीत सुनाने। लेकिन था वह भी एक नम्बर का ढीठ। उसने सुना कर ही दम लिया। उसी की कर्णकटु स्वर लहरी अभी तक कानों में गूंज रही है।" गम्भीर मुद्रा बनाते हुए बोले, "वह तो एक नम्बर का ढीठ था लेकिन मुझे एक लड़की मिली थी। सच कहता हूं, एक नम्बर की दुष्ट थी।" बोलते बोलते उनकी हंसी बिखर पड़ी।

उन्होंने अपनी आत्मा में डूब कर गीत गाया। मैं आत्मविभोर

होकर सुनती रही। गीत की पंक्तियां मेरे मस्तिष्क में गूंजती रहीं—
"प्रखर रविर तापे ना हय शुष्क गगन कांपे—ना हय दग्ध बालू तप्त आंचले दिक चारि दिक ढाकि···मधुर सुरे बाजबे तोर डाकि··· ।"

मैं सोचती रही, सचमुच मुझे कुछ भी भय नहीं है। भले ही प्रचण्ड सूर्य की बरसती आग से यह सूना आसमान कांपता रहे, भले ही इस बरसती आग में दहकती रेत का आंचल चारों दिशाओं को अपने में समेट ले, मुझे भय नहीं है।

मैं अपने प्रियतम का हाथ थामे इसी बरसती आग में से होती हुई, इसी दहकती रेत के कोसों दूर तक फैले हुए रेगिस्तानी टीलों को पार करती हुई, मंज़िलों की ओर बढ़ती रहूंगी। अपने जीवन साथी के दिल की बांसुरी पर विश्वास की तानें सुनते हुए, मंज़िलों की ओर कदम बढ़ाते हुए यही बरसती आग मेरे लिए सावन की घटा बन कर बरसेगी। ये दहकते रेगिस्तानों के टीले ही मेरे लिए छायादार वृक्ष बन जाएंगे।

मुझे सोच में डूबा हुआ देख बोले, "क्या सोच रही हो रेणु?" मैंने उनके पाओं पर सिर रखते हुए कहा, "मैं बहुत मूर्खा हूं, बहुत सामर्थ्यहीन हूं, तुम मुझ पर अपनी कृपा वृष्टि करते रहना, मुझसे कभी भी इन बांसुरी की तानों को मत छीनना, कभी मत छीनना।"

मुझे उठाते हुए, कंपित आवाज़ में बोले, "रेणु, यह तानें मेरी अपनी कहां हैं? तुम्हारे मन का मधुर संगीत ही मेरे मन में फूट पड़ा है। इस संगीत को तुम्हारे हृदय से छीन लूंगा तो खुद ही कंगाल हो जाऊंगा। कभी ऐसी मूर्खता करने लगूं तो तुम ही मुझे बचा लेना। इस हृदय संगीत की देख भाल का बोझ तुम पर डाल अब मैं निश्चिन्त हुआ। मैं जानता हूं मुझे तुम कभी भी राह से भटकने

नहीं दोगी, हम चलते जाएंगे, निरन्तर चलते जाएंगे क्योंकि यह अद्‌भुत यात्रा इतनी जल्दी समाप्त होने वाली नहीं है।"

भैया, सुरेश बाबू और विजया के आग्रह पर इन्होंने शादी से एक दिन पहले 'रवि बाबू' का जो गीत सुनाया था, उसी की पंक्तियां याद हो आईं, "परेर द्वारे फिरे शेषे—आसे पथिक आपन देशे, —बाहिर भुवन धूरे मेले, अन्तरेर ठाकुर—अनेक कालेर यात्रा आमार, अनेक दूरेर पथे··· ।"

॥ इति शुभम् ॥